# सूत्र संवेदना-२

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित
चैत्यवंदन के सूत्रो

# सूत्र संवेदना-२

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

आवश्यक क्रिया के सूत्र

**भाग-२ चैत्यवंदन के सूत्र**

(सूत्र संवेदना-२ की संस्कारित हिन्दी आवृत्ति)


: संशोधन-संकलन एवं सविस्तार संपादन :

प्रशांतमूर्ती परम पूज्य साध्वीजी श्री **चरणश्रीजी** महाराज की सुशिष्या

परम पूज्य विदुषी साध्वीजी श्री **चन्द्राननाश्रीजी** महाराज की सुशिष्या

साध्वीजी श्री **प्रशमिताश्रीजी**



**- प्रकाशक -**

**सन्मार्ग प्रकाशन**

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदावाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

# सूत्र संवेदना-२

**: प्रकाशक :**

## सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९

**साहित्य सेवा** : रु. १२०

**प्रथम आवृत्ति** : वि.सं. २०६८, ई. सन-२०१२ अहमदाबाद

### ○ संपर्क स्थान - प्राप्ति स्थान ○

❖ **श्री अशोक अरविंद विक्रम मेहता**
पूनम फाइनेन्स
१६४, 'बी' स्ट्रीट, ६ क्रॉस,
गांधीनगर, बेंगलोर-५६०००९
(M) 9845452000/9845065000

❖ **श्री शांतिलालजी गोलच्छा**
श्री विचक्षण जैन तत्वज्ञान केन्द्र
श्री धर्मनाथ जैन मंदिर
नं. ८५, अम्मन कोइल स्ट्रीट
चैन्नई-६०००७९
फोन : (R) 044/25207875
(M) 9444025233

❖ **श्रीमती आरतीबेन हेमन्तभाई जैन**
३, जानकीनगर एवसटेन्शन
राम मंदिर के पास, इन्दौर
फोन : (R) 0731/2401779
(M) 9301337025

❖ **अहमदावाद :**
- सन्मार्ग प्रकाशन कार्यालय

❖ **सरलाबेन किरणभाई**
"ऋषिकिरण"
१२, प्रकृतिकुंज सोसायटी.
आंबावाडी, अहमदावाद-१५.
फोन : (R) 079-26620920
(M) 9825007226

❖ **साकेरचंदभाई मोतीचंदभाई झवेरी**
सी.व्यू एपार्टमेन्ट, ७मे मा,
डुंगरसी रोड, वाल्केश्वर, मुंबई-६.
फोन : (R) 23676379
(M) 98200811124

❖ **श्री खेमचन्द दयालजी**
रथाकार मंदीर, मणीलाल,
२, केस्टेलीनो रोड, पूणे.

❖ **श्री शैलैन्द्र सकलेचा**
वर्धमान ट्रेडर्स, जैन मंदिर के पीछे, सदर बजार,
रायपुर४४२००१फोन): 0७७१-४२४०२२३३

जिनसे पाया उन्हीं के करकमलों में....

# ...आभार...

## *सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा आयोजित*

## सूत्र संवेदना-२

## पुस्तक प्रकाशन का लाभ लेनेवाला परिवार

कु. पूजा. महावीरभाई ओसवाल

की उपधान

तपश्चर्या की अनुमोदनार्थे

मरुधर में **'गढ सिवाणा'** निवासी

**श्री तिलोकचन्द्र रमेशचन्द्र ओसवाल परिवार**

बिजापुर-जोधपुर-शोलापुर-बन्गलूर

आपकी श्रुत भक्ति की हम हार्दिक अनुमोदना करते हैं।
भविष्य में भी आप ऐसी उच्चस्तर श्रुत भक्ति कर स्व-पर के ज्ञानावरणीय कर्मों की निर्जरा करें !
यही शुभेच्छा ।

**सन्मार्ग प्रकाशन**

# सूत्र संवेदना संबंधी

स्वर्गस्थ गच्छाधिपति पूज्यपाद

**आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म.सा. का अभिप्राय**

नारायणधाम, वि.सं. २०५६, पो.व. ४

*विनयादिगुणयुक्त सा. श्री प्रशमिताश्रीजी योग,*

***जिज्ञा** से प्रत्यक्ष में पहले बात हुई, उसके बाद उसने 'सूत्र संवेदना' का प्रुफ पढ़ने के लिए भेजा। उसे विहार में पूरा पढ़ लिया। सच कहता हूँ - पढ़ने से मेरी आत्मा को तो अवश्य खूब आनंद हुआ। ऐसा आनंद एवं उस वक्त हुई संवेदनाएँ अगर स्थिर बनें, क्रिया के समय सतत उपस्थित रहें तो क्रिया-अनुष्ठान भावानुष्ठान बने बिना न रहे। निश्चित रूप से बहुत सुंदर पुरुषार्थ किया है। ऐसी संवेदना पाँचों प्रतिक्रमणों में उपयोगी सभी ही सूत्रों की तैयार हो तो योग्य जीवों के लिए जरूर खूब लाभदायक बनेगी। मैंने **जिज्ञा** को प्रेरणा दी है, लेकिन इसके मूल में आप हो इसलिए आपको भी बताता हूँ। मेरी दृष्टि में यह सूत्र-संवेदना प्रत्येक साधु, साध्विओं - खास करके नए साधु-साध्विओं को विशेष पढ़नी चाहिए।*

*रत्नत्रयी की आराधना में अविरत लगे रहो, यही शुभाभिलाषा।*

लि.

**हेमभूषण सू. की अनुवंदना**

# अनुवादक की अंतःकामना

स्वबद्ध होना ही परमार्थ को पाने का पहला कदम है और इसके लिए आवश्यक है आवश्यक-क्रिया के सूत्रों का समीचीन ज्ञान और भावार्थ की संवेदना। जब तक ये दोनों पूर्ण रूपेण समझ में नहीं आते, तब तक परिणति की संभावना नगण्य ही रहती है।

**परम श्रद्धेय सा. श्री प्रशमिताश्रीजी** ने आवश्यक क्रिया एवं चैत्यवंदन के सूत्रों का इतना मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है कि पाठक को लगता है कि पढ़ते समय उसे वैसा स्पंदन हो रहा है। यही इस पुस्तक की विशेषता है। पंद्रह सूत्रों के माध्यम से, जिसमें कुछेक श्रेष्ठ सूत्र स्पर्शित हुए हैं जैसे - नमोऽत्थुणं सूत्र, उवसग्गहरं सूत्र, जयवीयराय सूत्र, अरिहंतचेइयाणं सूत्र, पुक्खवरदी, सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्रादि के माध्यम से पूज्यश्री ने साधक की साधनापूर्ण मनोस्थिति की अनिवार्यता का विवरण किया है ।

एक अनुवादक के लिए इससे बड़ी खुशी क्या हो सकती है कि विषय धर्म का हो, भाषांतर करने की आज्ञा गुरु भगवंतों की हो एवं हेतु धर्म प्रभावना का हो । बहुत ही खुशकिस्मत होता है वो श्रावक जिसे ये उत्तरदायित्व मिलता है। इस दायित्व को निभाने में साथ दिया है श्रीमती **अजिता मेहता** एवं श्री **शैलेषजी मेहता** ने । उनको हार्दिक धन्यवाद ।

पू. गुरुवर्या श्री प्रशमिताश्रीजी के चरण कमलों में अंतस्तल से वंदन कि उन्होंने ये जिम्मेवारी मुझे सौंपी। उन्हें शत-शत वंदन एवं साथ में पू.सा.श्री **जिनप्रज्ञाश्रीजी** को भी जिन्होंने कार्य की प्रगति का स्नेहयुक्त सर्वांगी ध्यान रखा। वंदन स्व. गुरुवर्या श्री **हेमप्रभाश्रीजी** एवं सा. श्री **विनीतप्रज्ञाश्रीजी** को भी जो इस अपूर्व सान्निध्य का निमित्त बनीं।

गुरु भगवंतों का वात्सल्य बना रहे और हम शासन प्रभावना के हेतु बने रहे, यही मंगल कामना ।

१०, मंडपम रोड, किलपॉक,
चेन्नई - ६०००१०.
२०६८ श्रावण सुद-१५

**- डॉ. ज्ञान जैन**
B.Tech.,M.A.,Ph.D.

# प्रास्ताविक

## साधनापथ का एक महत्त्वपूर्ण सोपान

सूत्र संवेदना की यात्रा आगे बढ़ रही है । संवेदन अर्थात् भाव। जैन धर्म में भावपूर्वक क्रिया का बहुत महत्त्व है। भाव तो क्रिया का प्राण है। जीवनभर हम कितनी ही क्रियाएँ करते हैं; परन्तु उनका फल हमें नहीं मिलता कारण यह है कि, हमारी सभी क्रियाएँ भाव से भरी नहीं होती।

पू. विदुषी साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी ने संवेदन की बात पकड़कर धर्म क्रियाओं के हार्द को स्पर्श किया एवं उन्होंने सूत्रों को संवेदना से तरंगित कर दिया। अर्थ बिना संवेदन नहीं, ये बात उन्होंने बराबर पकड़ ली। उनके पास आने वाले विशाल श्राविका समुदाय के साथ की बातचीत या धर्मचर्चा में से उन्हें लगा कि धर्म सूत्रों का रटन या उनकी अनुषंगिक क्रियाएँ तो बहनें बहुत करती हैं; परन्तु ज्यादात्तर बहनें, कितने ही श्रावक भी, अर्थ से अज्ञात होने के कारण सूत्र बोलने के साथ-साथ ही भाव की अनुभूति नहीं कर पाते। ऐसे साधक भाव चूकने के कारण बहुत कुछ चूक जाते हैं। इसलिए साध्वीजी भगवंत ने बहुजन जिज्ञासुओं को ध्यान में रखकर सूत्रों के अर्थ को ग्रंथस्थ करवाने का निर्णय किया। उसके परिणाम स्वरूप जो प्रथम पुस्तक लिखी वह 'सूत्र-संवेदना भाग-१' (गुजराती) थी। उसमें 'नमस्कार महामंत्र' से शुरु करके 'सामाइय वयजुत्तो' तक के ग्यारह सूत्रों की बात की गई ।

विदुषी साध्वीश्रीजी की यह धर्म यात्रा फिर आगे बढ़ी है, जो हमारे लिए सौभाग्य की बात है। इस समय उन्होंने जो सूत्रों के अर्थ किए उनमें चैत्यवंदन प्रधान है। इसमें 'वैयावच्चगराणं' सूत्र तक की बात करके उन्होंने उत्कृष्ट चैत्यवंदन को लिया है। क्रियाओं में चैत्यवंदन जैसी अन्य कोई श्रेष्ठ भाव क्रिया नहीं। चैत्यवंदन की रचना गणधर भगवंतों ने की है। वंदन किसे करें ? जिन्होंने इस विकट भवाटवी में से बाहर निकलने का मार्ग बताया, उन परमात्मा श्री जिनेश्वर देवों को भावपूर्वक वंदन करना है ।

चैत्यवंदन के पीछे प्रमुख भाव उपकारक के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का तो होता ही है, लेकिन साथ-साथ तारक परमात्मा के गुणगान का भी होता है। हमारे परमात्मा अन्य धर्मों के परमात्मा की अपेक्षा विशिष्ट हैं क्योंकि वे कहीं ऊपर से अवतार लेकर नहीं आते। मूल में तो वे अपने जैसे ही होते हैं - कर्मों से लिप्त, परन्तु बाद में अपने अदम्य पुरुषार्थ से कषायों एवं कर्मों के साथ संग्राम करते हैं एवं उनको हराकर मोक्षमार्ग की सीढ़ी चढ़ कर अंत में लोक के अग्रभाग पर सिद्धशिला के ऊपर पहुँचकर अनंत आनंदमय अवस्था में शाश्वतकाल के लिए स्थित हो जाते हैं। तीर्थंकर परमात्माओं ने खुद विकट मोक्षमार्ग के ऊपर आगे चलकर चौदह गुणस्थानों के सीमा चिन्ह अंकित किए होते हैं जिससे पीछे आनेवालों की यात्रा सुविधापूर्ण रहे एवं उसे ध्यान में रखकर मोक्षमार्ग के प्रवासी कहीं और न भटक जाएँ।

अन्य धर्मों में अपने-अपने इष्ट देव या परमात्मा के प्रति नमस्कार होता है, परन्तु उसमें उनके प्रति शरणगति की भावना व्यक्त करने या उनकी कृपा पाने या फिर उनकी प्राप्ति करने अर्थात् कि उनके निकट बसने का भाव होता है; जब कि जैन धर्म के चैत्यवंदन में विशिष्ट भाव भरे होते हैं और वे परमात्मा के गुणों को प्राप्त करने के होते हैं; कारण यह है कि गुणप्राप्ति के बिना मोक्षमार्ग का आरोहण नहीं हो सकता। इसीलिए अपने चैत्यवंदन में सूत्र के अर्थ के साथ-साथ तीर्थंकर परमात्मा के गुणों का विशद् तरीके से वर्णन किया जाता है। अपने वंदन में मार्गदर्शक के प्रति कृतज्ञता के साथ-साथ उनके गुणों की प्राप्ति की बात रहती है। इस प्रकार अपना चैत्यवंदन अन्य धर्मों के वंदन-पूजन की अपेक्षा विशिष्ट बन जाता है।

अच्छी तरह से किया हुआ एक भी चैत्यवंदन आत्मा के ऊपर अनंत भवों से लगे कर्मों की निर्जरा करने में सक्षम होता है। भावपूर्वक चैत्यवंदन होने लगे तो संवर तो स्वयं ही सध जाता है। उस समय कर्मों का यदि कोई आश्रव होता है तो केवल शुभ कर्मों का एवं उसमें जब ये वंदन उत्कृष्ट

अवस्था में पहुँचता है - शुद्ध भावमय बन जाता है एवं परमात्मा के गुणों के साथ तादात्म्य साध लेता है, तब तो जागृत आत्मा सामायिक की उच्च अवस्था में स्थिर हो जाती है।

चैत्यवंदन की एक क्रिया भी यदि भावपूर्वक एवं संवेदन सहित हो तो उसमें आत्मा को उभार लेने की अमोघ शक्ति होती है। मुझे श्रद्धा है कि बिखरी शक्ति को दीप्त करने के लिए इस पुस्तक का वाचन, मनन एवं निदिध्यासन बहुत उपकारी सिद्ध होगा। ऐसी अनमोल पुस्तक तैयार करके देने के लिए **विदुषी पू. साध्वी श्री प्रशमिताश्रीजी** को अभिनंदन सहित मेरा वंदन एवं उसके परिशीलन के लिए सभी श्रावक-श्राविकाओं को एवं साधकों को निवेदन ।

'सुहास' **- चन्द्रहास त्रिवेदी**
६४, जैननगर, एलिसब्रिज, १९-१०-२००३
अहमदावाद-६.

- श्री चन्द्रहास त्रिवेदी गुजरात के एक अग्रगण्य लेखक हैं। जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी आपने जैन दर्शन का विशद् अभ्यास किया है। दर्शन शास्त्र, सामाजिक परिस्थिति, जैनधर्म, काल्पनिक नवलकथा इत्यादि विभिन्न विषयों पर आपका वर्चस्व है। सूत्र संवेदना श्रेणी का परिशीलन करना आपका प्रिय विषय रहा है। - सं.

# प्राक्कथन

इस पुस्तक के आधार हैं - परमतारक परम श्रद्धेय **तपागच्छाधिराज पूज्यपाद आचार्य देवेश श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी महाराजा।** आज से लगभग तीस साल पहले मेरे धर्मपिता तुल्य **पू.आ.श्री.विजय गुणयश-सूरीश्वरजी महाराजा** तथा **सन्मार्गदायक पू.आ.श्री.विजय कीर्तियश-सूरीश्वरजी महाराजा** को बम्बई-लालबाग वंदन करने के लिए जाने का अवसर हुआ। उन दिनों में तपागच्छाधिराज पूज्यश्री के प्रवचन 'ललित-विस्तरा' ग्रंथ पर चल रहे थे। इन प्रवचनों को सुना, परन्तु तब मेरी बुद्धि उतनी विकसित नहीं थी कि, इन व्याख्यानों को पूरी तरह समझ सकूं । तो भी इस ग्रंथ के आधार से 'नमोऽत्थुणं' आदि सूत्रों का अर्थ सुनते हुए मुझे अत्यंत आश्चर्य हुआ। मुझे लगा, एक शब्द के क्या इतने एवं ऐसे अर्थ हो सकते हैं ? सुषुप्त मन में तब से उन सूत्रों के अर्थ जानने की इच्छा प्रबल होती रही ।

कालक्रम से सुयोग्य गुरु का सान्निध्य मिला। अनेक साधकों की सहायता मिली। गुरुकुलवास में उन ग्रंथों के अध्ययन की सुविधा मिली । उन ग्रंथों का अभ्यास करते हुए जो कई विशेष अर्थ जानने को मिले, उनके स्मरण के लिए एवं समुदाय के साधकों के उपयोग में आए इसलिए सूत्रों के अर्थ में निहित विशेष विषय के ऊपर विस्तृत नोंधपोथी तैयार की । अभ्यासी वर्ग को ये नोंधपोथी उपकारक एवं उपयोगी लगने से बहुतों ने इसकी नकल की। कितनी ही श्राविका बहनों खास तो श्रीमती सरलाबेन शहाने इन नोट्स को पुस्तकाकार देने का आग्रह किया।

अनेकों की विनति, मार्गदर्शन आदि को लक्ष्य में रखकर, मेरी बुद्धि अनुसार चैत्यवंदन - देववंदन में आने वाले सूत्रों का विवेचन ललितविस्तरा आदि ग्रंथों के आधार पर तैयार करने का मैंने निर्णय लिया। तैयार किए हुए वे नोट्स ही संस्कारित हो सूत्र संवेदना भाग-२ (गुजराती) के रूप में आज प्रकाशित हो रहे हैं।

अनेक विध शास्त्रों का आधार होने पर भी गणधर रचित इन सूत्रों का सुयोग्य अर्थ करने का कार्य सरल नहीं। अर्थ-निर्णय करने में अनेक बार खूब मनोमंथन करने के बाद भी अर्थ की स्पष्टता नहीं होती थी। पंडितवर्य सुश्रावक श्री प्रवीणभाई, श्री मयंकभाई आदि ने मुझे अपना कीमती समय देकर विषम प्रश्नों के सुन्दर समाधान के साथ अनेक स्थलों पर तत्त्व का बोध कराकर नई-नई दिशाएँ भी बताई हैं। इस समय मैं उनके उपकार को नहीं भूल सकती।

लेख तैयार होने के बाद भी उसमें रही हुई कमियों में सुधार करना भी अनिवार्य था। **सन्मार्गदायक पूज्यपाद आचार्यदेवेश श्रीमद् विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज** तथा **परार्थरसिक पूज्यपाद आचार्यदेव श्री भव्यदर्शनसूरीश्वरजी महाराज**ने अनेक प्रकार के संघ के कार्य के बीच भी इस लेख को देखकर अनेक स्थानों पर मार्गदर्शन, शुद्धि-वृद्धि करके लेख को क्षतिरहित करने के लिए बहुत श्रम लिया है। अपने बहुत से बड़े कार्यों के बीच भी मेरे इस ग्रंथ शोधन के छोटे कार्य को स्वीकारा, इसके बदले में उनका उपकार तो कभी भी नहीं भूला सकती।

अस्वस्थ होने पर भी तपागच्छाधिराज पूज्यपादश्री की साम्राज्यवर्ती पू.सा. श्री **रोहिताश्रीजी** म.सा. की शिष्यरत्ना विदुषी पू.सा.श्री **चन्दन-बालाश्रीजी** म.सा. ने साद्यंत प्रूफ रिडींग का कार्य किया तथा जरूरी सुधार किए हैं। उसके बदले में मैं उनका आभार मानती हूँ।

इन ग्रंथों के वांचन-चिंतन-मनन में सर्वाधिक महत्त्व की प्रेरणा एवं शक्ति मुझे मेरे **पूज्य गुरुदेव विदुषीरत्ना पू.सा.श्री चन्द्राननाश्री म.सा.** की तरफ से मिली है। उन्होंने मात्र प्रेरणा की है इतना ही नहीं परन्तु उसके लिए समय अनुकूलता एवं सतत सहायता देकर मुझे उत्साहित रखने का कार्य भी किया है। उनका उपकार तो मैं कभी भी नहीं भूल सकती। सच कहूँ तो यह कार्य मेरा नहीं है। समग्र समुदाय की सहायता से यह कार्य हुआ है। इस कार्य के पीछे छोटी-छोटी साध्वीजी भगवंतों ने भी अनेक प्रकार से योगदान दिया है ।

सूत्र संवेदना भाग १ में मैं बता चूकी हूँ कि सूत्रों के किए हुए ये अर्थ संपूर्ण नहीं हैं। बहुत सारे अर्थ इन सूत्रों के एवं उनके एक-एक पद के हो सकते हैं। विशेषज्ञ आवश्यक निर्युक्ति, ललितविस्तरादि ग्रंथों के माध्यम से उनकी विशेष जानकारी ले लें। इसमें जो कोई अर्थ किया है उसमें कहीं भी शास्त्र विरूद्ध अयथार्थ ना लिखा जाए इसके लिए भरसक प्रयत्न किया है। ऐसा होते हुए भी ज्ञान की न्यूनता, अभिव्यक्ति की अनिपुणता आदि के कारण ये लेख बिल्कुल दोषमुक्त हैं ऐसा तो मैं नहीं कह सकती।

यथाशक्ति पूर्ण सावधानी रखते हुए भी अज्ञान, प्रमाद या अभिव्यक्ति की कमजोरी के कारण इसमें श्री वीतराग की आज्ञा विरुद्ध यदि कुछ लिखा गया हो तो उसके लिए मैं मिथ्यादुष्कृत मांगती हूँ एवं अनुभवी बहुश्रुतों से प्रार्थना करती हूँ कि उनकी दृष्टि में यदि कोई दोष दिखे तो निःसंकोच मुझे सूचित करें जिससे दूसरी आवृत्ति के समय उनका सुधार हो सके।

जैन मर्चन्ट सोसायटी,
राजनगर, आ.सु. १५, वि.सं. २०५९

परम विदुषी प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद
सा. श्री चन्द्राननाश्रीजी म.सा. की
शिष्या सा. प्रशमिताश्री

वि.सं. २०५७ की साल में सु. **सरलाबहेन** के आग्रह से यह लेखन कार्य शुरु किया था। आज देव-गुरु की कृपा से सूत्र संवेदना का वाचक वर्ग काफी विस्तृत हुआ है। गुर्जर भाषा की छठ्ठी आवृत्ति प्रकाशित हो रही है।

इस हिन्दी आवृत्ति की नींव है - सुविनित ज्ञानानंदी सरलभाषी स्व.सा. श्री **विनीतप्रज्ञाश्रीजी** जो खरतरगच्छीया विदुषी सा.श्री.**हेमप्रभाश्रीजी** म. की शिष्या हैं।

उन्होंने वि.सं. २०६३ की साल में मुझे आत्मीयता से निवेदन किया था कि, सूत्र संवेदना साधना का एक आवश्यक अंग है। अतः वह सिर्फ गुजराती भाषा के वाचक वर्ग तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषी जिज्ञासु साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के लिए भी उपयोग में आए, इसलिए उसका

हिन्दी भावानुवाद करना आवश्यक है। मैंने उन्हें बताया कि मुझे हिन्दी का अनुभव नहीं है, तो उन्होंने तुरंत विनती की कि, मुझे इस पुस्तक का भावानुवाद करने का लाभ दीजिए। इससे अनेक साधकों के लिए साधना मार्ग सरल बनेगा, यह सोचकर मैंने उनकी बिनती को सहर्ष स्वीकार किया।

थोड़े ही समय बाद एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन उनके गुरुवर्या सा.श्री **हेमप्रभाश्रीजी** के साथ उनका भी एक दुर्घटना में यकायक कालधर्म हो गया। पर मानो कि उनकी परोक्ष मदद न हो वैसे डॉ. **श्री ज्ञानचंद जैन** ने अनुवाद का कार्य हाथ पर लिया।

आज डॉ. **श्री ज्ञानचंद जैन,** डॉ. **श्रीमती शिल्पा शाह,** डॉ. **श्री दीनानाथ शर्मा** एवं अनेक जिज्ञासु साध्वीजी भगवंतों के योगदान से सूत्र संवेदना भाग १ से ६ हिन्दी में भी प्रकाशित हो रहे हैं।

वाचक वर्ग इस पुस्तक द्वारा अपनी धर्म क्रिया को भावक्रिया बनाने में सफल बने ऐसी शुभाभिलाषा व्यक्त करती हूँ । 'सूत्र संवेदना' की संवेदना के मूलरूप **दीक्षायुग प्रवर्तक परम पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा** के दीक्षा शताब्दी वर्ष में यह प्रकाशन होने जा रहा है, यह भी आनन्द प्रद है ।

लि. सा. प्रशमिताश्री

वि.सं. २०६८ भादरवा सुद-१४

अहमदावाद

## अनुक्रमणिका


| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| १. | **भूमिका** | १-२० |
| | * चैत्यवंदन क्या है ? | २ |
| | * चैत्यवंदन धर्म के अधिकारी कौन ? | ५ |
| | * चैत्यवंदना के सूत्र को पढ़ने का अधिकारी कौन ? | ८ |
| | * बहुमान भाव के पाँच लक्षण | ११ |
| | विधिपरायण के पाँच लक्षण | १२ |
| | * उचित प्रवृत्ति करनेवाले के पाँच लक्षण | १४ |
| | * चैत्यवंदन के लिए योग्य चित्त | १५ |
| | * चैत्यवंदन के सूत्रों को किस प्रकार से बोलें | १६ |
| | * चैत्यवंदन के सूत्रों को पढ़ने की विधि | १९ |
| २. | **सकलकुशलवल्लि** | २१-२९ |
| | * सूत्र परिचय | २१ |
| | * मूल सूत्र | २२ |
| | * अन्वय सहित शब्दार्थ | २२ |
| | * **'सकलकुशलवल्लि...मेघो' का विशेषार्थ** | २२ |
| | * **'दुरिततिमिरभानु' का विशेषार्थ** | २४ |
| | * **'कल्पवृक्षोपमान' का विशेषार्थ** | २५ |
| | * **'भवजलनिधिपोत' का विशेषार्थ** | २६ |
| | * **'सर्वसंपत्ति हेतु' का विशेषार्थ** | २७ |
| | * **'स भवतु...शांतिनाथ' का विशेषार्थ** | २८ |
| ३. | **जगचिंतामणि सूत्र** | ३०-५२ |
| | * सूत्र परिचय | ३० |
| | * मूल सूत्र | ३२ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | ३३ |
| | * **'इच्छाकारेण... करुं' का विशेषार्थ** | ३५ |
| | * **'जगचिंतामणि' का विशेषार्थ** | ३६ |
| | * **'जग-नाह' का विशेषार्थ** | ३८ |
| | * **'जग-गुरु' का विशेषार्थ** | ३९ |
| | * **'जग-रक्खण' का विशेषार्थ** | ३९ |
| | * रक्षण के तीन प्रकार | ३९ |
| | * **'जग-बंधव' का विशेषार्थ** | ४१ |
| | * **'जग-सत्थवाह' का विशेषार्थ** | ४२ |
| | * **'जगभाव-विअक्खण' का विशेषार्थ** | ४३ |
| | * **'अट्ठावय-संठविअरूव' का विशेषार्थ** | ४४ |
| | * **'कम्मट्ठ-विणासण' का विशेषार्थ** | ४४ |

| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| | * 'अप्पडिहय-सासण' का विशेषार्थ | ४५ |
| | * 'चउवीसंपि जिनवर जयंतु' का विशेषार्थ | ४६ |
| | * 'कम्मभूमिहिं...निच्च विहाणि' का विशेषार्थ | ४७ |
| | * 'जयउ सामिय...सव्वे वि' का विशेषार्थ | ५० |
| | * 'सत्ताणवइ-सहस्सा... पणमामि' का विशेषार्थ | ५२ |
| ४. | जं किंचि सूत्र | ५३-५७ |
| | * सूत्र परिचय | ५३ |
| | * मूल सूत्र | ५४ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | ५४ |
| | * 'जं किंचि...लोअे' का विशेषार्थ | ५५ |
| | * 'जाई...वंदामि' | |
| | * का विशेषार्थ | ५६ |
| ५. | नमोऽत्थुणं सूत्र | ५८-१४४ |
| | * सूत्र परिचय | ५८ |
| | * मूल सूत्र | ६२ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | ६३ |
| | * 'नमोऽत्थुणं' का विशेषार्थ | ६५ |
| | * पूजा के चार प्रकार | ६६ |
| | * 'अरिहंताणं' का विशेषार्थ | ७० |
| | * 'भगवंताणं' का विशेषार्थ | ७१ |

| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| | * 'आइगराणं' का विशेषार्थ | ७५ |
| | * 'तित्थयराणं' का विशेषार्थ | ७७ |
| | * 'सयंसंबुद्धाणं' का विशेषार्थ | ८० |
| | * 'पुरिसुत्तमाणं' का विशेषार्थ | ८२ |
| | * उत्तम पुरुष के दस गुण | ८३ |
| | * 'पुरिस-सीहाणं' का विशेषार्थ | ८७ |
| | * परमात्मा एवं सिंह में समानता | ८७ |
| | * 'पुरिसवर पुण्डरीयाणं' का विशेषार्थ | ८९ |
| | * कमल के साथ परमात्मा की तुलना | ८९ |
| | * 'पुरिस-वर-गंध-हत्थीणं' का विशेषार्थ | ९१ |
| | * 'लोगुत्तमाणं' का विशेषार्थ | ९२ |
| | * 'लोगनाहाणं' का विशेषार्थ | ९४ |
| | * 'लोगहियाणं' का विशेषार्थ | ९५ |
| | * 'लोग-पईवाणं' का विशेषार्थ | ९८ |
| | * 'लोगपज्जोअगराणं' का विशेषार्थ | ९९ |
| | * 'अभयदयाणं' का विशेषार्थ | १०१ |
| | * भवनिर्वेद ही भगवद् बहुमान | १०२ |
| | * उदाहरण द्वारा अभयदयाणं | १०३ |
| | * अरिहंत परमात्मा ही 'अभय' आदि के दाता | १०५ |
| | * 'चक्खुदयाणं' का विशेषार्थ | १०६ |
| | * 'मग्गदयाणं' का विशेषार्थ | १०९ |

| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| * | **'सरणदयाणं' का विशेषार्थ** | ११९ |
| * | **'बोहिदयाणं' का विशेषार्थ** | ११४ |
| * | बोधि के पाँच लक्षण | ११७ |
| * | बोधि प्राप्त का क्रम | ११८ |
| * | अभयादि भावो का विविध प्रकार से विचार | १२१ |
| * | **'धम्मदयाणं' का विशेषार्थ** | १२३ |
| * | **'धम्मदेसयाणं' का विशेषार्थ** | १२५ |
| * | **'धम्मनायगाणं' का विशेषार्थ** | १२७ |
| * | नायक के मुख्य चार गुण | १२७ |
| * | **'धम्मसारहीणं' का विशेषार्थ** | १३० |
| * | **'धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं' का विशेषार्थ** | १३३ |
| * | **'अप्पडिहय....दंसण-धराण' का विशेषार्थ** | १३४ |
| * | **'वियट्ट-छउमाणं' का विशेषार्थ** | १३५ |
| * | **'जिणाणं-जावयाणं' का विशेषार्थ** | १३६ |
| * | **'तिण्णाणं-तारयाणं' का विशेषार्थ** | १३७ |
| * | **'बुद्धाणं-बोहयाणं' का विशेषार्थ** | १३७ |
| * | **'मुत्ताणं-मोअगाणं' का विशेषार्थ** | १३७ |
| * | **'सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं' का विशेषार्थ** | १३९ |
| * | **'सिव...ठाणं संपत्ताणं' का विशेषार्थ** | १४० |
| * | **'नमो जिणाणं... जिअभयाणं' का विशेषार्थ** | १४२ |
| * | **'जे अ अइया...वंदामि' का विशेषार्थ** | १४३ |
| **६.** | **जावंति चेइयाई सूत्र** | **१४५-१४७** |
| * | सूत्र परिचय | १४५ |
| * | मूल सूत्र | १४५ |
| * | अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | १४६ |
| * | **'जावंति...तिरिअलोअे अ' का विशेषार्थ** | १४६ |
| * | **'सव्वाइं ताइं....संताइं' का विशेषार्थ** | १४७ |
| **७.** | **जावंत के वि साहू** | **१४८-१५२** |
| * | सूत्र परिचय | १४८ |
| * | मूल सूत्र | १४९ |
| * | अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | १४९ |
| * | **'जावंत...महाविदेहं अ' का विशेषार्थ** | १४९ |
| * | **'सव्वेसिं...विरयाणं' का विशेषार्थ** | १५० |
| **८.** | **उवसग्गहरं सूत्र** | **१५३-१७१** |
| * | सूत्र परिचय | १५३ |
| * | मूल सूत्र | १५६ |
| * | अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | १५७ |

| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| | * 'उवसग्गहरं...आवासं' का विशेषार्थ | १५८ |
| | * 'विसहर... उवसामं' का विशेषार्थ | १६२ |
| | * 'चिट्ठउ...दुक्ख-दोगच्चं' का विशेषार्थ | १६४ |
| | * 'तुह सम्मत्ते..ठाणं' का विशेषार्थ | १६६ |
| | * 'इअ संथुओ...जिणचंद' का विशेषार्थ | १६९ |
| ९. | जयवीयराय सूत्र (प्रार्थना सूत्र) | १७२-२१० |
| | * सूत्र परिचय | १७२ |
| | * मूल सूत्र | १७४ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | १७४ |
| | * 'जयवीयराय...भयवं' का विशेषार्थ | १७६ |
| | * 'भवनिव्वेओ' का विशेषार्थ | १८० |
| | * 'मग्गाणुसारिया' का विशेषार्थ | १८२ |
| | * 'इट्ठफलसिद्धि' का विशेषार्थ | १८४ |
| | * 'लोगविरुद्धच्चाओ' का विशेषार्थ | १८८ |
| | * लोगविरुद्ध कार्य | १८९ |
| | * 'गुरुजनपूआ' का विशेषार्थ | १९२ |
| | * 'परत्थकरणं च' का विशेषार्थ | १९३ |
| | * 'सुहगुरुजोगो' का विशेषार्थ | १९६ |
| | * 'तव्वयणसेवणा' का विशेषार्थ | १९९ |
| | * 'आभवमखंडा' का विशेषार्थ | २०० |
| | * 'वारिज्जई...तुम्ह चलणाणं' का विशेषार्थ | २०२ |
| | 'दुक्खक्खओ... | |
| | * 'करणेणम्' का विशेषार्थ | २०४ |
| | * 'सर्वमंगल...शासनम्' का विशेषार्थ | २०९ |
| १०. | अरिहंत चेइयाणं सूत्र | २११-२३७ |
| | * सूत्र परिचय | २११ |
| | * मूल सूत्र | २१३ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | २१३ |
| | * 'अरिहंत... काउस्सग्गं' का विशेषार्थ | २१४ |
| | * 'वंदणवत्तियाए' का विशेषार्थ | २१६ |
| | * 'पूअण...सक्कारवत्तियाए' का विशेषार्थ | २१७ |
| | * 'सम्मावत्तियाए' का विशेषार्थ | २२० |
| | * 'बोहिलाभवत्तियाए' का विशेषार्थ | २२१ |

| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| | * 'निरूवसग्ग-वत्तियाए' का विशेषार्थ | २२३ |
| | * 'सद्धाए' का विशेषार्थ | २२४ |
| | * 'मेहाए' का विशेषार्थ | २२६ |
| | * 'धीइए' का विशेषार्थ | २२८ |
| | * 'धारणाए' का विशेषार्थ | २३१ |
| | * 'अणुप्पेहाए' का विशेषार्थ | २३४ |
| | * 'वड्ढमाणीए' का विशेषार्थ | २३६ |
| | * 'ठामि काउस्सग्गं' का विशेषार्थ | २३७ |
| ११. | कल्लाण कंदं सूत्र | २३८-२५४ |
| | * सूत्र परिचय | २३८ |
| | * मूल सूत्र | २३९ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | २४० |
| | * 'कल्लाणकंदं...मुणींदं' का विशेषार्थ | २४१ |
| | * 'पासं पयासं...सिरिवद्धमाणं' का विशेषार्थ | २४३ |
| | * 'अपार-संसार...पत्ता' का विशेषार्थ | २४५ |
| | * 'सिवं दिंतु सुइक्कसारं' का विशेषार्थ | २४६ |
| | * 'सव्वे जिणिंदा... विसालकंदा' का विशेषार्थ | २४७ |
| | * 'निव्वाण-मग्गे वरजाण कप्पं' का विशेषार्थ | २४८ |
| | * 'पणासियासेस कुवाइदप्पं' का विशेषार्थ | २४८ |
| | * 'मयं जिणाणं सरणं बुहाणं' का विशेषार्थ | २४९ |
| | * 'नमामि निच्चं तिजगप्पहाणं' का विशेषार्थ | २५० |
| | * 'कुंदिंदु गोक्खीर... पसत्था' का विशेषार्थ | २५१ |
| १२. | संसारदावानल स्तुति | २५५-२७५ |
| | * सूत्र परिचय | २५५ |
| | * मूल सूत्र | २५७ |
| | * अन्वयार्थ | २५७ |
| | * 'संसारदावानल... धीरं' का विशेषार्थ | २५९ |
| | * 'भावावनाम..पदानि तानि' का विशेषार्थ | २६५ |
| | * 'बोधागाधं...सेवे' का विशेषार्थ | २६७ |
| | * 'आमूलालोल-धूली... | |
| | * देवी सारं' -का विशेषार्थ | २७२ |
| १३. | पुक्खरवरदी सूत्र | २७६-३०५ |
| | * सूत्र परिचय | २७६ |
| | * मूल सूत्र | २७८ |
| | * अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | २७९ |
| | * 'पुक्खरवर-दीवड्ढे... नमंसामि' का विशेषार्थ | २८१ |
| | * 'तम-तिमिर...मोहजालस्स' का विशेषार्थ | २८४ |

| क्रम | विषय | पृष्ठ नं. |
|---|---|---|
| * | 'जाइ जरा...करे पमायं' का विशेषार्थ | २९२ |
| * | 'सिद्धे भो !... वड्ढउ' का विशेषार्थ | २९७ |
| * | 'सुअस्स भगवओ.... काउस्सग्गं' का विशेषार्थ | ३०५ |
| १४. | सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र | ३०६-३२१ |
| * | सूत्र परिचय | ३०६ |
| * | मूल सूत्र | ३०७ |
| * | अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ | ३०८ |
| * | 'सिद्धाणं बुद्धाणं... सव्व सिद्धाणं' का विशेषार्थ | ३०९ |
| * | 'जो देवाणं...महावीरं' का विशेषार्थ | ३१४ |
| * | 'इक्को वि. नारिं वा' का विशेषार्थ | ३१६ |
| * | 'उर्ज्जितसेल-सिहरे... नमंसामि' का विशेषार्थ | ३१८ |
| * | 'चत्तारि अट्ठ... मम दिसंतु' का विशेषार्थ | ३२० |
| १५. | वेयावच्चगराणं सूत्र | ३२२-३२७ |
| * | सूत्र परिचय | ३२२ |
| * | मूल सूत्र | ३२३ |
| * | अन्यव सहित संस्कृत | |
| * | छाया और शब्दार्थ | ३२३ |
| * | 'वैयावच्चगराणं... काउस्सग्गं' का विशेषार्थ | ३२३ |
| १६. | चैत्यवंदन की विधि | ३२९ |


| ग्रंथ | विषय | सूत्र क्रम |
|---|---|---|
| सूत्र संवेदना-१ | सामायिक के सूत्र | १-११ |
| सूत्र संवेदना-२ | चैत्यवंदनना के सूत्र | १२-२५ |
| सूत्र संवेदना-३ | प्रतिक्रमण के सूत्र | २६-२२ |
| सूत्र संवेदना-४ | वंदित्तु सूत्र | ३३ |
| सूत्र संवेदना-५ | आयरिय उवज्झाएथी सकलतीर्थ सुधी के सूत्र | ३४-४७ |
| - सूत्र संवेदना-६ | मन्नहजिणाणंनी सज्झाय, संतीकरं पौषध के सूत्र, प्रतिक्रमण के हेतु | |
| - सूत्र संवेदना-७ | पांच प्रतिक्रमण के सूत्र | |

# संदर्भ ग्रंथ सूचि


| ग्रंथ | कर्ता |
|---|---|
| अध्यात्मसार | महामहोपाध्याय श्रीयशोविजयजी |
| उवसग्गहरं स्तोत्र | श्री जैन साहित्य विकास मंडळ |
| कर्मग्रंथ-१, २ | श्री देवेन्द्रसूरि |
| चैत्यवंदन महाभाष्य | वादिवेताल श्री शांतिसूरि |
| चैत्यवंदन भाष्य | श्री देवेन्द्रसूरि |
| दशवैकालिक सूत्र | श्री शय्यंभवसूरि |
| परमतेज | पू. भुवनभानुसूरि |
| धर्मसंग्रह | पू. मानविजयजी |
| योगशास्त्र | पू. हेमचंद्राचार्य |
| प्रबोधटीका | अमृतलाल काळीदास |
| ललीतविस्तरा | श्री हरिभद्रसूरि |
| श्राद्ध प्रतिक्रमण वन्दारु वृत्ति | श्री देवेनद्रसूरि |
| सूत्रार्थ विचारणा | श्री प्रविणभाई मोता |

# भूमिका

इस जगत् में मुख्य दो पदार्थ हैं : जीव एवं जड़ । इन दोनों पदार्थो पर सबसे बड़ा उपकार अरिहंत भगवंतों का है । उन्होंने अपने केवलज्ञान में जड़ और चेतन का वास्तविक स्वरूप देखकर उसे जगत् के जीवों को समझाया तथा सन्मार्ग की स्थापना करके जीवों को सुख का मार्ग बताया है । अगर इस तरह उन्होंने सन्मार्ग की स्थापना न की होती, तो इस जगत् में कोई भी जीव थोड़ा भी सुख प्राप्त न कर पाता । जगत् में जीव बाह्य या अंतरंग जिस किसी भी सुख का अनुभव करता है, उसका एक मात्र कारण है प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से की गई भगवद्वचन की आराधना...

भगवान के सब वचन, दुःख के कारणभूत राग-द्वेष आदि दोषों का दर्शन करवाते हैं और सुख के साधनभूत समता आदि गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करवाते हैं । समता को प्राप्त करवाने वाले ऐसे हितकारी वचनों की उपेक्षा करने के कारण ही जगत् में जीव अनादिकाल से दुःखी होते रहे हैं ।

परमात्मा के शासन के प्रत्येक अनुष्ठान समता को परम लक्ष्य बनाकर उसे पाने के लिए सहायक बनते हैं । परमात्मा ने समता को सिद्ध करने

अनेक उपाय बताए हैं । उनमें सबसे महत्व का उपाय सामायिक है । वह सामायिक क्या है ? उसे कैसे करना चाहिए ? इत्यादि बातें 'सूत्रसंवेदना भाग-१' में बताई गई हैं ।

सामायिक जैसे शुभानुष्ठान को बताकर अरिहंत परमात्मा ने हम पर जो अनन्य उपकार किया है, उस उपकार के स्मरण के लिए, उनके गुणों को स्व में प्रस्फुटित करने के लिए एवं उनके वचनों के पालन का सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए उनकी बार-बार वंदना की जाती है । भावपूर्वक की हुई वंदना ही 'चैत्यवंदन' है ।

यह चैत्यवंदन क्या है ? उसे कौन कर सकता है ? उसके लिए किन सूत्रों की जरूरत पडती है ? उसके अर्थ व भावार्थ क्या हैं ? उन सूत्रों को बोलते हुए कैसी संवेदना होनी चाहिए । इसकी जानकारी अब इस 'सूत्र संवेदना-२' में देखने को मिलेगी ।

**चैत्यवंदन क्या है ? :**

अरिहंत परमात्मा के बाह्य और अंतरंग स्वरूप को पहचानकर, उनके लोकोत्तर स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके, उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने के लिए, उन गुणों के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए, परमात्मा के प्रति आदर और बहुमानपूर्वक उनके वंदन के लिए विधिपूर्वक की जानेवाली मन वचन काया की शुभ प्रवृत्ति चैत्यवंदन है ।

अरिहंत परमात्मा के लोकोत्तर स्वरूप को समझाने के लिए गणधर भगवंतों ने **'नमोत्थु णं'** आदि सूत्र की रचना की है । इन सूत्रों के शब्दों को आत्मसात् करके साधक ज्यों-ज्यों चैत्यवंदन की क्रिया में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसकी आँखों के सामने परमात्मा के एक-एक गुण तैरने लगते हैं। परमात्मा की परोपकारिता, वीतरागता, सर्वज्ञता, मार्गदर्शकता, अनंत करुणा, अचिंत्य सामर्थ्य आदि गुणों के प्रति साधक का बहुमान भाव बढ़ता जाता है । ये परमात्मा ही मेरे परम सुख के साधन हैं, यह उसको स्पष्ट

समझ में आता है । इसके कारण ही उसे परमात्मा के प्रति अंतरंग प्रीति प्रकट होती है । सामान्य व्यक्ति के साथ की गई मैत्री या प्रीति भी यदि आनन्ददायक हो सकती है, तो तीन जगत् के नाथ, महाकरुणा के सागर, अनंत गुणों के मालिक परमात्मा के साथ की हुई प्रीति कितनी आनंददायक हो सकती है; वह तो जो माने वो ही जाने । इस प्रीति का आनंद जिन्होंने माना है वैसे पू. आनंदघनजी महाराज कहते हैं,

**"ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो, और न चाहुं रे कंत,**
**रिझ्यो साहिब संग न परिहरे, भांगे सादि अनंत ।"**

*हे ऋषभदेव प्रभु ! आप ही मेरे सच्चे प्रियतम हैं । अब इस दुनियाँ में मैं दूसरे किसी पति की इच्छा नहीं रखती क्योंकि अन्य पति का साथ कब छूट जाए यह पता नहीं । लेकिन हे स्वामी ! आप एकबार रीझो और मेरा-आप का संबंध बंध जाए, तो यह संबंध सादि अनंतकाल तक नहीं छूटे । जिससे वियोग का दुःख मुझे कभी सहना नहीं पड़ेगा।*

प्रीति के मार्ग में आगे बढ़ते मुमुक्षुओं को भगवान के प्रति अनन्त भक्ति उत्पन्न होती है । परमात्मा की भक्ति के क्षणों में चित्त एकदम स्वस्थ व शांत बनता है । चित्त शांत होते ही प्रभु के वचनों के साथ अनुसंधान होता है । उससे वचनानुसारी प्रवृत्ति होती है । वचनानुसारी प्रवृत्ति में आगे बढ़ते ध्याता याने साधक ध्यान द्वारा परमात्मस्वरूप ध्येय के साथ एकाकार बनता है । भक्ति के इन पलों में साधक जिस आत्मिक सुख की अनुभूति करता है, वह अवर्णनीय होती है । अनुभव का यह आनंद शब्दों के द्वारा नहीं कहा जा सकता । फिर भी अनुभूति के पल में महापुरुषों को कैसा आनंद होता है, उसकी साक्षी उनके मुख से निकले शब्द ही हैं ।

**"हम मगन भये प्रभु ध्यान में, ध्यान में, ध्यान में, ध्यान में;**
**बिसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरासुत गुण गान में;**
**हरिहर, ब्रह्म, पुरंदर की ऋद्धि, आवत नहि कोउ मान में;**
**चिदानंद की मोज मची है, समतारस के पान में... हम मगन भये..."**

परमात्मा के साथ बंधा हुआ यह संबंध लोकोत्तर है। अनादिकाल से लौकिक संबंध से परिचित, रूप और रुपये में आसक्त बने लोगों के लिए तो यह संबंध बांधने की बात तो दूर रही, वे ऐसा संबंध समझ भी नहीं सकते। जो संसार से विरक्त होकर आत्माभिमुख होते हैं और आत्मिक आनंद को प्राप्त करने के लिए ही चैत्यवंदन करते हैं, वे इस क्रिया के माध्यम से परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करके आत्मिक सुख प्राप्त कर सकते हैं, इसीलिए देवचंद्रजी महाराज ने ऋषभदेव भगवान के स्तवन में कहा है-

**"प्रीति अनंती पर थकी जे तोड़े ते जोड़े एह रे..."**

अनादिकालीन जड़ की प्रीति के कारण साधक आत्माओं को भी प्रारंभिक कक्षा में तो परमात्मा के साथ तादात्म्य पैदा करने में बहुत अवरोध खड़े होते हैं, समझदारीपूर्वक जैसे-जैसे वे जड़ की आसक्ति को छोड़ते हैं, वैराग्य आदि गुणों को प्राप्त करते है, वैसे-वैसे परमात्मा के साथ उनका संबंध मजबूत बनता जाता है और संसार के जड पदार्थो के साथ उनका संबंध कमज़ोर पड़ता जाता है । चारित्रमोहनीयकर्म से विवश बने चित्त में उठती वृत्तियाँ शांत होती जाती हैं और धीरे-धीरे साधक परमात्मा के गुणों की उपासना में आगे बढ़ता जाता है । भक्ति के अमूल्य पलों में वह स्व-पर का भेद बिसर जाता है । परमात्मा के साथ यत्किंचित् अभेद भाव उत्पन्न करके साधक आत्मानुभूति का महाआनंद पा सकता है । आत्मानुभूति के इस आनंद को वह जानता है, मानता है, लेकिन किसी से कह नहीं सकता। इसीलिए पू. उपाध्याय जी महाराज ने कहा है -

**"प्रभु गुण अनुभव रस के आगे, आवत नहीं कोउ मान में..**
**जिनहि पाया तिनहि छिपाया, न कहे कोऊ के कान में;**
**ताली लागी जब अनुभव की, तब समझे कोऊ सान में ।"**

निश्चयनय की अपेक्षा से इस तरह **ध्येय के साथ ध्याता की जो एकरूपता है, वही वास्तव में चैत्यवंदन है ।** परमात्मा की ऐसी भक्ति को

प्राप्त करके साधक सदैव सुरक्षा का अनुभव करता है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है -

**"निर्भय हवे हु छुं, नाड छे तुझ हाथमां ।"**

एक क्षण भी ऐसी स्थिति का अनुभव करनेवाले साधक का अंतःकरण निर्भय, निरीह (इच्छा रहित) और निराकुल बन जाता है । उसे आत्मा-परमात्मा के सिवाय कहीं भी आनंद नहीं दीखता । जिस तरह कोई अभिनेता किसी पात्र को पेश करने पर भी उससे अलिप्त रहता है वैसे वीतराग के साथे साधक का नाता जुड जाता है तब कर्मकृत जगत् के नाटक का वह एक पात्र होता है। पर उसमें उसको राग-द्वेष, हर्ष-शोक, यश-अपयश का कोइ द्वंद्व नहीं रहता । निर्द्वंद्व आनंद का वह अनुभव कर सकता है । चैत्यवंदन का वास्तविक फल यह है । इसका वर्णन करते हुए महामहोपाध्यायजी कहते हैं,

*"भक्तवत्सल प्रभु करुणासागर, चरण शरण सुखदाई*
*जस कहे ध्यान प्रभु का ध्यावत, अजर अमर पद पाई*
*द्वन्द्व सकल मीट जाए.. सखीरी आज आनंद की घडी आई..."*

## चैत्यवंदन धर्म के अधिकारी कौन ?

जगत् के भावों से पर होकर परमात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना आसान नहीं होता, इसलिए यह कार्य सभी नहीं कर सकते । देशविरति[1] आदि गुणस्थानक को प्राप्त किए हुए महासात्त्विक सम्यग्दृष्टि[2] जीव ही वास्तव में परमात्मा के साथ एकाकार हो सकते हैं, इसलिए वे ही चैत्यवंदन करने के मुख्य

---

1. देस सव्वे य तहा, नियमेणेसो चरित्तिणो होइ । इयरस्स बीयमित्तं, इत्तु च्चिय केइ इच्छंति ।।३।।
जे देसविरइजुत्ता, जम्हा इह वोसिरामि कायं ति सुच्चइ विरइए इमं ता सम्मं चिंतियव्वमिणं ।।१३।।
- योगविंशिका

2. सम्यग्दृष्टिः वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसमें जो श्रद्धा करता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं । सम्यग्दृष्टि आत्मा संसार को यथार्थरूप से जान सकता है, इसी कारण असार संसार के ऊपर उसकी रुचि का अभाव होता है और संसार के यथार्थ स्वरूप को बताने वाले वीतराग परमात्मा के प्रति उसकी भक्ति की भावना जगती है ।

अधिकारी हैं । वैसे तो अपुनर्बंधक[3] आदि जीव भी चैत्यवंदन की क्रिया करते हैं, पर चैत्यवंदन के माध्यम से वे सीधे परमात्मा से एकाकार होने की भूमिका तक नहीं पहुँच पाते । प्रारंभिक कक्षा की ऐसी क्रिया द्वारा ही वे क्रमशः इस भूमिका तक पहुँच सकते हैं इसलिए व्यवहार नय उन्हें चैत्यवंदन के अधिकारी के रूप में स्वीकार करता है, पर निश्चय नय[4] सिर्फ विरतिधर को ही चैत्यवंदन के अधिकारी के रूप में मान्यता देता है।

परमात्मा के गुणों में वही स्थिर हो सकता है, जिसे परमात्मा के गुणों का यथार्थ ज्ञान हो । ज्ञान भी मात्र बुद्धि के स्तर का नहीं, बल्कि आंतरिक प्रतीतिपूर्ण होना चाहिए । मिथ्यादृष्टि[5] जीव परमात्मा के गुणों को इस तरह जान नहीं सकते, फिर वे भक्ति कैसे करेंगे ? इसीलिए परमात्मा की भक्ति करने के लिए परमात्मा को देखने की शक्तिरूप सम्यग्दर्शन अनिवार्य है ।

सम्यग्दृष्टि जीव भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवाले हों, तो वे अपने मन, वचन, काया को बाह्य भावों में जाने से रोककर, उन्हें परमात्म भाव में लीन करके गुप्ति के परिणाम वाले नहीं बना सकते । क्योंकि गुप्ति के परिणाम के लिए चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम जरूरी होता है और यह विरतिवाले जीवों में ही आ सकता है। इसीलिए मन-वचन-काया को स्थिर करके परमात्मा के गुणों के साथ तादात्म्य पैदा करने का सत्त्व विरतिवान् जीवों में ही होता है । अतः निश्चयनय से (सूक्ष्म प्रकार से

---

3. अपुर्नबंधक - जो आत्मा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति (और रस) पुनः बाँधनेवाला नहीं है, वह अपुर्नबंधक कहलाता है ।

4. निश्चयनयः परमार्थ को-वस्तु के यथार्थ स्वरूप में देखने वाला नय ही निश्चयनय है । जैसे साधु के वेश में रहे हुए साधु में साधुता हो, तो ही वह साधु है, ऐसा निश्चयनय कहता है ।

5. मिथ्यादृष्टिः जो वस्तु जैसी है, वैसी जो देख नहीं सकता, हैय-उपादेयादि का विवेक नहीं कर सकता, उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं । भौतिक सुख सामग्री सदैव नहीं रहती और सुख भी नहीं दे सकती है । इसके बावजूद मिथ्यादृष्टि जीव उसे शाश्वत सुख देने वाली मानते हैं और सदा के लिए सुख देने वाले क्षमादि गुण और उसे प्राप्त करवाने वाले देव-गुरु-धर्म के प्रति उपेक्षा करते हैं, यही उनका मिथ्यात्व है ।

पदार्थ को देखने की दृष्टि से) चैत्यवंदन धर्म के अधिकारी विरतिवान सम्यग्दृष्टि जीव ही हैं ।

अपुनर्बंधक और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों में विरति के ऐसे परिणाम नहीं होते, इसलिए उन्हें निश्चयनय[4] से चैत्यवंदन का अधिकारी नहीं माना जाता, फिर भी ऐसे जीवों का मिथ्यात्व मंद पड़ने से या नाश होने से उनका मन बाह्य और आभ्यंतर संसार से आंशिक विरक्त होता है, उनमें भी शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने की आकांक्षा जगी होती है । इस भावना को फलीभूत करने का उपाय परमात्मा के वचनों में है, ऐसा वे जानते हैं, इसी कारण उन्हें परमात्मा के प्रति भक्ति और बहुमानभाव प्रकट होता है । बोध की सूक्ष्मता के अभाव में तथा चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण वे संपूर्णतया शास्त्रानुसारी क्रिया नहीं कर सकते, फिर भी उनकी इस आभ्यासिक क्रिया को व्यवहारनय मान्य रखता है और इसीलिए यह नय अपुनर्बंधकादि जीवों को भी चैत्यवंदन के अधिकारी के रूप में मानता है ।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की साधक आत्माओं को स्थूल या सूक्ष्म प्रकार से परमात्मा के गुणों का ज्ञान होता है, गुणवान परमात्मा के प्रति समझदारी के अनुसार बहुमान का परिणाम होता है । गुण के प्रति अपना बहुमान व्यक्त करने वे जो चैत्यवंदना की क्रिया करते है वह सफल होती है । परंतु जिन्हें भगवान के गुणों की पहचान नहीं है, भगवान के गुणों के प्रति बहुमान का परिणाम भी नहीं है, ऐसी आत्मा की चैत्यवंदना की क्रिया को पू. आ. हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने ललितविस्तरा ग्रंथ में मायाचार याने एक प्रकार का आडंबर कहा है, क्योंकि चैत्यवंदना की यह क्रिया गुण के प्रति बहुमान भाव को बतानेवाली होती है । सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो गुण के प्रति बहुमान के बिना, बहुमान सूचक चैत्यवंदन सूत्र भी मायाचार रूप ही लगते हैं।

यह बात निश्चयनय के अनुसार है। इसे सुनकर निश्चयनय संमत अधिकार को जो नहीं पा सकता, उन साधकों को डरना नहीं चाहिए । भगवान के प्रति बहुमान भाव नहीं है, इसलिए हमारी क्रिया मायारूप है, ऐसा मानकर क्रिया को

छोड़ना नहीं चाहिए । परमात्मा के गुणों की पहचान हों, उनके प्रति भक्ति और बहुमान की वृद्धि हो, इसके लिए सुयोग्य गुरु से **'नमोत्थुणं'** आदि सूत्र और उसके अर्थ सुनने चाहिए, सुनने के बाद उसके ऊपर गहरा चिंतन करना चाहिए, बार-बार उसका परिशीलन करके आत्मा को उन भावों से भावित करने का सतत प्रयत्न करना चाहिए, उन भावों के लिए हृदयपूर्वक परमात्मा से ही प्रार्थना करनी चाहिए और सम्यग् चैत्यवंदन करने की भावना से ही उसके अभ्यास के रूप में बार-बार चैत्यवंदन करना चाहिए ।

इस प्रकार बार-बार चैत्यवंदन करने से धीरे-धीरे मोहनीय कर्म निर्बल होता है, बोध की निर्मलता प्राप्त होती है और परमात्मा के गुणों की पहचान ज्यादा गाढ़ बनती है, फलतः क्रिया करते-करते उनके सूक्ष्म भाव तक पहुँचा जा सकता है और क्रिया करने के संस्कार पड़ते हैं, इसलिए प्रभु के साथ तादात्म्य साधने के आशय से स्वच्छ अंतःकरण से मन-वचन-काया की शक्ति का पूर्ण उपयोग करके चैत्यवंदन का अभ्यास चालू रखना चाहिए, कभी भी चैत्यवंदन की क्रिया छोड़नी नहीं चाहिए ।

चैत्यवंदन की क्रिया अच्छी तरह करने की भावना होने पर भी अनेक प्रकार के मोहनीय आदि कर्म के प्रभाव से अच्छा चैत्यवंदन नहीं कर पाते। वैसे साधकों का यह चैत्यवंदन कुछ अंश में, शब्द के अनुरूप भाववाला न होने से, मायारूप है, फिर भी इस भाव तक पहुँचने का उनका सतत प्रयत्न, उसके लिए चैत्यवंदन द्वारा की जानेवाली मेहनत माया के प्रवाह को तोड़ देती है अर्थात् उन दोषों के अनुबंध को घटाती है, माया के संस्कारों को घटाती है, मंद करती है । इसीलिए ऐसे भाववाले को भी चैत्यवंदन तो चालू ही रखना चाहिए; क्योंकि इसी से प्रभु के गुणों के प्रति बहुमानभाव प्रगट होता है । क्रिया छोड़ देने से तो कभी भी भाव नहीं आएगा ।

## चैत्यवंदना के सूत्र को पढ़ने का अधिकारी कौन ?

परमात्मा की भक्ति स्वरूप चैत्यवंदन की क्रिया को सम्यक् और

भावपूर्ण बनाने के लिए उसके सूत्र और उनके अर्थ जानना अनिवार्य है । इसलिए हमें यह भी जानना होगा कि इन सूत्रों के अर्थ को पढ़ने के लिए योग्य (अधिकारी) कौन है ?

अभी चैत्यवंदन का अधिकार होने से चैत्यवंदन के सूत्रों को पढ़ने के लिए अधिकारी का विचार किया गया है, परंतु कोई भी सूत्र पढ़ना हो या कोई भी धर्मक्रिया संबंधी ज्ञान प्राप्त करना हो तो योग्यता का विचार करना अत्यावश्यक है; क्योंकि योग्यता के बिना उत्तम वस्तु की प्राप्ति सफल तो नहीं होती, परंतु कभी अनर्थकारी भी हो सकती है।

योग्यता को जानने के लिए पूज्यपाद हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने 'ललितविस्तरा' ग्रंथ में निम्नोक्त तीन लक्षण बताए हैं ।

(१) अर्थी, (२) समर्थ, (३) शास्त्र से अनिषिद्ध[6]

**(१) अर्थी :**

अर्थी से तात्पर्य है प्रयोजनवाला । चैत्यवंदन आदि क्रिया करने की अभिलाषा वाला । दूसरे कार्य की अपेक्षा चैत्यवंदन आदि अनुष्ठान को अधिक महत्त्व देनेवाला जीव 'अर्थी' कहलाता है । अन्य शास्त्रकारों ने सूत्र पढ़ने का अर्थी उसे कहा है जो १. सूत्र प्ररूपक गुरु का विनय करनेवाला हो, २. सम्यग् प्रकार से गुरुभगवंत से उन-उन सूत्रादि को जानने के लिए आया हो और ३. जो बात समझ में न आए उसमें जिज्ञासा रखनेवाला हो।

---

6. अर्थी समर्थः शास्त्रेणापर्युदस्तो धर्मेऽधिक्रियते, इति विद्वत्प्रवादः, धर्म्मश्चैतत्पाठादि, कारणे कार्योपचारात् । यद्येवमुच्यतां के पुनरस्याधिकारिण इति ? उच्यते, - एतद्बहुमानिनो, विधिपरा, उचितवृत्तयश्च । अर्थी = धर्माधिकारी प्रस्तावात् तदभिलाषातिरेकवान् समर्थो = निरपेक्षतया धर्म्ममनुतिष्ठन्न कुतोऽपि तदनभिज्ञाद् बिभेति शास्त्रेणापर्युदस्तः = आगमेन अप्रतिकुष्टः ।

स च एवं लक्षणो य :

(१.) त्रिवर्गरूपपुरुषार्थचिन्तायां धर्ममेव बहुमन्यते,

(२.) इहलोकपरलोकयोर्विधिपरो,

(३.) ब्राह्मणादिस्ववर्णोचितविशुद्धवृत्तिमांश्चेति - ललितविस्तरा

**(२) समर्थ :**

अनुष्ठान के लिए शास्त्र में जो विधि बताई गई हो, उस विधि के पालन की क्षमता और तत्परतावाले को समर्थ कहते हैं। विधिमार्ग के सेवन में दृढ रहकर; लोगों की परवाह न करना, उस मार्ग का सेवन करते हुए कभी अबोध या अधर्मी लोग नाराज़गी व्यक्त करें या अशिष्ट और अज्ञानी लोग निंदा करे, तो उनके भय से आत्महितकर क्रिया का त्याग न करना, बल्कि उन सब की उपेक्षा करके, शास्त्रविधि के अनुसार कार्य करने को तत्पर रहना, समर्थता है ।

**(३) शास्त्र में अनिषिद्धः**

जिसे शास्त्रकारों ने धर्माचरण के लिए अयोग्य माना हो, उसे शास्त्र से निषिद्ध कहा जाता है । अपने कुल को कलंक लगे, अपनी आत्मा का अहित हो वैसे कार्य करनेवाले धर्म के लिए अयोग्य हैं, क्योंकि उन्हें धर्म प्रदान करने से धर्म की निंदा होने की संभावना रहती है । इसी कारण सूत्र, अर्थ वगैरह धर्म करने वाले इहलोक या परलोक के विरुद्ध कार्य करने वाले नहीं होने चाहिए, अपने कुल के लिए उचित और अनुकूल जीवन व्यवहार करने वाले होने चाहिए ।

सूत्र पढ़ने के एवं धर्म के अधिकारी के लिए अर्थी, समर्थ और शास्त्र में अनिषिद्ध ऐसे जो लक्षण बताएँ गये हैं, वे ऐसे जीवों को ही लागू होते हैं, जिनमें सूत्रादि के प्रति बहुमान का परिणाम हों, सूत्र और अर्थ पढ़ने की शास्त्र में बताई गई विधि का पालन करने की तत्परता हों और जिनका जीवन व्यवहार औचित्यपूर्ण हों ।

संसार में भी जो जीव जिसका अर्थी होता है वह जीव उसके प्रति बहुमान भाव वाला होता ही है और उस कार्य के लिए समर्थ वही जीव कहलाता है कि, जिसमें विधि के अनुसार कार्य करने की तत्परता हो । इसके अलावा कार्य के लिए निषेध उसको नहीं किया जाता जिसका अन्य व्यवहार भी योग्य हो ।

सूत्रादि धर्म के प्रति हमारे मन में बहुमान का परिणाम है कि नहीं, उसका निश्चय करने के लिए शास्त्रकारों ने निम्नलिखत पाँच लक्षण बताए हैं ।

**बहुमान भाव के पाँच लक्षण :**

**१. तत्कथाप्रीति :**

जिस व्यक्ति को, जिस वस्तु के प्रति बहुमान भाव होता है, उस वस्तु के विषय में बात-चीत करने से वह व्यक्ति कभी ऊबता नहीं है । वैसे ही चैत्यवंदन के सूत्र को पढ़ने वाले या चैत्यवंदन की क्रिया करनेवाले को भी चैत्यवंदन के सूत्र के अर्थ विषयक बात करने में थकान या आलस न आए बल्कि आनंद आए तो समझना चाहिए कि चैत्यवंदनादि के प्रति बहुमान है, ऐसे बहुमानवाले ही चैत्यवंदन के अर्थी कहलाते हैं ।

**२. निंदा का अश्रवण :**

जो चीज अच्छी लगती है, उसकी कोई निंदा करे, तो वह निन्दा सुनना अच्छा नही लगता । वैसे ही चैत्यवंदन या उसके सूत्रों के प्रति बहुमान वाले भी, चैत्यवंदन की, चैत्यवंदन बतानेवाले की या करनेवाले की निंदा नहीं सुन सकते ।

**३. निंदक के ऊपर दया :**

चैत्यवंदन के सूत्रों के प्रति बहुमानवाले व्यक्ति को चैत्यवंदन की निंदा करनेवाले व्यक्ति के ऊपर दया आती है । वह ऐसा सोचता है - "इस बिचारे को ऐसी किंमती चीज की कोई कदर नहीं है । ऐसी उत्तम चीज से यह जीव वंचित रह गया है । निंदा करके वह अपना संसार का परिभ्रमण बढ़ा रहा है । वह इन सूत्रों और इस क्रिया के महत्त्व को समझे तो अच्छा है।' इस तरह वह उसके प्रति दया का भाव प्रकट करता है।

**४. चित्तन्यास :**

'जो चीज अच्छी लगे, उसमें मन लगा रहता है' - ऐसी लोकोक्ति है और यह

ठीक ही है । जो वस्तु या जो व्यक्ति जिसे अच्छा लग जाता है उसमें अपने चित्त को लगाने में मेहनत नहीं करनी पड़ती, चित्त वहाँ स्थिर हो ही जाता है; वैसे ही चैत्यवंदन के सूत्र के अर्थ के प्रति बहुमानवाली आत्मा का चित्त उन-उन सूत्रों में और उनके अर्थ में सहजता से स्थिर हो जाता है ।

**५. परा जिज्ञासा :**

एक बार जहाँ मन लग जाए, उसके विषय में अनेक प्रश्न मन में उठते हैं, उसकी विशेषता समझने की इच्छा सहज भाव से ही हो जाती है, वैसे ही चैत्यवंदन के सूत्रों के प्रति बहुमानवाली आत्माओं को चैत्यवंदन विषयक गहरा ज्ञान पाने की तीव्र इच्छा होती है ।

जहाँ अर्थीपन हो वहाँ बहुमान भाव को व्यक्त करनेवाले ये लक्षण स्वाभाविक देखने को मिलते हैं। इन पाँचों लक्षणों के द्वारा चैत्यवंदन के ऊपर या चैत्यवंदन के सूत्रों के ऊपर और चैत्यवंदन के अनुष्ठान बतानेवाले अरिहंत प्रभु के ऊपर बहुमान है या नहीं, यह जानने के बाद योग्य आत्माओं को सूत्रादि प्रदान करना चाहिए ।

सूत्रादि के लिए समर्थ वे जीव कहलाते हैं, जो विधि मार्ग में परायण हों । सूत्रादि धर्म का सामर्थ्य जानने के लिए शास्त्र में विधि परायण के निम्न लिखित लक्षण बताए हैं ।

**विधिपरायण के पाँच लक्षण :**

**१. गुरुविनय :**

इष्ट वस्तु जहाँ से प्राप्त होती है, उसके प्रति संसारी जीव विनयादि करते हैं, वैसे ही चैत्यवंदन पर बहुमानवाले जीव भी चैत्यवंदन सूत्र के दायक ऐसे सद्गुरु भगवंतों के प्रति उचित विनयादि करते हैं ।

**२. सत्काल अपेक्षा :**

जगत् में जो कार्य जिस समय करना हो, उसका अर्थी उसी समय उसके

लिए प्रयत्न करता है । जैसे धान्य का अर्थी वर्षाकाल में खेती के लिए प्रयत्न करता है, वैसे ही चैत्यवंदन के सूत्रों के अर्थ जानने की इच्छावाले भी योग्य समय पर ही पढ़ने की इच्छावाले होते है अर्थात् अकाल में अध्ययन न करना और काल में अवश्य अध्ययन करना यह सत्काल की अपेक्षा है । इस प्रकार समय को समझनेवाले ही समर्थ माने जाते हैं ।

**३. उचित आसन :**

सूत्र ग्रहण की विधि में परायण साधक, श्रुत ग्रहण के लिए जो उचित आसन हो, उस आसन में ही बैठते हैं ।

**४. युक्तस्वरता :**

व्यवहार को जाननेवाले व्यवहार में प्रसंगानुसार योग्य तरीके से बोलते हैं, वैसे ही विधि परायण आत्माएँ भी चैत्यवंदन के सूत्रों के ह्रस्व, दीर्घ, संयुक्ताक्षर आदि का ध्यान रखते हुए, उपयोग पूर्वक, किसी की भक्ति में विघ्न डाले बिना और अपने भाव को सुरक्षित रखते हुए धीर गंभीर और मंद स्वर में बोलते हैं ।

**५. पाठोपयोग :**

विधि परायण आत्माएँ चैत्यवंदन के सूत्रों को बोलते समय उपयोग वाली होती हैं, उसके सिवाय जहाँ-तहाँ उपयोग वाली नहीं होती ।

विधि परायण आत्माओं में उपर्युक्त पाँच लक्षण देखने को मिलते हैं । इन लक्षणों के द्वारा जीव में सूत्रादि के लिए अपेक्षित सामर्थ्य है या नहीं उसका निर्णय करके उसको सूत्रादि प्रदान करना चाहिए ।

सूत्रादि धर्म के प्रति बहुमान वाली आत्मा विधि में परायण होती है और विधि में परायण आत्मा हमेशा इस लोक संबंधी कार्य में और परलोक संबंधी कार्य में अपने औचित्य का विचार करके ही प्रवृत्ति करती है । सूत्र ग्रहण करनेवाली आत्मा में ऐसा औचित्य है कि नहीं, इसका निर्णय करने के लिए शास्त्र में उचित प्रवृत्ति के ये पाँच लक्षण बताएँ हैं -

## उचित प्रवृत्ति करनेवाले के पाँच लक्षण :

### १. लोकप्रियता :

छोटे-बड़े सभी के साथ उचित व्यवहार करनेवालों को सभी चाहते हैं । उसकी उपस्थिति सभी को आनंददायक लगती है । इसीलिए औचित्य पालन सब गुणों में श्रेष्ठ माना गया है । औचित्यपालक जीव ही लोकप्रिय बन सकता है ।

**औचित्यंये विजानन्ति, सर्वकार्येषु सिद्धिदम् ।**
**सर्वप्रियंकरा ये च, ते नरा विरला जने ।।**

- योगसार - ५-१०

**अर्थ :** सभी कार्य में सिद्धि प्रदान करवाने वाले जो औचित्य को जानते हैं और जो सबका प्रिय करनेवाले हैं, ऐसे मनुष्य इस लोक में विरल (थोड़े) ही होते हैं ।

**औचित्यं परमं बन्धुरौचित्यं परमं सुखम् ।**
**धर्मादिमूलमौचित्य-मौचित्यं जनमान्यता ।।**

- योगसार - ५-११

**अर्थ :** औचित्य श्रेष्ठ (गुण) है, औचित्य श्रेष्ठ सुख है । धर्म का मूल औचित्य है और औचित्य ही लोकमान्यता प्राप्त करवाता है ।

### २. अनिंदित क्रिया :

औचित्य को सम्यग् प्रकार से जाननेवाली आत्मा लोक में निंदा का कारण बनें, वैसी हिंसा, परस्त्रीगमनादि प्रवृत्ति कभी नहीं करती ।

### ३. संकट में धैर्य :

अपने औचित्य को जाननेवाले ही सैकड़ों विघ्नों या संकट आने पर भी मन में धीरज रख सकते हैं और प्रतिकूलता में भी मन प्रसन्न रख सकते हैं। विघ्न आने पर भी वे अपने कर्तव्य या धर्म से लेश मात्र भी विचलित नहीं होते । धीरज खोकर विह्वल हो जाना, एक अनुचित प्रवृत्ति है और

सत्त्वहीनता का प्रदर्शन है । सत्त्वहीन पुरुष ही संकट में अपने कर्तव्य का विचार छोड़कर दूसरों को अपराधी मानता है । ऐसी अधीरता या सत्त्वहीनता उचित प्रवृत्ति करनेवाले जीवों में नहीं होती ।

**४. शक्तिपूर्वक का त्याग :**

शक्ति अनुसार त्याग किए बिना औचित्य युक्त जीवन जीना शक्य नहीं बनता, इसीलिए औचित्य से युक्त जीव धर्मक्रिया में शक्ति छिपाए बिना - प्रामाणिकता से अपनी शक्ति का विचार करके धर्मकार्य करता है, वैसे ही शक्ति से अधिक कोई कार्य नहीं करता और शक्ति से कम भी कार्य नहीं करता ।

**५. लब्धलक्ष्यता :**

सांसारिक क्षेत्र में सर्वत्र दिखाई देता है कि, जिस व्यक्ति का लक्ष्य निश्चित होता है, वह अपने लक्ष्य के अनुरूप उचित क्रिया करता है, वैसे ही जिस साधक का मोक्षप्राप्ति का याने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट करने का लक्ष्य निश्चित होता है, वह साधक सर्वत्र अपने लक्ष्य के अनुरूप कषाय को स्पर्श किए बिना उचित प्रवृत्ति करता है, इसलिए लब्धलक्ष्य व्यक्ति चैत्यवंदन का अधिकारी कहलाता है ।

शुद्ध चैत्यवंदन करने की इच्छावाले प्रत्येक साधक को यह पंद्रह गुण प्राप्त करने के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ।

## चैत्यवंदन के लिए योग्य चित्त :

चैत्यवंदन के प्रारंभ से पहले चैत्यवंदन क्रिया के योग्य मानसिक स्थिति का निर्माण करने के लिए साधक सोचता है,

*"अरिहंत की वंदना स्वरूप यह चैत्यवंदन चिंतामणिरत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक फलदायक है, क्योंकि चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष तो परिमित और अल्पकालीन सुख ही दे सकते हैं, जबकि यह चैत्यवंदन तो अपरिमित और अनंतकाल रहनेवाला सुख देता है, इसीलिए उसके आगे इन दोनों की कोई किंमत नहीं है और परमात्मा*

*को की हुई वंदना सकल कल्याण का कारण है । मिथ्यात्व रूपी जल से भरा हुआ और अनेक कुमत रूपी जलचर जीवों से व्याप्त इस संसारसमुद्र में यहाँ से वहाँ टकराते, विकल्पों के जाल में फसतें, आपत्ति के पत्थरों से टूटते, आयुष्य भी जहाँ क्षण दो क्षण में विनाश हो सकता है, ऐसे संसार में मनुष्यत्व प्राप्त करके भी बहुत जीवों को जो प्राप्त नहीं हुआ, वैसा परमात्मा का वंदन मेरे किसी परम भाग्योदय से आज मुझे प्राप्त हुआ है । सचमुच.... आज मैं धन्य बना हूँ, आज मैं कृतार्थ बना हूँ । इस जगत में करने योग्य कार्य हो तो यही है, इसके सिवाय कुछ भी करने योग्य नहीं है ।"*

चैत्यवंदन से पूर्व अंतर को भावित करके, रोमांचित बनकर साधक को १७ गुण से युक्त लेश मात्र दोष न लगें, उस प्रकार से चैत्यवंदन विषयक सूत्र बोलने चाहिए ।

## चैत्यवंदन के सूत्रों को किस प्रकार बोलना चाहिए :

सूत्र के शुद्ध उच्चारण के लिए अनुयोगद्वार नाम के आगम ग्रंथ में निम्नलिखित १७ मुद्दे बताए गए हैं ।

१. **सिक्खियं** (शिक्षितम्=सीखा हुआ) आदि से अंत तक शब्द से और अर्थ से सीखा हुआ होना चाहिए ।

२. **ठियं** (स्थितम्=स्थिर हुआ) सीखने के बाद विस्मृत न हो जाए, इसके लिए सूत्र स्वाध्याय द्वारा हृदय में स्थिर किया होना चाहिए ।

३. **जियं** (जितम्=धारणा से जीता हुआ) स्वाध्याय करते समय अथवा कोई बोलने को कहे तो तुरंत ही आदि से अंत तक अखंडित और अस्खलित प्रकार से बोला जा सके, उस प्रकार से सूत्र तैयार किया हुआ होना चाहिए ।

४. **मियं** (मितम्=अक्षरों की संख्या से मापा हुआ) सूत्र के पद तथा गुरु-लघु अक्षरों की संख्या निश्चित प्रकार से जानी हुई होनी चाहिए ।

५. **परिजियं** (परिजियम्=सब प्रकार से आत्मसात् किया हुआ) आनुपूर्वी

और पश्चानुपूर्वी से बार-बार याद किया हुआ, वैसे ही पहले से, अन्त से या बीच से कहीं से भी शुरू करके बोला जा सके, उस प्रकार से तैयार किया हुआ होना चाहिए ।

उसमें **आनुपूर्वी** : अर्थात् नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं... ऐसा सीधा क्रम

तथा

**पश्चानुपूर्वी** : अर्थात् नमो आयरियाणं, नमो सिद्धाणं, नमो अरिहंताणं... ऐसा उलटा क्रम

६. **नामसमं** (नामसमम्=अपने नाम की तरह याद रखा हुआ) सूत्र को अपने नाम की तरह याद रखा हो तो अचानक ही निंद में से उठकर भी बोलना हो तो बोला जा सके, उस प्रकार याद रखा हुआ होना चाहिए ।

७. **घोससमं** (घोषसमम्=जिन अक्षरों का जैसा घोष हो, वैसे ही घोष से स्पष्ट उच्चारण होना चाहिए) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ऐसे तीन प्रकार के घोष हैं । गुरु के कहने के अनुसार उदात्त, अनुदात्त, स्वरित में से यथोक्त उच्चारणपूर्वक सीखा हुआ होना चाहिए ।

८. **अहीणक्खरं** (अहीनाक्षरम्=कम अक्षर वाला नहीं) पूरे अक्षरों के साथ बोला जाता हो, एक भी अक्षर का उच्चारण कम न होता हो ।

९. **अणच्चक्खरं** (अनत्यक्षरम्=अधिक अक्षरोंवाला नहीं) सूत्रों में हो उतने ही अक्षरों का उच्चारण होता हो, एक भी अक्षर ज्यादा न बोला जाता हो ।

१०. **अव्वाइद्धक्खरं** (अव्याविद्धाक्षरम्= टेढ़े-मेढ़े किए बिना) टेढी-मेढ़ी रखी हुई रत्नमाला में अव्यवस्थित रत्नों की तरह सूत्र के अक्षर इधर-उधर किए बिना व्यवस्थित प्रकार से तैयार किया हुआ होना चाहिए ।

११. **अक्खलियं** (अस्खलितम्=स्खलना रहित) जहाँ अटकने की ज़रूरत नहीं है, वहाँ जरा भी अटके बिना, बीच में अं... अं... न हो इस प्रकार से बोला जा सके वैसा होना चाहिए ।

१२. **अमिलियं** (अमिलितम्=एक-दूसरे में मिले बिना) सूत्र के अक्षर एक दूसरे के साथ मिल जाए, क्या बोल रहे हैं, वह समझ में ही न आए ऐसा नहीं, परन्तु सूत्र के सभी अक्षर अलग-अलग स्पष्ट रूप से बोलने चाहिए ।

१३. **अवच्चामेलियं** (अव्यत्याम्रेडितम्=बहुत तोड़-मरोड़कर नहीं बोलना चाहिए) दूसरे सूत्रों जैसी दीखती गाथा या पदों की मिलावट किए बिना या, उसी सूत्र की गाथा या पद आगे-पीछे किए बिना, क्रम से बोलना चाहिए ।

१४. **पडिपुण्णं** (प्रतिपूर्णम्-संपूर्णं) सूत्र में शब्द, अक्षर, मात्रा वगैरह हों, उतने सब पूर्णतया बोले जाए, और एक ही पद बार बार न बोला जाय।

१५. **पडिपुण्णघोसं** (प्रतिपूर्णघोषम्=उदात्त आदि घोष वाला) स्वाध्याय करते समय उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के घोषपूर्वक बोला हुआ। घोषसमं पद में सूत्र पढ़ते समय की बात है । जब कि इस पद में स्वाध्याय करते समय की बात है, यह फ़र्क ध्यान में रखना चाहिए ।

१६. **कण्ठोट्ठविप्पमुक्कं** (कण्ठौष्ठविप्रमुक्तम्=गले या होठ को बराबर खुला करके) क-ख-ग वगैरह कंठ्य वर्ग के अक्षरों का उच्चारण स्थान कंठ है, अर्थात् क-ख-ग वगैरह अक्षर नाक से नहीं, बल्कि गले से बोले जाने चाहिए । उसी तरह तालव्य, मूर्धन्य, दंत्य और औष्ठ्य वर्ग के अक्षर भी अपने-अपने उच्चारण स्थल से ही बोले जाने चाहिए । जैसे बालक और तुतके आदमी की भाषा समझ में नहीं आती वैसे सूत्र के अक्षरों का उच्चारण, गला या होंठ दबाकर या बंद करके, ऐसे बोला जाय कि वह समझ में ही न आए, ऐसे नहीं बोलना चाहिए, गला और होठ खुल्ला रखकर अक्षर स्पष्ट रूप से समझे जा सके, ऐसे बोलने चाहिए ।

१७. **गुरुवायणोवगयं** (गुरुवाचनोपगतम्=गुरु के दिए (पाठ) के अनुसार पाठांतर किए बिना) सूत्रपाठ गुरु द्वारा दी हुई वाचना के अनुसार ही होना चाहिए । काल, विनय वगैरह ज्ञानाचार के सेवनपूर्वक, सूत्रपाठ गुरु महाराज के मुख से धारण किया हुआ या लिया हुआ होना चाहिए । कान

में पड़ने से सीखा हुआ या पुस्तक में से अपने आप पढ़ा हुआ और पाठ के बदलाव वाला नहीं होना चाहिए ।

ऐसे १७ विशेषणयुक्त सूत्र का उच्चारण करना चाहिए ।

## चैत्यवंदन के सूत्रों को पढ़ने की विधि :

चैत्यवंदन के सूत्र के प्रत्येक पद का अर्थ करने से पहले, शास्त्र में विहित छ : लक्षण और सात कारण जान लेने चाहिए। इन छः प्रकारों को ध्यान में रखे बिना किसी भी सूत्र के पद का अर्थ घटन समीचीन नहीं हो सकता ।

**१. संहिता :** पद का स्पष्ट उच्चारण, संहिता है । संस्कृत-प्राकृत भाषा में बने सूत्र के एक-एक शब्द को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि यथा योग्य प्रकार से बोलना होता है । उसे बोलते समय कोई दोष न लगे, उसका ध्यान रखकर बोलना, यही संहिता है । यह सूत्र कैसे बोलना चाहिए, यह गुरुमुख से जानना जरूरी है । विनयपूर्वक गुरु से जानकर अगर उसी प्रकार से सूत्र बोला जाए तो पद बोलनेवाले और सुननेवाले को श्रवणकाल में ही पद का अर्थ स्पष्ट होने लगता है ।

**२. पद :** जिस सूत्र की व्याख्या करनी हो, उसके एक-एक पद को अलग करना पद है । जैसे कि, नमोऽत्थुणं अरिहंताणं' का अर्थ करते समय **'नमो, ऽत्थु, णं, अरिहंताणं'** ऐसे प्रत्येक पद अलग करना पद है।

**३. पदार्थ :** अलग किए हुए प्रत्येक पद के अर्थ का सम्यक् चिन्तन करना पदार्थ है, जैसे कि 'नमो' अर्थात् 'नमस्कार', 'अत्थु' याने 'हो' इत्यादि ।

**४. पद विग्रह :** पद में यदि कोई सामासिक पद हो, तो उस समास का विग्रह करना - सामासिक पद को अलग करना; पद विग्रह है ।

**५. चालना :** जिज्ञासा वृत्ति से प्रश्न करना चालना है ।

**६. प्रत्यवस्थान :** प्रश्न के सचोट समाधान करके पद का तात्पर्यार्थ जानना प्रत्यवस्थान है ।

सूत्र का अर्थ समझते समय इन छः मुद्दों को ध्यान में रखना चाहिए। इन छः लक्षणों के जिज्ञासा आदि ७ कारण भी बताए गये हैं । इन ७ अंगों के बिना तात्त्विक तौर से सूत्र की व्याख्या (अर्थ) समझी नहीं जा सकती । उसके बिना सूत्र का शाब्दबोध हो सकता है, परंतु सूत्र के तात्त्विक भावों तक नहीं पहुँचा जा सकता । इसलिए चैत्यवंदन सूत्रों के अर्थ सीखने से पहले निम्नोक्त गुण अपने में उत्पन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

**१. जिज्ञासा :** जानने की इच्छा - चैत्यवंदन करके मुझे कौन से भाव उत्पन्न करने हैं - यह जानने की अभिलाषा होनी चाहिए ।

**२. गुरुयोग :** वास्तविक अर्थ को बतानेवाले, परोपकार में लगे हुए, दूसरों के आशय को जाननेवाले ऐसे सद्गुरू के साथ सम्यक् संबंध होना चाहिए; तभी सूत्र के भाव तक पहूँचने का ज्ञान मिल सकता है।

**३. विधिपरता :** गुरुमूख से सूत्रों के अर्थ सीखते समय मुडली में व्यवस्थित बैठना, गुरु का आसन बिछाना, अन्य सभी विक्षेपों का त्याग करना और उपयुक्त बनकर ध्यान से गुरु की वाचना सुनना; यह अर्थ का ज्ञान लेने की विधि है ।

**४. बोध की परिणति :** अर्थ का ज्ञान पाकर उसे स्थिर करना चाहिए एवं यह ज्ञान कुतर्को से मुक्त तथा मार्गानुसारी होना चाहिए ।

**५. स्थैर्य :** ज्ञान की समृद्धि का अभिमान नही होना चाहिए, दूसरों की मश्करी न हो, विवाद न हो, कम समझनेवालों की बुद्धि में भ्रम पैदा न हो उसका ध्यान रखना चाहिए ।

**६. तथा उक्त क्रिया :** शास्त्र में जिस तरह क्रिया करने को बताया गया हो उसी तरह से क्रिया करनी चाहिए ।

**७. अल्प भवता :** एक पुद्गल परावर्त के बराबर अल्प काल का संसार भ्रमण बाकी होना चाहिए ।

जिस व्यक्ति में उपर्युक्त ७ अंग होते हैं वही, सूत्रों के तात्पर्य तक पहुँच सकता है याने उसमें ही ज्ञान परिणत होता है ।

# सकलकुशलवल्ली सार्थ

**सूत्र परिचय :**

यह स्तोत्र किसने बनाया, कब से चैत्यवंदन में शामिल हुआ, उस के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता, परंतु इस स्तोत्र में सामान्य जन समझ सकें, ऐसी भाषा में परमात्मा के गुणों का वर्णन है, इसी लिए गीतार्थ गुरुभगवंतों ने चैत्यवंदन के प्रारंभ में इस सूत्र को बोलना शुरू किया होगा, ऐसा अनुमान है ।

लोकोक्ति ऐसी है कि, श्री विजयप्रभसूरी म.सा. को जब आचार्यपदवी प्रदान की गई तब सहज उनके मुख से यह श्लोक निकला था । इसका अगर जानकारी पूर्वक अर्थ किया जाय तो इसमें सुवर्ण सिद्धि हो सकती है।

वर्तमान काल के प्रचलित व्यवहार के अनुसार चैत्यवंदन के प्रारंभ में ही यह स्तोत्र बोला जाता है । छोटे से इस स्तोत्र में अचिंत्य शक्तियुक्त शांतिनाथ भगवान के पाँच विशेषणों द्वारा स्तवना की गई है । इन पाँच विशेषणों से विशिष्ट अरिहंत परमात्मा को हृदयस्थ करके, अगर उनके प्रति अत्यंत आदरपूर्वक हम इस स्तोत्र के एक-एक शब्द को बोलें, तो हमारा परमात्मा के प्रति आदरभाव बढ़ता है । उनकी परमोपकारिता आदि गुण

नज़र के सामने तैरने लगते हैं और ऐसे नाथ का शरण स्वीकार कर स्व-पर के श्रेय की इच्छा तीव्र-तीव्रतर बनती है ।

**मूल सूत्र :**

**सकलकुशलवल्ली-पुष्करावर्तमेघो,**
**दुरिततिमिरभानुः, कल्पवृक्षोपमानः ।**
**भवजलनिधिपोतः, सर्वसंपत्तिहेतुः,**
**स भवतु सततं वः, श्रेयसे शांतिनाथः ।।१।।**

**अन्वय सहित शब्दार्थः**

***सकलकुशलवल्ली-पुष्करावर्तमेघो, दुरिततिमिरभानुः, कल्पवृक्षोपमानः ।***
***भवजलनिधिपोतः, सर्वसंपत्तिहेतुः स शांतिनाथः सततं वः श्रेयसे भवतु ।।***

सर्वकल्याणरूप फल देनेवाली लता को सींचनेवाले पुष्करावर्त मेघ के जैसे, पाप रूपी अंधकार का नाश करने में सूर्य समान, कल्पवृक्ष के समान, संसार समुद्र से तैरने के लिए जहाज तुल्य (और) सर्वसंपत्ति के कारणभूत ऐसे शांतिनाथ भगवान निरंतर आप सब का कल्याण करें ।

**विशेषार्थ :**

**सकलकुशलवल्लीपुष्करावर्तमेघो** - प्रभु सकल कुशलरूप फल को देनेवाली लता को सींचनेवाले पुष्करावर्त मेघ जैसे हैं ।

इस स्तोत्र में स्तोत्रकार ने पाँच विशेषणों द्वारा परमात्मा की स्तुति की है । उसमें सर्वप्रथम परमात्मा को सकल कुशल की वेली के लिए पुष्करावर्त मेघ जैसे कहे हैं । पुष्करावर्त मेघ याने बहुत आवर्तो के साथ बरसने वाली वर्षा । जब बहुत समय तक ऐसी बारीश होती है, तब उस बारीश का पानी जमीन में बहुत गहराई तक पहुँचता है, उससे जमीन इतनी नरम और उपजाऊ बन जाती है कि फिर अगर १०००० वर्ष तक भी उस जमीन पर बारीश न हो, तो भी वहाँ बीज बोने से वर्षों तक फल की प्राप्ति होती रहती है ।

परमात्मा की वाणी ऐसे पुष्करावर्त मेघ जैसी है । उसका मनन-चिंतन-पालन करने से साधक में ऐसे संस्कारों का वपन होता है, जिससे वह अल्प समय में अनंत सुखों का स्वामी बन जाता है । जब तक ऐसा सुख न मिले तब तक भौतिक और आध्यात्मिक सुख की परंपरा चलती रहती है, इसलिए परमात्मा को सर्व कुशलरूप फल को देनेवाली लता के विकास के लिए पुष्करावर्त्त मेघ जैसा कहा है ।

सकल कुशल याने सर्व प्रकार का कुशल । कुशल शब्द का अर्थ है कल्याण - सुख - क्षेम । जगत के प्रत्येक जीव कल्याण और सुख को चाहते हैं । सामान्यतया सुख दो प्रकार के माने जाते हैं - भौतिक और आध्यात्मिक । उसमें भौतिक सुख पराधीन और दुःख में परिवर्तित होनेवाला मात्र भ्रामक सुख है, जब कि आध्यात्मिक सुख स्वाधीन और अविनाशी परम आनंद तक पहुँचानेवाला वास्तविक सुख है ।

क्षमादि गुणों के विकास और क्रोधादि दोषों के विनाश के बिना कोई जीव इस वास्तविक सुख का अनुभव नहीं कर पाता । जो शांतिनाथ भगवान के गुणों को उपस्थित करके उनका ध्यान करते हैं, उनके वचनों का सतत श्रवण-चिंतन-मनन करते हैं, उनके जैसे गुणों को प्राप्त करने के लिए भजन-कीर्तन करते हैं, उनकी आज्ञा का पालन करते हैं, उनका हृदय मैत्री, प्रमोद, करुणादि शुभभावों से भीग जाता है । शुभ भावों से भीगी हुई उस हृदयभूमि में क्षमा, मृदुता आदि गुणों की बेल का साहजिक विकास होता है, इसलिए परमात्मा की मेघ के साथ तुलना की गई है । इसके अतिरिक्त, परमात्मा के ध्यानादि से साधक की आत्मा में ऐसे संस्कार पड़ते हैं और ऐसा पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है कि कभी भविष्य में उस गुणरूपी बीज को अन्य कोई सामग्री न मिलें, तो भी अनेक भव तक उसका विकास होता ही रहता है, इसलिए भगवान को सामान्य मेघ नहीं परंतु पुष्करावर्त्त मेघ तुल्य कहा गया है । प्रभु के वचनरूपी वर्षा से सींची हुई गुण रुप बेल ही सकल सुख को देनेवाली है, पुण्यानुबंधी पुण्य के द्वारा

वह भौतिक सुख का कारण बनती है और कषायों के नाश द्वारा आध्यात्मिक सुख का कारण बनती है, इसीलिए वह सकल कुशलरूप फल को देनेवाली लता कही गई है ।

याद रखें कि, पुष्करावर्त मेघ भी योग्य भूमि को ही भीगोकर उपजाऊ बना सकता है । मगशेलिये पत्थर को तो वह भी नहीं भीगो सकता । बस, उसी प्रकार परमात्मा भी श्रद्धा से कोमल बने हुए आस्तिक हृदय का ही कल्याण करते हैं, नास्तिक का नहीं ।

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है,

*"पुष्करावर्त मेघ तुल्य भगवान सतत कृपा की वर्षा कर रहे है, उनके वचन का पानी सतत बह रहा है, परंतु इस पानी को पाने के लिए हृदय रूप धरती में श्रद्धा रूप मिट्टी तो होनी चाहिए ना ? यदि मेरे हृदयमें प्रभु के प्रति आस्था न हो, जिन वचन के प्रति श्रद्धा न हो, तो यह कृपा का पानी मेरा कल्याण कैसे करेगा ? इसीलिए पहले मैं अपने हृदय को श्रद्धा रूप मिट्टी जैसा कोमल बनाऊँ ।"*

**दुरिततिमिरभानु :-** पाप रूप अंधकार (का नाश करने) के लिए सूर्य तुल्य (वे शांतिनाथ भगवान सदैव तुम्हारे श्रेय के लिए हो ।)

दुरित मतलब पाप । पाप को यहाँ अंधकार की उपमा दी गई है, क्योंकि अंधकार में आदमी यहाँ-वहाँ लड़खड़ाता है, टकराता है और दुःखी होता है। वैसे ही पापी आत्मा भी इस संसार में अनंतकाल तक इधर-उधर लड़खड़ाती रहती है, टकराती है और दुःखी होती है, परंतु उसको सच्चे सुख की दिशा नहीं मिलती ।

ऐसे पाप रूपी अंधकार का नाश करने के लिए भगवान भानु याने सूर्य जैसे हैं । सूर्य का उदय होने पर जैसे-जैसे प्रकाश की किरणें पृथ्वी तल के ऊपर प्रसरती हैं, वैसे-वैसे अंधकार का नाश होता है, उसी तरह अरिहंत परमात्मा का इस धरती पर अवतार होने के बाद जैसे-जैसे उनकी

वचनरूपी किरण भव्यात्मा रूपी भूमि के ऊपर फैलती है, वैसे-वैसे पाप रूपी अंधकार दूर होता है ।

यहाँ खास ध्यान रखना है कि, सूर्य की किरणें भी छिद्रयुक्त भूमि में ही प्रवेश करपाती हैं । निश्छिद्र भूमि पर फैलकर वे अंधकार का नाश नहीं कर सकती हैं, वैसे ही भगवान के वचन भी कर्मविवरयुक्त आत्मा में ही प्रवेश पाकर पाप का नाश कर सकते हैं । जो कर्मों से लदे हैं, जिनके कर्म के आवरण में कहीं विवर (छेद) नहीं है, वैसी आत्माओं में ये वचन रूपी किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं, इसीलिए उनके पाप रूप अंधकार का नाश भी नहीं होता ।

यह पद बोलते हुए सोचना चाहिए,

*"भगवान की कृपा को प्राप्त करने के लिए भी सबसे पहले मुझे अपने कर्मों को कुछ अंश में तो नाश करना ही पड़ेगा और यह भगवान की भक्ति से ही हो सकता है । अतः मैं भगवान की द्रव्य से भी भक्ति करके अपने कुछ कर्म का नाश करूँ, जिससे प्रभु मेरे लिए जरूर पाप और अज्ञान का नाश करनेवाले सूर्य बन सकें ! और मैं ज्ञान प्राप्त करके जगत् की वास्तविकता को देखकर, संसार से पर होकर आत्म स्वरूप को प्रगट कर सकूँ ।"*

**कल्पवृक्षोपमान :-** कल्पवृक्ष की उपमावाले (वे शांतिनाथ भगवान सदैव तुम्हारे श्रेय के लिए हों !)

विधिपूर्वक सेवा करके, यथायोग्य याचना करनेवाले को जो चाहिए, वह देनेवाला वृक्ष कल्पवृक्ष कहलाता है । जैसे कल्पवृक्ष की छाया में बैठकर व्यक्ति मन में जिसका संकल्प करता है, वह वस्त्र, अलंकार, भोजन आदि कोई भी भौतिक सामग्रियाँ कल्पवृक्ष प्रदान करता है, वैसे ही भावपूर्वक देवाधिदेव परमात्मा की भक्ति करनेवाले को भी उस भक्ति के प्रभाव से मनोवांछित की प्राप्ति होती है। इसलिए स्तुतिकार ने परमात्मा को कल्पवृक्ष की उपमा दी है, परंतु भगवान और कल्पवृक्ष में बहुत अंतर है । कल्पवृक्ष

माँग करनेवाले व्यक्ति को अपनी मर्यादा के अनुसार वस्त्र, पात्र, अलंकार वगैरह भौतिक सामग्रियाँ देता है, जब कि भगवान के पास भक्त को कभी माँगना नहीं पड़ता । माँगे बिना ही भगवान की भक्ति पराकाष्ठा के ऐहिक-भौतिक सुख तो देती है; पर साथ ही सीमातीत आत्मिक सुख भी देती है । इसीलिए वास्तव में तो भगवान को कल्पवृक्ष से भी ज्यादा विशेष वस्तु की उपमा देनी चाहिए । परन्तु उससे भी बढ़कर इस जगत में दूसरी चीज़ नहीं है, इसलिए यहाँ भगवान को कल्पवृक्ष की उपमा दी गई है ।

यह पद बोलते समय साधक को खास सोचना चाहिए -

*"कल्पवृक्ष भी पुण्यवान को ही फल देता है, दूसरों को नहीं । उसी तरह तीन जगत के नाथ परमात्मा भी जो अपने हिताहित का विचार कर सकें, ऐसी योग्य आत्माओं के लिए ही कल्पवृक्ष तुल्य हैं, जो अपनी आत्मा के हित का विचार नहीं करते, वैसी अयोग्य आत्माओं के लिए परमात्मा कुछ नहीं करते । इसीलिए यदि अपनी आत्मा के हित की चिंता करूँ, आत्महित के लिए इस भगवान की भक्ति करूँ, तो ही भगवान मेरे लिए कल्पवृक्ष के समान हो सकेंगे ।"*

**भवजलनिधिपोत :** संसाररूपी समुद्र को पार करने के लिए नाव तुल्य (शांतिनाथ भगवान हमेशा तुम्हारे श्रेय के लिए हों !)

जैसे जहाज द्वारा बाह्य समुद्र को पार किया जाता है, वैसे ही संसार को भगवान के बताए हुए संयम से पार किया जाता है, इसीलिए भगवान को भवरूपी सागर को पार करने के लिए जहाज तुल्य कहा है । संसार और समुद्र में बहुत समानता होने से शास्त्रकारों ने संसार को समुद्रतुल्य कहा है । बाह्य समुद्र जैसे खारे पानी से भरा होता है, वैसे ही चौदह राजलोक प्रमाण संसार रूपी समुद्र जन्म और जरा रूपी खारे पानी से भरा है । चौदह राजलोक में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है कि, जहाँ जन्म और मृत्यु की संभावना न हो । समुद्र में जैसे बीच में आनेवाले पर्वत मुसाफिर को

सफर नहीं करने देते, वैसे ही संसार में हर कदम पर आने वाली आपत्तियाँ निर्विघ्न जीवन निर्वाह नहीं करने देतीं । समुद्र में जैसे मछली, कछुआ, मगर वगैरह मुसाफिर के लिए मुश्किलें खड़ी करते हैं, वैसे ही संसार में रोग-शोक, संताप वगैरह जीवों को अनेक प्रकार से पीड़ा देते हैं । जैसे समुद्र में बीच-बीच में आनेवाले आवर्त्त पथिक के प्राणों का नाश करते हैं, वैसे ही संसार में क्रोधादि के आवर्त संसारी जीव की शांति और समाधि का विनाश करते हैं । जैसे समुद्र में प्रगट हुआ वडवानल समुद्र के पानी को सोख लेता है, वैसे ही संसारवर्ती प्राणियों में प्रकट होनेवाला काम शरीर की सातों धातुओं और मन को सतत संतप्त रखता है । इस प्रकार संसार और समुद्र के बीच बहुत साम्य होने से संसार को समुद्र के समान कहा गया है।

जबकि, ऐसे संसार का पार पाना असम्भव है, तो भी भगवान द्वारा बताया हुआ संयम रूपी जहाज जो पाँच समिति और तीन गुप्ति रूपी मजबूत लकड़ियों से बंधा हुआ है, क्षमादि दस यतिधर्म से अलंकृत है, मूलगुण रूपी मजबूत तलवाला है, उत्तर गुण से वेगवान बना हुआ है, उस संयम रूपी दृढ जहाज का जो सहारा लेते हैं, वे आसानी से इस संसार सागर को पार कर लेते हैं, इसीलिए भगवान को भवजलनिधिपोत कहा है।

यह पद बोलते भव्यात्मा को सोचना चाहिए -

*"भगवान ने तो इस संसार रुपी समुद्र को पार करने के लिए संयमरुपी जहाज बनाया है। अपनी शक्ति के अनुसार अगर मैं सर्वांग या आंशिक भी इस संयम धर्म का स्वीकार करूँगा, तो ही मैं संसार सागर को पार कर सकूँगा ।"*

**सर्वसंपत्ति हेतु :-** सर्व संपत्ति के कारणभूत (वे शांतिनाथ भगवान सदैव तुम्हारा श्रेय करें !)

संसार में संपत्ति दो प्रकार की होती है - भौतिक और आध्यात्मिक । भौतिक संपत्ति की पराकाष्ठा देवलोक में देवेन्द्र की अवस्था में और मनुष्यलोक में चक्रवर्ती की अवस्था में प्राप्त होती है और आध्यात्मिक सुख की पराकाष्ठा मोक्ष में मिलती है । ये दोनों प्रकार की संपत्ति परमात्मा की भक्ति करनेवालों को ही मिलती है । परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से ही ऐसे पुण्य का बंध होता है, जिसके कारण आत्मा देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र, और चक्रवर्ती पद को प्राप्त कर सकती है और सर्वश्रेष्ठ परमात्मा की भक्ति के प्रभाव से ही असंग दशा को प्राप्त करके साधक सभी कर्मों का क्षय करके मोक्ष के महासुख को भी पा सकता है । परमात्मा की भक्ति से यह सब संपत्ति मिलती है, इसीलिए परमात्मा को सर्व संपत्ति का कारण कहा गया है ।

यह पद बोलते हुए सोचना चाहिए कि,

*"मुझे सुख देनेवाली बाह्य या अभ्यंतर संपत्ति इस प्रभु की सेवा से ही मिलनेवाली है, इसलिए अब मुझे तुच्छ संपत्ति के लिए यहाँ-वहाँ भटकना बंद करके श्रेष्ठ संपत्ति के स्वामी और उसे प्रदान करने में समर्थ प्रभु की भक्ति में ही लीन बनना चाहिए ।"*

**स भवतु सततं वः श्रेयसे शांतिनाथ** : वे शांतिनाथ भगवान सदैव तुम्हारे श्रेय के लिए हों !

ऊपर जिन पाँच विशेषणों द्वारा शांतिनाथ भगवान की स्तवना की, वे शांतिनाथ भगवान (स्तुति करने वाले का) कल्याण करें !!

शांतिनाथ भगवान के जो विशेषण बताये गये हैं, उसी स्वरूप से परमात्मा का स्मरण किया जाए तो सहजता से प्रभु के प्रति आदर और बहुमान भाव प्रकट होता है । जीवन की आवश्यक सामान्य वस्तु देनेवाले व्यक्ति पर भी सज्जन व्यक्ति को सद्भाव हुए बिना नहीं रहता, तो जो सब

प्रकार के कुशल को देनेवाले है, पाप का नाश करनेवाले है, माँगे बिना जिनके पास से सब कुछ मिलता है, उनके प्रति आदर और बहुमान किसे नहीं होता ? समझदार को होता ही है और अपने उस सद्भाव के कारण उनका श्रेय होता है, तो भी कर्ता स्तुति करनेवाले को मानों आशीर्वाद देते हो या उनकी श्रद्धा को मजबूत करते हो, वैसे कहते है कि, 'शांतिनाथ भगवान तुम्हारा भी कल्याण करें !'

इस पद द्वारा कर्ता की विशाल-उदात्त भावना का दर्शन होता है ।

# जगचिंतामणि सूत्र

## सूत्र परिचय :

यह सूत्र एक चैत्यवंदन है । प्रातः काल की आवश्यक क्रिया में इस चैत्यवंदन सूत्र का विशेष उपयोग होने से; इसका दूसरा नाम **"प्राभातिक चैत्यवंदन"** अथवा **"प्रबोध चैत्यवंदन"** भी है ।

चैत्यवंदन अर्थात् चैत्य को वंदन । उसमें "चैत्य" शब्द जिनप्रतिमा, तीर्थ और जिनमंदिर इन तीनों अर्थ में रूढ़ है । इस सूत्र में तीनों की वंदना की गई है, इसलिए इसे चैत्यवंदन सूत्र कहते हैं ।

"चैत्य" शब्द 'चित्त'[1] शब्द से बना है । इसका चित्त संबंधी या चित्त में, ऐसा अर्थ होता है । जिनप्रतिमा, जिनमंदिर आदि चित्त में शुभ भावों को उत्पन्न करने का प्रबल कारण है । कारण में कार्य का उपचार करके जिनप्रतिमा आदि भी चैत्य कहलाते हैं । ऐसे चैत्य को जिस स्तोत्र आदि के माध्यम से वंदन किया जाता है, उसे भी चैत्यवंदन कहते हैं । [2]सम्यक् प्रकार से चैत्यवंदन करने से शुभभाव उत्पन्न होता है। उस शुभभाव से कर्म का क्षय होता है और कर्म का क्षय होने से सभी प्रकार का कल्याण होता है ।

1. चित्तम् - अन्तः करणं, तस्य भावः कर्म्म वा "चैत्यं" । चिद् अनीत अत्मन्निति चैत्यम् ।
- ललित विस्तरा ।

2. चैत्यवंदनतः सम्यक्, शुभो भावः प्रजायते । तस्मात् कर्म्मक्षयः सर्वं, ततः कल्याणमश्नुते ।।
- ललित विस्तरा ।

इस सूत्र द्वारा अष्टापद पर बिराजमान २४ परमात्मा के बिंबों को, उत्कृष्ट काल में विचरते १७० जिनों को, ९ करोड़ केवली भगवंतों को तथा ९ हजार साधु भगवंतों को वंदना की गई है । इसके अलावा अनेक तीर्थ स्थान तथा उन में बिराजमान परमात्माओं और शाश्वत प्रतिमाओं को वंदना की जाती है ।

इस सूत्र के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि, अष्टापद तीर्थ में भरत महाराज द्वारा बनवाए गए २४ जिन बिंबों को देखकर, उनके दर्शन-वंदन करके भाव विभोर बने हुए श्री गौतमस्वामी महाराज ने इस सूत्र की प्रथम दो गाथा बनाई। गौतम महाराज को श्री अरिहंत परमात्मा में रहे हुए आर्हन्त्य का सम्यग् बोध था, इसलिए ऋषभादि २४ बिंबों को देखते ही उनके हृदय में रहे हुए भाव शब्दों में व्यक्त हुए है । अतः आज भी इन शब्दों के माध्यम से जो परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनका हृदय भावयुक्त बनकर अत्यंत निर्मल हुए बिना नहीं रहता ।

प्रातःकाल में, रात्रि - प्रतिक्रमण की शुरुआत में तथा संयमी आत्माएँ, पौषधधारी आराधक वगैरह पच्चक्खाण पारते हुए और आहार करने के बाद मध्याहन के समय जो चैत्यवंदन करते हैं उसमें इस सूत्र का उपयोग करते हैं। प्रातःकाल में जगत् के नाथ, जगत् के रक्षक, जगत् के भावों को जानने में विचक्षण वगैरह विशेषणों द्वारा परमात्मा की स्तवना की हो तो पूरे दिन यह स्मृति में रहता है कि, 'ऐसे नाथ मेरे साथ हैं, ऐसे भगवान का मैं भक्त हूँ। अब मुझे किसी का भय नहीं है । अब मुझे ऐसे परमात्मा के वचनों को स्मरण में रखकर, उनके अनुसार मेरा जीवन जीना है, इससे निश्चित मेरा कल्याण होगा । ऐसे भाव के लिए प्रातःकाल इस सूत्र के माध्यम से परमात्मा की स्तवना की जाती है और दोपहर के समय आहार लेने से पहले और आहार लेने के बाद - प्रकृष्ट कोटि के अप्रमत्त भाव में स्थिर और अणाहारी भाव को पाए हुए परमात्मा आदि की स्मृति द्वारा आहार लेते समय या आहार लेने के बाद हम प्रमादभाव के आधीन न बन जाएँ, ऐसा सत्त्व प्रकट करने के लिए यह चैत्यवंदन किया जाता है ।

**मूल सूत्र :**

इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! चैत्यवन्दन करुं ? इच्छं,

जगचिंतामणि ! जग(ह)-नाह ! जग-गुरु ! जग-रक्खण !

जग-बंधव ! जग-सत्थवाह ! जग-भाव-विअक्खण !

अट्ठावय-संठविअ-रूव ! कम्मट्ठ-विणासण !

चउवीसंपि जिणवर ! जयंतु अप्पडिहय-सासण ! ।।१।।

कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढमसंघयणि,

उक्कोसय सत्तरिसय, जिणवराण विहरंत लब्भइ;

नवकोडिहिं केवलीण, कोडीसहस्स, नव साहु गम्मइ ।

संपइ जिणवर वीस मुणि, बिहुं-कोडिहिं वरनाण,

समणह कोडी-सहस्स-दुअ थुणिज्जइ निच्च विहाणि ।।२।।

जयउ सामिय ! जयउ सामिय ! रिसह सत्तुंजि,

उज्जिंति पहु-नेमिजिण ! जयउ वीर सच्चउरि-मंडण !

भरूअच्छहिं मुणिसुव्वय ! मुहरि (महुरि) पास ! दुह-दुरिअ-खंडण !

अवर विदेहिं तित्थयरा, चिहुं दिसि विदिसि जिं के वि,

तीआणागय-संपइय, वंदु जिण सव्वे वि ।।३।।

सत्ताणवइ-सहस्सा, लक्खा छप्पन्न अट्ठकोडीओ ।

बत्तीस-सय-बासीयाइं, तिअलोए चेइए वंदे ।।४।।

पन्नरस-कोडि-सयाइं, कोडी बायाल लक्ख अडवन्ना ।

छत्तीस सहस असीइं, सासय-बिंबाइं पणमामि ।।५।।

**अन्वय सहित शब्दार्थ :**

***भगवन् इच्छाकारेण संदिसह ! चैत्यवंदन करुं ? इच्छं ,***

*भगवन् इच्छाकारेण संदिशत चैत्यवंदनं कुर्याम् ? इच्छामि !*

हे भगवान ! स्वेच्छा से आप आज्ञा दें मैं चैत्यवंदन करूँ ? आपकी इच्छा प्रमाण है ।

***जग-चिंतामणि ! जग-नाह ! जग-गुरू ! जग-रक्खण !***

*जगच्चिंतामणयः ! जगन्नाथाः ! जगद्गुरवः ! जगद्रक्षणाः !*

जगत् में चिंतामणि रत्नसमान, जगत के नाथ, जगत के गुरु, जगत की रक्षा करनेवाले ।

***जग-बंधव ! जग-सत्थवाह ! जग-भाव-विअक्खण !***

*जगद्बान्धबाः ! जगत्-सार्थवाहाः ! जगद्भाव-विचक्षणाः ! ।*

जगत् के बंधु, जगत् के सार्थवाह, जगत् के सभी भावों को जानने में अत्यंत निपुण ।

***अट्ठावय-संठविअ-रूव ! कम्मट्ठ-विणासण !***

*अष्टापद-संस्थापित-रूपाः ! कर्माष्टक-विनाशनाः !*

अष्टापद पर्वत के ऊपर प्रतिमाएँ संस्थापित हैं जिनकी और आठ प्रकार के कर्म का नाश करनेवाले ।

***अप्पडिहय-सासण ! चउवीसंपि जिणवर जयंतु ।।१।।***

*अप्रतिहत-शासनाः ! चतुर्विंशतिरपिजिनवराः जयन्तु ! ।।१।।*

अखंडित शासनवाले चौबीसों जिनेश्वर जय को प्राप्त करें ।।१।।

***कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढम संघयणि,***

*कर्मभूमिषु कर्मभूमिषु प्रथमसंहननिनां,*

कर्मभूमिओं में प्रथम संघयणवाले ।

***उक्कोसय सत्तरिसय जिणवराण विहरंत लब्भइ,***

*उत्कृष्टतः सप्ततिशतं जिनवराणां विहरतां लभ्यते;*

उत्कृष्ट से १७० जिनेश्वर (एक साथ) विचरते हुए प्राप्त होते हैं ।

***नवकोडिहिं केवलीण, नव सहस्स कोडि साहु गम्मइ ।***

*नवकोटयः केवलिनां, नव सहस्राणि कोटि साधवः गम्यते ।*

नौ करोड़ केवलज्ञानी और नौ हजार करोड साधु प्राप्त होते हैं ।

***संपइ वीस जिणवर बिहुं कोडिहिं वरणाण मुणि,***

*सम्प्रति विंशतिः जिनवराः, द्वे कोटी वरज्ञानिनः मुनयः,*

वर्तमान में बीस तीर्थंकर भगवंत, दो करोड केवलज्ञानी मुनि ।

***सहस्सदुअ कोडी समण विहाणि निच्च थुणिज्जई ।।२।।***

*सहस्त्रद्विकं कोटि श्रमणानां विभाते नित्यं स्तूयते ।।२।।*

(और) दो हजार करोड़ श्रमण भगवंत (हैं), उनकी प्रभात में सदैव स्तुति की जाती है ।।२।।

***सामिअ जयउ ! सामिअ जयउ ! सत्तुंजि रिसह !***

*स्वामिन् जयतु ! स्वामिन् जयतु ! शत्रुञ्जये ऋषभ !*

हे स्वामी ! आप की जय हो ! जय हो ! हे स्वामी, शंत्रुजय पर ऋषभदेव,

***उज्जिंति पहु-नेमिजिण, सच्चउरि-मंडण वीर !***

*उज्जयन्ते प्रभु-नेमिजिन, सत्यपुरमण्डन वीर !*

गिरनार के नेमिनाथ भगवान, सांचोर (सत्यपुर) मंडण महावीर स्वामी

***भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय ! दुह-दुरिअ खंडण महुरिपास जयउ !***

*भृगुकच्छे मुनिसुव्रत ! दुःख-दुरितखण्डन मथुरायां पार्श्व जयतु !*

भरूच के मुनिसुव्रत स्वामी ! दुःख और दुरित का नाश करनेवाले मथुरा के पार्श्वनाथ प्रभु ! आपकी जय हो !

***विदेहिं चिहुं दिसि विदिसि जिं के वि अवर तित्थयरा,***

*विदेहे चतसृषु दिक्षु विदिक्षु ये केऽपि अपरे तीर्थकराः,*

महाविदेह क्षेत्र में, चारों दिशा या विदिशा में जो कोई दूसरे तीर्थंकर (हैं, उनको)

***तीआणागय-संपइय सव्वे वि जिण वंदु ।।३।।***

*अतीतानागत-साम्प्रतिकान् सर्वानपि जिनान् वन्दे ।।३।।*

(और) भूत - भविष्य और वर्तमान काल में (थे, होंगे और हैं) उन सब जिनेश्वरों को भी में वंदन करता हूँ ।।३।।

***तिअलोए अट्ठकोडीओ, छप्पन लक्खा सत्तावणवइ सहस्सा बत्तीस-सय बासीयाइं चेइए वंदे ।।४।।***

*त्रिलोके अष्टकोटीः षट्पञ्चाशतं लक्षाणि सप्तनवतिं सहस्राणि द्वात्रिंशत्शतं द्वयशीतिं चैत्यानि वन्दे ।।४।।*

तीन लोक के आठ करोड़, छप्पन लाख सत्तानबें हजार, बत्तीस सौ बयासी (८,५७,००,२८२) जिनमंदिरों को में वंदन करता हूँ ।।४।।

***पन्नरसकोडी सयाइं बायाल कोडी अडवन्ना, लक्ख छत्तीस सहस्स असीइं सासय-बिंबाइं पणमामि ।।५।।***

*पञ्चदशकोटीःशतानि द्विचत्वारिंशतं कोटीः अष्टपञ्चाशत् लक्षाणि षट्त्रिंशतं सहस्राणि अशीतिं शाश्वत-बिम्बानि प्रणमामि ।।५।।*

पंद्रह सौ बयालीस करोड़ अट्ठावन लाख छत्तीस हजार अस्सी (१५,४२,५८,३६,०८०) शाश्वत प्रतिमाओं को (मैं) प्रणाम करता हूँ ।।५।।

**विशेषार्थ :**

**इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! चैत्यवंदन करुं ?** - हे भगवंत! आप इच्छापूर्वक मुझे चैत्यवंदन करने की आज्ञा दें ।

कोई भी कार्य करने से पहले उस कार्य संबंधी इच्छा गुरु को बताकर और गुरु से आज्ञा प्राप्त करके उस कार्य का प्रारंभ करना चाहिए; यह जैनशासन की मर्यादा है। इस प्रकार आज्ञा माँगकर, गुरु के अधीन रहकर ही सभी अनुष्ठान करने चाहिए, क्योंकि गुणवान की परतंत्रतापूर्वक की गई क्रिया ही गुणप्राप्ति का कारण बनती है और गुरु आज्ञा में ही श्रेय है, इस प्रकार का बोध स्पष्ट होता है ।

**'इच्छाकारेण'** इस शब्द के प्रयोग से शिष्य गुरु से कहता है - "आप अनिच्छा से नहीं, परंतु आपकी इच्छा हो तो ही मुझे आज्ञा दें ।" ऐसे उच्चारण से दशविध सामाचारी में से प्रथम 'इच्छाकार' सामाचारी का पालन भी होता है ।

ये शब्द सुनकर उत्तम क्रिया के योग्य समय को जानकर गुरु भगवंत भी शिष्य के भावोल्लास की वृद्धि के लिए कहते हैं -

**(करेह)** - तुम चैत्यवंदन करो ।

यह शब्द सुनकर अपने इस कार्य में गुरु भगवंत की संमति है ही, ऐसा मानकर, आनंदित होकर विनयसंपन्न शिष्य चैत्यवंदन का प्रारंभ करते हुए कहता है -

**इच्छं** - मैं चाहता हूँ ।

'इच्छं' कहकर शिष्य ऐसा बताता है कि भगवंत ! मैं आपकी आज्ञानुसार ही करना चाहता हूँ ।

**इच्छं** - यह शब्द परम विनय का सूचक है । 'तुम चैत्यवंदन करो' ऐसी गुरु भगवंत की आज्ञा मिलने के बाद भी आज्ञा के प्रति आदरवाला शिष्य इस आज्ञा को मौनपूर्वक स्वीकार नहीं करता, परंतु विनयपूर्वक कहता है, 'आप जो कहते हैं मैं वहीं करने की इच्छा रखता हूँ ।' इस प्रकार आज्ञा का स्वीकार करता है ।

**जगचिंतामणि !** - हे जगत में चिंतामणि रत्न के समान !

चौबीस जिनेश्वर का विशेषण वाचक यह पद संबोधन बहुवचन में है और उसका अन्वय 'चउवीसं पि जिणवर जयंतु' के साथ जोड़ना है । इसके द्वारा जगत् में चिंतामणि रत्न समान वगैरह विशेषणों वाले चौबीस जिनेश्वरों, आपकी जय हो, ऐसा अर्थ प्राप्त होता है ।

**'जग'** अर्थात् जगत्, विश्व, लोक अथवा जीवों का समूह ।

**'चिंतामणि !'** अर्थात् चिंतन मात्र से इष्ट फल को देनेवाला एक रत्न।

भगवान को यहाँ चिंतामणि रत्न के समान कहा है । जैसे विधिपूर्वक चिंतामणि रत्न का सेवन करने से आत्मा को इष्ट सामग्री प्राप्त होती है, वैसे ही भगवान की विधिपूर्वक सेवा करने से इष्टफल की प्राप्ति होती है। जो भव्य आत्माएँ भगवान को भाव से पूजती हैं या नमस्कार आदि करती हैं, उनको उत्कृष्ट कोटि का पुण्यबंध होता है । ऐसे पुण्य के प्रभाव से वे जब तक इस संसार में होती हैं, तब तक चाहें या न चाहें, उनको धर्म करने की सभी सामग्री से युक्त मनुष्य भव अथवा उत्तम कोटि का देवभव तथा अनेक प्रकार की भोग सामग्रियाँ मिलती हैं । भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म का सेवन करने के बाद उनके सभी भव सुख से भरपूर होते हैं । सुख की सामग्री मिलने पर भी वे आत्माएँ उसमें आसक्त नहीं होतीं । उन सुख सामग्री का उपयोग वे आत्म-साधना के लिए करती हैं । पुण्योदय के सहारे ऐसी भावपूर्वक भक्ति करते करते, विशिष्ट पुण्यबंध और निर्जरा की परंपरा द्वारा वे अंत में मोक्ष को प्राप्त करती हैं । इस प्रकार इष्ट मोक्ष की और उनके उपायों की प्राप्ति में विशिष्ट कारण परमात्मा ही हैं । इसलिए यहाँ परमात्मा के प्रभाव को व्यक्त करने के लिए भगवान को चिंतामणि रत्न की उपमा दी गई है ।

यह पद बोलते समय सोचना चाहिए,

*"चिंतामणि तुल्य प्रभु मुझे मिले हैं । अब मुझे चिंता कैसी ? केवल विधिपूर्वक उनकी आराधना करनी है । इतना करूँगा तो इहलोक और परलोक की सर्व वस्तुएँ प्राप्त होने वाली ही हैं, इसमें कोई संदेह नहीं ?"*

**जग-नाह ! -** हे जगनाथ !

नाथ अर्थात् स्वामी, पति, रक्षा करनेवाला, आश्रय देनेवाला या योग-क्षेम करनेवाला । सामान्य से जो अपना योग-क्षेम करें, वे अपने नाथ कहलाते हैं। योग अर्थात् जो प्राप्त न हुआ हो उसे प्राप्त करवाना और क्षेम का मतलब है, जो प्राप्त हो गया हो उसका रक्षण करना । जगत् के सर्व जीव सुख के अर्थी हैं और सुख की प्राप्ति धर्म से ही होती है इसीलिए वास्तव में तो परमात्मा ही इस जगत् के नाथ हैं क्योंकि वे जो जीव धर्ममार्ग में जुड़े हुए नहीं हैं, उनको धर्ममार्ग में जोड़ते हैं और धर्ममार्ग में जुडे हुए की आत्मिक संपत्ति का रक्षण करते हैं ।

जो लघुकर्मी आत्माएँ विधि और निषेध स्वरूप भगवान की आज्ञा को समझती हैं और अपनी भूमिका के अनुसार कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार करके यथाशक्ति भगवान की आज्ञा का पालन करती हैं, वैसी आत्माओं के लिए ही भगवान नाथ हैं । जो आत्माएँ ऐसे परमात्मा को नाथ के तौर पर स्वीकार करती हैं, वैसी आत्माएँ संसार में कभी दुःखी नहीं होतीं और थोड़े समय में ही अनंत सुख को प्राप्त करती हैं, परन्तु जिनके कर्म भारी हों और उसके कारण जिन्होंने भगवान को नाथ के रूप में स्वीकार नहीं किया हो या अगर स्वीकार किया हो तो केवल शब्द से किया हो, उनकी आज्ञा को समझकर उसके अनुसार चलने का प्रयत्न या इच्छा नहीं की हो, वैसी आत्माओं के लिए जगत् के रक्षक ऐसे भगवान भी नाथ नहीं बन सकते ।

यह पद बोलते समय सोचना चाहिए,

*"दुनिया में जिनके सिर पर कोई नाथ होता है, वे निश्चिंत और निर्भय होते हैं । इसलिए हे प्रभु ! मैंने आपको नाथ माना है । अब मुझे कोई चिंता नहीं है, अब मुझे किसी का भय नहीं है ।"*

इसी भाव को पू. आनंदघनजी महाराज ने व्यक्त करते हुए कहा है कि,

**"धींग धणी माथे कीयो रे, कुण गंजे नर खेट,**
**विमल जिन दीठा लोयण आज..."**

तीन जगत् के नाथ मेरे साथ हैं। इसलिए अब मुझे कोई अंतरंग या बाह्य युद्ध में नहीं हरा सकता ।

**जग-गुरु !** - हे जगत् के गुरू !

**गृणाति तत्त्वं इति गुरुः** जो तत्त्व का मार्ग बताते हैं, वे गुरु कहलाते हैं । अथवा गु = अंधकार और रु = प्रकाश । अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाएँ, वे गुरु कहलाते हैं।

परमात्मा ने समग्र विश्व को तत्त्वज्ञान देकर अज्ञान के अंधकार से बचाकर ज्ञान का प्रकाश फैलाया है, इसीलिए परमात्मा जगत् के गुरु हैं ।

यह पद बोलते हुए सोचना चाहिए कि,

*"मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि, मुझे परमात्मा जैसे गुरु मिले हैं, जिन्होंने वास्तविक तत्त्व का बोध करवाकर मुझे दुःखमुक्ति का और सुखप्राप्ति का सच्चा मार्ग बताया है । संसार में भगवान जैसे श्रेष्ठ कोई गुरु नहीं है । ऐसे गुरु के वचन रूप प्रकाश के माध्यम से अगर मैं अपना जीवन जीने का प्रयत्न करूँ, तो जरूर थोड़े समय में ही दुःख भरे संसार से छूटकर, सुखी हो सकूँगा ।"*

इस प्रकार अनंत उपकारी के रूप में परमात्मा के दर्शन करने से परमात्मा के प्रति आदर एवं अहोभाव बढता जाता है ।

**जग-रक्खण !** - हे जगत् के रक्षक !

आपत्ति के समय जो रक्षण करता है, वह रक्षक कहलाता है । आपत्ति में पड़े हुए जीवों का भगवान तीन प्रकार से रक्षण करते हैं, इसलिए भगवान तीन प्रकार से जगत के रक्षक हैं ।

**रक्षण के तीन प्रकार :**

१. परमात्मा दुर्गति में पड़े जीवों को बचाकर सद्गति में स्थापित करते हैं।

अकार्य द्वारा जो जीव दुर्गति के योग्य कर्म को बाँध रहे हों, वैसे जीवों को परमात्मा धर्म का उपदेश देकर, अकार्य से रोककर, सत्कार्य करने की प्रेरणा देते हैं । जिससे जीव दुर्गति से बचकर सद्गति में जाता है । इस प्रकार भगवान उसका दुर्गति से रक्षण करते हैं ।

२. परमात्मा छः काय जीवों के प्राणनाश रोकने का उपदेश देकर उन जीवों का रक्षण करते हैं ।

जगत् के जीव प्रायः स्वार्थ प्रधान और भौतिक सुख की इच्छावाले होते हैं । अपने स्वार्थ और सुख के लिए बात-बात में वे अनंत जीवों का संहार कर देते हैं, जब कि अनंत करुणा के स्वामी परमात्मा अपने सर्व स्वार्थ और सुख का त्याग करके, प्रतिकूलताओं को स्वीकार करके छः काय जीवों के रक्षण में प्रयत्नशील रहते हैं । साथ में अन्य को भी जीव रक्षा का उपदेश देते हैं। उस उपदेश को अपनाकर अनेक भव्यात्माएँ भी छः काय की रक्षक बनती हैं । इस प्रकार परमात्मा छः काय जीवों के रक्षक हैं ।

३. परमात्मा कर्म के बंधन से जीवों को मुक्त करवाकर मोक्ष को प्राप्त करवाते हैं। इस प्रकार वे जगत के रक्षक के रूप में पूजे जाते हैं ।

"कर्म से संबंधित होने के कारण ही आत्मा को संसार में भटकना पड़ता है । कर्म के कारण ही जन्म-मरण के दुःखों को भुगतना पड़ता है और कर्म के कारण ही महादुःख को उत्पन्न करनेवाले रागादि कषायों के अधीन होना पड़ता है। अज्ञान आदि दोषों के कारण ही जीव सतत ऐसे कर्मों को बांधते हैं । प्रतिक्षण बंधनेवाले ऐसे कर्मों का आस्रव रोकने के लिए जगत्राता प्रभु ने सम्यग्ज्ञान और सत्क्रिया रूप सुंदर साधन बताए हैं। इन दोनों के माध्यम से योग्य जीव, कर्म के बंधन से मुक्त होकर, मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकते हैं। मोक्ष में जाने के बाद वे स्वयं तो सदा सुरक्षित हैं ही; अन्य को भी उनसे कोई भय नहीं रहता ।

यह पद बोलते वक्त सोचना चाहिए,

*"परमात्मा ही हमें दुर्गति से, जीवों के वध से और कर्म से मुक्त करवाकर हमारा रक्षण करते हैं । ऐसे दुःखों से बचाने की शक्ति परमात्मा या परमात्मा की वाणी के सिवाय अन्य किसी में नहीं है । अगर मुझे इन मुसीबतों से अपने आप को सुरक्षित रखना है, तो परमात्मा के वचन को एक क्षण भी भूलना नहीं चाहिए।"*

ऐसी संवेदना के साथ परमात्मा का जगत के रक्षक रूप में ध्यान हो, तो उपर्युक्त तीनों बातों से जरूर रक्षण होता है ।

**जग-बंधव ! -** हे जगबंधु !

खून के संबंध से बंधे भाई या निकटवर्ती स्वजनों को बन्धु कहते हैं। संसार में सामान्य नियम है कि, जैसे राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलदेव, पाँच पांडव वगैरह बंधु सुख-दुःख में साथ रहते हैं, वैसे परमात्मा भी एक सगे भाई की तरह संपूर्ण जगत् के हितचिंतक के रूप में जगत के साथ रहते हैं, इसलिए परमात्मा जगत् के बांधव कहलाते हैं ।

संसार में बांधव हमेशा साथ दें, ऐसा नहीं होता, कई बार दुःख के समय भाई दूर भी हो जाते हैं, परंतु जगत् में कल्याण करने की इच्छावाले जगत् के बंधु समान परमात्मा एक मात्र ऐसे हैं कि, जो दुःख के समय में भी कभी दूर नहीं होते ।

जिस भक्त के हृदय में परमात्मा का निवास होता है, वह भक्त परमात्मा के प्रभाव से संसार की आपत्तियों में से सही सलामत उत्तीर्ण हो जाता है ।

कभी कभार पापकर्म का प्रबल उदय हो, तो भक्त की बाह्य परिस्थिति न भी पलटे परन्तु परमात्मा के प्रभाव से उसकी मनःस्थिति तो बदल ही जाती है, उसी कारण उस साधक को बाह्य आपत्ति भी आपत्ति रूप नहीं लगती, अपना कर्मक्षय का साधन लगती है, जिससे अत्यंत समाधिपूर्वक वह उन्हें सहन कर सकता है, मात्र सहन करता है ऐसा नहीं, परन्तु जैसे अच्छा व्यापारी 'ग्राहक की गाली' दुःखकारक होने के बावजूद भी उसे

कमाई का साधन मानता है, वैसे ही साधक यह आपत्ति ही मेरे सुख का साधन है, ऐसा मानते हुए आपत्ति का सहज स्वीकार कर, उसमें भी प्रसन्न रहता है ।

जो भगवान को बांधव तुल्य मानकर उनके प्रति अहोभाव, आदरभाव और प्रेमभाव रखते हैं, उनके वचन को सतत हृदय में धारण करते हैं और उनके वचनानुसार यथासम्भव जीवन को बदलने का प्रयत्न करते हैं, उनके लिए ऐसे विषमकाल में भी भगवान अवश्य एक बंधु तुल्य बनते हैं ।

यह पद बोलते वक्त सोचना चाहिए,

*"मेरे परम पुण्योदय से किसी को न मिले, वैसे बंधु मुझे मिले हैं अब कैसी भी आपत्ति आए मुझे कोइ चिंता नहीं । सर्व आपत्तियों में से पार उतारनेवाले प्रभु विश्वबंधु मेरे साथ हैं ।"*

**जग-सत्थवाह ! -** हे जगत के सार्थवाह !

सार्थ याने इष्ट स्थान पर पहुँचने की इच्छावाले मुसाफिरों का एक समूह। इस समूह का जो ध्यान रखें और उसे इष्ट स्थान पर पहुँचाने का पुरुषार्थ करें, वैसे उसके नायक या अगुआ को सार्थवाह कहते हैं । सार्थवाह जैसे अपने सार्थ में जुड़े हुए तमाम व्यक्तियों का रक्षण करके, उनकी आवश्यकताओं की पूर्तिकर उन सभी को इष्ट स्थान पर पहुँचाता है, वैसे ही भगवान भी अपने शासन रूपी सार्थ में जुड़े तमाम व्यक्तियों को मोक्षमार्ग में जरूरी बाह्य-अभ्यन्तर सर्व सामग्री देकर अंत में मोक्ष तक पहुँचाते हैं । इस तरह, जैनशासन को पाने वाले तमाम आत्माओं के लिए भगवान भी सार्थवाह तुल्य हैं ।

यह पद बोलते हुए साधक को सोचना चाहिए कि,

*"सार्थवाह तुल्य इस भगवान के शासन में मुझे भाव से प्रवेश करना है । अगर प्रवेश हो जाए तो जैसे सार्थवाह की सहायता से भयंकर जंगल को पार करके इष्ट स्थान पर पहुँचा जा सकता है, वैसे ही इस भयानक भव-अटवी को पार कर मोक्ष में पहुँचा जा सकता है ।"*

**जगभाव-विअक्खण ! -** हे जगत् के भावों को जाननेवाले, देखनेवाले और उन सबको व्यक्त करने में विचक्षण !

भगवान जगत् के भावों को जानने में विचक्षण हैं। परमात्मा सर्वज्ञ हैं, इसलिए वे जगद्वर्ती जड़-चेतन सभी पदार्थों के सभी पर्यायों (भावों) को जानते हैं और योग्य जीवों के आगे उसे प्रकाशित करते हैं, इसलिए भगवान के लिए 'जग-भाव-विचक्षण' ऐसा विशेषण यथार्थ है ।

भगवान जगत् के भावों को मात्र ऊपरी दृष्टि से नहीं देखते, वे भावों की गहराई को देख सकते हैं । पहली नज़र से देखने पर संसारी जीवों को जो परपदार्थ सुख का कारण लगते हैं, उन पौद्गलिक भावों की वास्तविकता से भगवान उन्हें सावधान करते हैं ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी परमात्मा ने बताया है कि, 'जगत् के सब पदार्थ और भाव जिस स्वरूप में रहे हैं, वैसे ही हैं । उनमें अच्छे-बुरे या इष्ट-अनिष्ट का कोई परिणाम है ही नहीं । ये अच्छे-बुरे परिणाम तो स्वबुद्धि कल्पित हैं, इसलिए अगर तुम्हें आत्महित करना हो, तो उन पदार्थों के साथ तुम्हें किस प्रकार बर्ताव करना चाहिए, तुम्हारा औचित्य कहाँ, कितना है ? तुम्हारे लिए उनके साथ कितना संबंध उपकारक है, वह सब मेरे वचनानुसार जानकर तुम्हें प्रवृत्ति करनी चाहिए, जिससे तुम्हारी आत्मा का अहित न हो ! तुम कभी दुःखी न हो ! और अंत में सर्व दुःख से मुक्त भी हो सको।

महोपाध्याय श्री विनयविजयजी म.सा. परमात्मा की वाणी के मर्म को बताते हुए कहते हैं कि **'त्वयि निष्प्रणये पुद्गलनिचये वहसि मुधा ममतातापम्'** ये पुद्गल का समूह तुझ पर लेश मात्र भी प्रेम नहीं रखता, तुम्हारे प्रति अत्यंत निष्प्रेम वाले इन पुद्गलों में तुम किसलिए ममता रखते हो ? और तुम्हारी इच्छा के अनुसार उसकी प्राप्ति में सुखी और इच्छा के विरुद्ध की प्राप्ति से दुःखी क्यों होते हो ?

यह पद बोलते हुए सोचना चाहिए कि,

*"इस जगत् में सुख की चिंता करनेवाले तो मिलते हैं, परन्तु आत्म-हित की चिंता करनेवाला कौन है ? शायद पुण्योदय से हितचिंता करनेवाला कोई मिल भी जाए, तो भी वह जगत् के भावों को इस तरह जान भी नहीं सकता और देख भी नहीं सकता, इसलिए वह भगवान के जैसा हित नहीं कर सकता। जगत् में एकमात्र भगवान ही ऐसे हैं कि जो सर्वज्ञ-वीतराग होने से अज्ञान या राग-द्वेष की छाया से मुक्त रहकर जगत् के भाव जैसे हैं, वैसे जानते हैं, देखते हैं और किसी का अहित न हो इस तरह उन भावों में से निकलने का मार्ग भी बताते हैं । ज्ञान की निर्मलता और पूर्णता के बिना मार्ग बताने का ऐसा कार्य कोई और नहीं कर सकता ।"*

इस प्रकार परमात्मा की विचक्षणता का विचार करके, परमात्म स्वरूप को प्राप्त करनेवाले चौबीसों भगवान को इन शब्दों के द्वारा स्मृति में लाकर, ऐसे भगवान समग्र विश्व में और मेरी आत्मा के एक-एक प्रदेश में जयवंत रहें अर्थात् यह स्वरूप सदा स्मृति में रहे ऐसा भाव ये शब्द बोलते हुए रखना है।

**अट्ठावय-संठविअ रूव !** - अष्टापद पर्वत के ऊपर जिनकी प्रतिमाएँ संस्थापित की गई हैं वैसे (चौबीश तीर्थंकर)

भरत महाराज ने इस अवसर्पिणी में होने वाले चौबीसों भगवान के शरीर की ऊँचाई, चौड़ाई और वर्ण के प्रमाण में प्रतिमा बनवाकर अष्टापद पर्वत के ऊपर बिराजमान की हैं । चरमशरीरी-तद्भव मोक्षगामी आत्माएँ ही अपनी लब्धि से इस पर्वत के ऊपर रहीं प्रतिमाओं की यात्रा कर सकती हैं। ये शब्द बोलते हुए अष्टापद पर्वत के ऊपर प्रतिष्ठित उस प्रकार की ऊँचाई आदि वाली प्रतिमाओं को और प्रतिमा में रहनेवाले परमात्म भाव को याद करके वंदना करनी है ।

**कम्मट्ठ-विणासण !** - आठ कर्म का नाश करनेवाले ।

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों को आवृत करते हैं । भगवान पहले चार घातिकर्म का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं और बाद में चार अघातिकर्म का भी नाश करके मोक्ष में जाते हैं । इस प्रकार परमात्मा आठ कर्म का नाश करनेवाले हैं, इसीलिए यहाँ भगवान को आठ कर्म का विनाशक कहा है ।

यह पद बोलते हुए परमात्मा की सिद्ध अवस्था को स्मृति में लाना चाहिए। आत्मा जब सभी कर्मों से मुक्त होती है, तभी वह सिद्ध होती है और आत्मा के अनंत आनंद को प्राप्त कर सकती है । इस स्वरूप में परमात्मा को याद करने से मुझे भी आठ कर्म का विनाश करके, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करके अनंत आनंद को प्राप्त करना है, ऐसे भाव की वृद्धि होती है, जिससे मार्ग में उत्साह बढ़ता है, उससे मार्ग पर चलने के लिए वीर्य की वृद्धि भी होने लगती है, जो महानिर्जरा का कारण बनती है ।

**अप्पडिहय-सासण ! -** अखंडित शासनवाले ।

प्रभु ने जिस धर्म शासन की स्थापना की है, वह किसीसे भी खंडित नहीं होता याने कि उस मत - में उस दर्शन में अब तक कोई कैसी भी भूल नहीं निकाल पाया है। अतः यह शासन अखंडित, अस्खलित या अविसंवादी है, जिनका शासन विरोध रहित है । शासन शब्द का प्रयोग तीन अर्थ में होता है, उपदेश, शास्त्र और संघ । अतः भगवान का उपदेश, भगवान के शास्त्र या भगवान का संघ अखंडित है, उसमें कभी स्खलना या विसंवाद देखने को नहीं मिलता और उसका कभी नाश नहीं होता ।

अरिहंत परमात्मा का आचार ऐसा है कि - जब तक वे सर्वज्ञ नहीं बनते, तब तक उपदेश नहीं देते । जब वे स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करते हैं, तभी वे केवलज्ञान से सभी पदार्थ का यथार्थ स्वरूप देखकर उसकी प्ररुपणा करते हैं। इसलिए उनकी देशना के प्रवाह को कोई प्रतिवादी कुतर्क से खंडित नहीं कर पाता ।

परमात्मा का उपदेश प्राप्त करके गणधर भगवंत द्वादशांगी की रचना करते हैं और उसके बाद सुविहित गीतार्थ भी इस द्वादशांगी के आधार पर

अनेक ग्रन्थों की रचना करते हैं, उन्हें शास्त्र कहते हैं । अनेक दृष्टिकोण से पदार्थ का मूल्यांकन करनेवाले इन शास्त्रों में कभी भी अधूरापन देखने को नहीं मिलता। इन शास्त्रों में कहीं स्खलना का भी सवाल नहीं होता । 'हाँ' संयोगों की विषमता के कारण या विस्मृति के कारण आज बहुत से शास्त्र नष्ट हो गए हैं । इसलिए आज कहीं भी त्रुटि दिखें, तो वह त्रुटि भी शास्त्र की नहीं, बल्कि शास्त्र के संरक्षण के अभाव की है । बहुत से शास्त्रों के नष्ट हो जाने के बावजूद आज भी इतने शास्त्र तो हैं ही कि, उन शास्त्रों के माध्यम से साधक आत्मसिद्धि के मार्ग पर अविरत प्रयाण कर सकता है।

भगवान के वचन जिनके हृदय में संस्थापित हुए हैं, वे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका चतुर्विध संघ कहलाते हैं । ये चतुर्विध संघ भरत, ऐरवत क्षेत्र की अपेक्षा सदा विद्यमान नहीं होता, परन्तु महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से सदा विद्यमान है, इसी कारण भगवान का शासन अखंडित कहलाता है ।

यह पद बोलते हुए ऐसा संकल्प करना चाहिए,

*'भगवान का शासन तो इस जगत् में हमेशा विद्यमान है । मात्र इस शासन के प्रति समर्पित होने की जरूरत है । अगर मैं इस शासन को संपूर्ण समर्पित हो जाऊँ, तो मेरा श्रेय निश्चित है । इसलिए अप्रतिहत शासनवाले परमात्मा का ध्यान करके में भी इस शासन को समर्पित होने की शक्ति प्रगट करूँ ।'*

**चउवीसंपि जिणवर जयंतु ! -** (अष्टापदगिरि ऊपर बिराजमान) चौबीस जिनेश्वरों की जय हो !

गुणसंपन्न चौबीसों जिनेश्वर भगवंतो सदा के लिए जगत् में जयवंत रहें अथवा वे मेरे हृदयकमल में हमेशा विद्यमान रहें ! चंदन के वन में जैसे मोर की एक षड्ज ध्वनि सैंकड़ों साँपों को बिल में पलायन करा देती है, वैसे हृदय मंदिर में भगवान की उपस्थिति मात्र भी रागादि अनेक दोषों रूप साँपों को पलायन करवा देती है ।

यह पद बोलते हुए सोचना चाहिए,

*'प्रभु ! आप जगत् में तो सदा के लिए जयवंत हैं ही; परन्तु मेरे हृदय में आप अगर विजयवंत बनें तो मोह शत्रु पर विजय प्राप्त करना, मेरे लिए आसान बन जाएगा ।'*

ऊपर बताए गए तमाम विशेषणों से युक्त भगवान को देखने से उनके प्रति भक्ति-बहुमान की वृद्धि होती है । 'ऐसे परमात्मा मेरे साथ हैं ।' ऐसी बुद्धि होने से सन्मार्ग में प्रवृत्त होने का उत्साह बढ़ता है, वीर्य की वृद्धि होती है और उसी से आत्मा का हित होता है ।

जिसके प्रति बहुमान का परिणाम होता है उनके जन्मक्षेत्र, शरीर और संख्या आदि विषयक जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है । इसलिए इन चौबीस भगवंतों का जन्मक्षेत्र, शरीर और संख्या आदि अब बताते हैं -

**कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं** - कर्मभूमियों में

इस पद से भगवान का जन्मक्षेत्र बताया गया है । जिस क्षेत्र में [3]असि, मसि और कृषि का व्यवहार चलता है, उसे कर्मभूमि कहते हैं । ऐसी कर्मभूमि १५ हैं। ५ भरत, ५ ऐरवत और ५ महाविदेह । यहाँ असि, मसि और कृषि का व्यवहार चलने के कारण, कर्मबंध के निमित्त भी यहाँ ज्यादा मिलते हैं और कर्म का क्षय करने के लिए संयम आदि की सुंदर सामग्री भी मिलती है । तदुपरांत मोक्ष की प्राप्ति भी इस क्षेत्र में ही होती है, इसलिए जिनेश्वर भगवंतों का जन्म भी इस कर्मभूमि में ही होता है ।

**पढमसंघयणि** - वज्रऋषभनाराच नाम के प्रथम संघयणवाले ।

संघयण अर्थात शरीर का बंध, हड्डियो की मजबूती । शास्त्र में संघयण[4] छः प्रकार के बताये हैं। उसमें प्रथम वज्रऋषभनाराच संघयण है ।

3. असि - तलवार आदि शस्त्र का व्यवहार, मसि-स्याही आदि लेखन सामग्री का उपयोग तथा कृषि-खेतीबारी, वाणिज्य, व्यापार आदि

4. संघयण याने हड्डीओं की रचना । शास्त्र में छः तरीके ४ की रचना बताई है । छ संघयण : १. वज्रऋषभनाराच, २ ऋषभनाराच, ३. नाराच, ४. अर्धनाराच, ५. कीलिका, ६. छेवट्टु।

इस संघयणवाले जीव के शरीर की मजबूती विशेष प्रकार की होती है। इस संघयणवाली आत्माएँ ही मोक्ष पा सकती हैं । दूसरे किसी भी संघयण-वाले जीवों में ऐसा सत्त्व या शक्ति नहीं होती कि वे सभी कर्मों का नाश करके मोक्ष में जा सकें । इसीलिए अरिहंत भगवंत को वज्रऋषभनाराच नामक पहला संघयण होता है ।

**उक्कोसय सत्तरीसय जिणवराण विहरंत लब्भइ; -** उत्कृष्ट से [5]१७० जिनेश्वर एक साथ विचरते हैं ।

प्रथम गाथा में कहे गए विशेषणों वाले, कर्मभूमि में जन्मे हुए और विशेष प्रकार के शारीरिक बलवाले अरिहंत भगवान एक साथ ज्यादा से ज्यादा १७० विचरते हैं । अजितनाथ भगवान के समय में ऐसा हुआ था । यह पद बोलते हुए उन-उन क्षेत्र में विचरते १७० जिनों को ध्यान में लाकर, उनको प्रणाम करने से भावोल्लास की वृद्धि होती है ।

अरिहंत की उत्कृष्ट संख्या बताने के बाद जब उत्कृष्ट संख्या में अरिहंत भगवंत विचरते हों, तब उत्कृष्ट से केवली तथा मुनि भगवंतों की संख्या कितनी थी और वर्तमान में कितनी है, यह बताते हैं ।

**नव कोडिहिं केवलीण -** सामान्य केवलियों की संख्या ज्यादा से ज्यादा नौ करोड़ हो सकती है ।

अजितनाथ भगवान के समय में जब १७० तीर्थंकर विचरते थे, तब नौ करोड़ केवलज्ञानी थे ।

---

5. १७० जिन के क्षेत्र :

| | भरत | ऐरवत | महाविदेह की विजय |
|---|---|---|---|
| जंबूद्वीप | १ | १ | ३२ |
| धातकीखंड | २ | २ | ६४ |
| पुष्करावर्त्तद्वीप | २ | २ | ६४ |
| | ५ | ५ | १६० (५+५+१६०=१७०) |

**कोडी सहस्स नव साहू गम्मइ** - साधु की संख्या ज्यादा से ज्यादा ९ हजार करोड़ अर्थात् ९० अरब की (९०,००,००,००,०००) होती है ।

**जिज्ञासा :** चैत्यवंदन करते समय केवली भगवंतों तथा मुनि भगवंतों को किसलिए याद करना चाहिए ?

**तृप्ति :** केवली भगवंत तथा मुनि भगवंत मोक्षमार्ग के अनन्य साधक हैं। केवली भगवंत उसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं और मुनि भगवंत भी विशिष्ट प्रकार से मोक्ष की साधना कर रहे हैं, उनको याद करने से हमें भी मोक्ष की साधना में बल मिलता है, इसलिए अरिहंत को वंदन करते समय उनकी स्तुति की जाती है ।

**संपइ जिणवर वीस** - वर्तमान काल में २० तीर्थंकर अढ़ाई द्वीप में विचरते हैं ।

महाविदेह क्षेत्र में हमेशा चौथे आरे जैसा काल होता है । भरत-ऐरावत की तरह वहाँ कभी काल में चढ़ाव-उतार नहीं होता । इसलिए वहाँ सदैव तीर्थंकर होते हैं । वर्तमान में भी जंबूद्वीप के महाविदेह में ४, धातकी खंड के दो, महाविदेह में ८ और अर्ध पुष्करवरद्वीप के दो महाविदेह में ८ ऐसे कुल २० तीर्थंकर परमात्मा विचर रहे हैं ।

**मुणि बिहुं-कोडिहिं वरणाण** - वर्तमान में श्रेष्ठ ज्ञानवाले अर्थात् केवलज्ञानी ज्यादा से ज्यादा दो करोड़ (२,००,००,०००) होते हैं ।

**समणह कोडी-सहस्स-दुअ** - और वर्तमान में श्रमणों की संख्या ज्यादा से ज्यादा दो हजार करोड़ अर्थात बीस अरब की (२०,००,००,००,०००) है । यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि, ये सब श्रमण छट्ठे-सातवें गुणस्थानक में रहनेवाले हैं ।

**थुणिज्जइ निच्च विहाणि** - जो हमेशा प्रातः स्मरणीय हैं ।

इस पद द्वारा उत्कृष्ट और जघन्य संख्या से तीर्थंकर, केवली और मुनि

भगवंतों का ध्यान किया जाता है । प्रभात में उनको नित्य वंदन किया जाता है, जो भव्यात्माओं के लिए विशिष्ट भाव वृद्धि का कारण बनता है ।

वर्तमान काल में भी महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर भगवंत, केवली भगवंत और सुसाधु विपुल प्रमाण में हैं, तो भी हमारा पुण्य कमजोर है, इसीलिए हमें वे मिल नहीं सकते । इसलिए हम अनेक शंका का स्पष्ट समाधान प्राप्त करके, सन्मार्ग में विशेष यत्न नहीं कर सकते । इन महापुरुषों को याद करके इस काल में मिले हुए देव-गुरु की ऐसी सेवा-भक्ति करें कि, जिससे नजदीक में ही तीर्थंकर जैसे देव एवं निर्ग्रंथ गुरु भगवंत हमें मिल सकें। यह पद बोलते हुए ऐसा संकल्प विशेष भाव का कारण बन सकता है।

चौबीस तीर्थंकर, केवली भगवंत, मुनिभगवंत वगैरह को वंदन करके भी असंतुष्ट साधक, अपने भावोल्लास की वृद्धि के लिए वर्तमान में जो विशिष्ट तीर्थस्थान हैं, उसमें रहे मूलनायक भगवान को याद करके उनकी स्तुति करता है !

**जयउ सामिअ ! जयउ सामिअ !** - हे स्वामी, आप की जय हो ! आप की जय हो !

**रिसह सत्तुंजि** - शत्रुंजय तीर्थ के उपर रहे श्री ऋषभदेव भगवान (की जय हो।)

शत्रुंजय तीर्थ शाश्वत तीर्थ है । इस तीर्थ के महात्म्य से अनंत जीवों ने अंतरंग शत्रु पर विजय प्राप्त किया है, इसलिए उसका नाम शत्रुंजय है । इस तीर्थ के सान्निध्य से अनंत जीवों ने सिद्धिगति प्राप्त की हैं, उसीसे उसका नाम सिद्धक्षेत्र भी है । तीनों लोक में इसकी बराबरी करनेवाला कोई तीर्थ नहीं है । इस महातीर्थ के विविध प्रकार के प्रभाव के कारण उसके २१ और १०८ नाम प्रसिद्ध हुए हैं । वर्तमान में वहाँ श्री ऋषभदेव परमात्मा मूलनायक के रूप में बिराजमान हैं ।

**उज्जिंति पहु-नेमिजिण** - गिरनार तीर्थ पर (बिराजमान) नेमिनाथ प्रभु (की जय हो।)

गिरनार पर्वत उज्जयंतगिरि अथवा रैवतगिरि के नाम से प्रसिद्ध है । उसके ऊपर बाइसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमि (नेमिनाथ) की दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये तीन कल्याणक होने के कारण, यह अति पवित्र माना जाता हैं ।

**जयउ वीर सच्चउरि मंडण** - सांचोर (सत्यपुरी) मंडण ऐसे हें वीर प्रभु ! (आप की जय हो) ।

**भरुअच्छहिं मुणिसुव्वय** - भरुच में (बिराजमान) श्री मुनिसुव्रत स्वामी की (जय हो) ।

**मुहरि (महुरि) पास दुह-दुरिअ-खंडण** - दुःख और दुरित का नाश करने वाले माथुरी पार्श्व = मथुरा में रहे पार्श्व प्रभु की (जय हो) ।

इन पदों द्वारा उन-उन तीर्थस्थानों को स्मृति पथ में लाकर, उन तीर्थ द्वारा अनंत आत्माओं पर हुए उपकारों को याद करके भावपूर्वक वंदन करने से बहुत कर्मों का क्षय होता है और महान पुण्यबंध होता है तथा तीर्थ और तीर्थपति के वंदन से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, विशुद्धि और वृद्धि होती है।

**अवर विदेहिं तित्थयरा** - महाविदेह में विचरते दूसरे तीर्थंकरों को (मैं वंदन करता हूँ) ।

**चिहुं दिसि विदिसि जिं के वि** - चार दिशाओं में और विदिशाओं में रहे हुए जो कोई भी (तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं, उनको मैं वंदन करता हूँ।)

**तीआणागय संपइय वंदु जिण सव्वे वि** - भूतकाल में हुए, भविष्य में होनेवाले और वर्तमान में विद्यमान हैं, उन सर्व तीर्थंकर परमात्माओं को मैं वंदन करता हूँ ।

सभी चैत्य और सभी बिंब को अलग-अलग याद करना सम्भव नहीं है इसलिए अब उनको सामूहिक रूप से स्मरण में लाकर वंदन करते हैं-

**सत्ताणवइ-सहस्सा, लक्खा छप्पन अट्ठकोडीओ, बत्तीस सय बासीयाइं तिअलोए चेइए वंदे -** तीनों लोक में रहे आठ करोड़ छप्पन लाख, सत्तानबें हजार, बत्तीस सौ बयासी (८,५७,००२८२) शाश्वत चैत्यों को मैं वंदन करता हूँ ।

| | |
|---|---|
| ८,००,००,००० | आठ करोड़ |
| ५६,००,००० | छप्पन लाख |
| ९७,००० | सत्तानबें हजार |
| ३,२०० | बत्तीस सौ |
| ८२ | बयासी |
| ८,५७,००,२८२ | |

**पन्नरस कोडी सयाइं, कोडी बायाल लक्ख अडवन्ना, छत्तीस सहस्स असीइं, सासय-बिंबाइं पणमामि -** (शाश्वत चैत्यों में बिराजमान) पंद्रह सौ करोड़ (पंद्रह अबज), बयालीस करोड़, अट्ठावन लाख, छत्तीस हजार और अस्सी शाश्वत जिनबिंबों[6] को मैं प्रणाम करता हूँ । (१५,४२,५८,३६,०८०)

इस प्रकार इस चैत्यवंदन में प्रातः स्मरणीय तीर्थंकर देवो का गुणगान करके उनके बिंबों, चैत्यों तथा तीर्थों को भक्ति-भाव से वंदन किया जाता है। संकल्पपूर्वक चौबीस तीर्थंकरों आदि को उपयोग में लाकर वंदन करने से अरिहंत आदि उत्तम पुरुषों की तरफ चित्त विशेष आवर्जित (आकर्षित) होता है, जिससे संसार के तुच्छ भावों से चित्त विमुख होता है तथा संसार अल्प होता है। विशेष पुण्य का बंध होता है और परंपरा से आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

6. इस चैत्य तथा बिंब की विशेष समझ सूत्र संवेदना-५ में 'सकल तीर्थ' सूत्र से जानना ।

# जं किंचि सूत्र

**सूत्र परिचय :**

परमतारक श्रीगणधर भगवंतों द्वारा रचित इस सूत्र में सभी तीर्थों को वंदन किया जाता है, इसलिए इसका दूसरा नाम **"तीर्थवंदना"** सूत्र है । आत्मा जिसके आलंबन से इस भयानक संसार सागर से तैर सके, उसे तीर्थ कहते हैं । निश्चयनय से तो आत्मा अपने ही प्रयत्न से संसार सागर तैरती है, तो भी तीर्थ और जिनबिंब संसार सागर तैरने का एक प्रबल आलंबन हैं। इसलिए उन्हें तीर्थ कहते हैं ।

आज तक अनंत आत्माएँ ऐसे तीर्थादि के सुंदरतम आलंबन को प्राप्त करके संसार सागर को तैर चुकी हैं । वर्तमान में भी ऐसे सुंदर आलंबनों को स्पर्श कर कितनी आत्माएँ आत्मकल्याण के मार्ग में निरंतर आगे बढ़ रही हैं । वैसे ही भविष्य में भी इन तीर्थों और जिनबिंबों के आलंबन को प्राप्त कर अनंत आत्माओं का निस्तार होनेवाला है । इस विषम संसार का पार प्राप्त करने के लिए इस सूत्र में सभी तीर्थों को वंदन किया गया है ।

ये तारनेवाले तीर्थ दो प्रकार के हैं । १. स्थावर तीर्थ, २. जंगम तीर्थ । शत्रुंजय आदि तीर्थस्थान स्थिर हैं, इसलिए वे स्थावर तीर्थ कहलाते हैं । अनंत महात्माओं ने इस अति पवित्र भूमि पर अपना परम कल्याण किया

है। यद्यपि व्यतीत हुए अनंतकाल में तो सभी भूमियों पर से अनंत आत्माएँ मोक्ष में गई हैं, तो भी तीर्थ भूमि पर केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करनेवाले अन्य क्षेत्र से कई गुना अधिक होते हैं, इसी कारण ऐसे क्षेत्र संसार तारण की क्रिया में एक प्रबल निमित्त बनते हैं ।

जंगम तीर्थ याने गमन-आगमन करते हुए तीर्थ । भगवद् आज्ञा को हृदय में धारण कर, भगवान की आज्ञा का अनुसरण करनेवाले साधु-साध्वीजी भगवंत जंगम तीर्थ स्वरूप हैं। ऐसे महात्माओं के दर्शन-वंदन-पूजन-परिचयादि से अनंत आत्माएँ सन्मार्ग में जुड़ती हैं । योग्य आत्माओं को उनके दर्शनादि से भी सम्यक्त्व और चारित्र के परिणाम पैदा हो सकते हैं और इन परिणामों द्वारा संसार सागर से तैरा जा सकता है, इसलिए वे भी तीर्थ कहलाते हैं ।

इसके बावजूद इस सूत्र में जंगम तीर्थों को छोड़कर, मुख्य रूप से स्थावर तीर्थों तथा उसमें रहे जिनबिंबों की वंदना की गई है । इस सूत्र का उपयोग खास करके चैत्यवंदन करते वक्त किया जाता हैं ।

**मूल सूत्र :**

**जं किंचि नाम तित्थं, सग्गे पायालि माणुसे लोए ।**
**जाइं जिणबिंबाइं, ताइं सव्वाइं वंदामि ।।१।।**

**पद ४ संपदा १ अक्षर-३२**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :**

***सग्गे पायालि माणुसे लोए जं किंचि नाम तित्थं ।***
*स्वर्गे पाताले मानुषे लोके यत्किंचित् नाम तीर्थम् ।*

स्वर्ग में, पाताल में और मनुष्य लोक में जो कोई तीर्थ हैं,

***जाइं जिणबिंबाइं ताइं सव्वाइं वंदामि ।।१।।***
*यानि जिनबिंबानि तानि सर्वाणि वन्दे ।।१।।*

(और) जो जिनेश्वर (परमात्मा) की प्रतिमाएँ है, उन सभी को मैं वंदन करता हूँ।

**विशेषार्थ :**

**जं किंचि नाम[1] तित्थं सग्गे पायालि माणुसे लोए** - स्वर्ग में, पाताल में और मनुष्य लोक में जो कोई तीर्थ हैं, (उन सब को मैं वंदन करता हूँ) ।

**'तीर्यते अनेन इति तीर्थम्'** जिससे तैरा जा सके अथवा जो तारें वे तीर्थ[2] कहलाते हैं । वैसे तो कोई भी आत्मा अपने परिणाम (भाव) से ही संसार सागर को तैर सकती है, तो भी आत्मा को तैरानेवाले शुभ भाव कोई निमित्त प्राप्त करके उत्पन्न होते हैं । ऐसे सभी निमित्तों में श्रेष्ठ निमित्त तीर्थंकर परमात्मा हैं । तीर्थंकर परमात्मा की प्रतिमाएँ जहाँ स्थापित की गई हों, उनके कल्याणक जहाँ हुए हों अथवा परमात्मा साक्षात् स्वदेह से जहाँ विचरे हों, वे सभी क्षेत्र भी तीर्थ कहलाते हैं, क्योंकि ऐसी उत्तम आत्माओं के स्पर्श से वह भूमि पवित्र होती है, वहाँ जाने से, उन-उन परमात्मा के संस्मरण से सरलता से शुभभाव उत्पन्न होते हैं । ऐसे जो कोई तीर्थ स्वर्ग में, पाताल में और मनुष्यलोक में है, उन सभी को मैं वंदन करता हूँ ।

**स्वर्गलोक के तीर्थ :** १२ देवलोक, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर, ९ लोकांतिकादि वैमानिक देवों के आवास जहाँ है, उसे स्वर्गलोक कहते हैं, उनके सभी विमानों में जो जिनमंदिर है, वे सभी स्वर्गलोक के तीर्थ हैं ।

**पाताललोक के तीर्थ :** रत्नप्रभापृथ्वी के गर्भ में पाताल लोक है । उसमें भवनपति, व्यंतर, वाणव्यंतर के आवास हैं । उन सभी आवासों में जो शाश्वत जिनमंदिर हैं, वे और महाविदेह क्षेत्र के अधोग्राम में जहाँ-जहाँ अशाश्वत जिनमंदिर हैं, वे सभी पाताल लोक के तीर्थ हैं ।

**मनुष्यलोक के तीर्थ :** यहाँ मनुष्यलोक का अर्थ मात्र अढाई द्वीप ही नहीं, परन्तु समग्र तिर्यग्लोक है । तिर्यग्लोक में नंदीश्वरादि चौदहवें द्वीप तक जहाँ शाश्वत जिनमंदिर हैं और अन्यत्र जहाँ-जहाँ शाश्वत-अशाश्वत तीर्थस्थान हैं, वे सभी मनुष्य लोक के तीर्थ कहलाते हैं ।

---

1. मूल में 'नाम' शब्द है, वह वाक्यालंकार के लिए एक अव्यय है ।
2. तीर्थ के विशेष व्याख्या लोगस्स सूत्र में (सूत्र संवेदना भाग-१) दिया है ।

**जाइं जिणबिंबाइं ताइं सव्वाइं वंदामि -** (तथा) जो जिनेश्वरों के बिंब हैं, उन सबको मैं वंदन करता हूँ ।

यह सूत्र बोलते हुए चौदह राजलोक में जहाँ जहाँ तीर्थ है और जहाँ जहाँ जिनबिंब है, उन उन स्थानों के स्मरण के साथ परमात्मा की स्मृति होनी चाहिए । परमात्मा संबंधी ये तीर्थ या परमात्मा की प्रतिमा वीतराग भाव को पैदा करवाने में प्रबल निमित्त हैं, उन्हें प्राप्त करके आज तक अनंत आत्माएँ संसार सागर को पार उतरने में सफल हुई हैं ।

इस बात को उपस्थित करके यह सूत्र बोलते हुए हमें सोचना चाहिए कि,

*"जैसे अनंत आत्माओं ने इस आलंबन को प्राप्त करके वीतरागभाव को प्राप्त किया, वैसे मैं भी इन तीर्थादि की वंदना से वीतरागभाव को प्राप्त करूँ और अनादिकाल से दुःखी करनेवाले इन रागादि दोषों को दूर करूँ ।"*

यदि ऐसे भावपूर्वक परमात्मा की वंदना की जाए, तो वंदन करनेवाली आत्मा कोई अगोचर भाव को प्राप्त करके, महानिर्जरा करने के द्वारा जरूर आत्मा की शुद्धि करके आत्मिक आनंद को प्राप्त कर सकती हैं ।

**जिज्ञासा :** शत्रुंजयादि तीर्थ को तीर्थ कहा जाता है, वैसे स्वर्गादि में रहे हुए जिनमंदिरों को भी तीर्थ कह सकते हैं ?

**तृप्ति :** शत्रुंजयादि तीर्थ की तरह जो जिनमंदिर सौ वर्ष या उससे ज्यादा प्राचीन हों, बहुत समय से पूजे गए हों तथा जिनमें विशेष तारक शक्ति हो, उन जिनमंदिरों या जिन (परमात्मा) संबंधी स्थान भी तीर्थ कहलाते हैं । इसलिए स्वर्ग में, पाताल में या मनुष्यलोक में जो शाश्वत जिनमंदिर हैं, उन्हें तीर्थ कहा जा सकता है ।

**जिज्ञासा :** 'जाइं जिणबिंबाइं' में बहुवचन का प्रयोग क्यों किया गया ?

**तृप्ति :** सामान्यतया ज्यादा मंदिर या प्रतिमाएँ विशेष भावोल्लास का कारण बनती हैं और बहुवचनांत शब्द द्वारा बहुत से जिनबिंबों की सहज

स्मृति हो सकती है, इसलिए यहाँ 'जाइं जिणबिंबाइं' में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

**जिज्ञासा :** इस सूत्र में तीर्थ की वंदना की, तीर्थ में जिनबिंब आ जाने के बावजूद जिनबिंब को अलग से वंदना क्यों की गई ?

**तृप्ति :** तीर्थ तथा जिनबिंब दोनों में तारने की ताकत है, तो भी तीर्थ स्थान में जिनप्रतिमा का महत्त्व अधिक होता है, इसके अलावा भगवान की प्रतिमा विशेष भावोल्लास का कारण भी बनती है, इसलिए तीर्थ की अपेक्षा उसका अलग उल्लेख किया है, ऐसा लगता है ।

# नमोत्थुणं सूत्र

**सूत्र परिचय :**

गणधर रचित इस स्तोत्र द्वारा इन्द्र महाराजा परमात्मा की स्तवना करते हैं, इसलिए इसका दूसरा नाम "शक्रस्तव" है । इस सूत्र में नमस्कार करने के लिए सहजता से बोल सकें, वैसे सरल पद होने से इसे **"प्रणिपातदंडक"** भी कहते हैं ।

इस जगत् में भगवान को मानने वाले-पूजने वाले लोग तो बहुत हैं, परन्तु भगवान कैसे हैं, उनका वास्तविक स्वरूप कैसा है एवं ऐसे स्वरूपवाले भगवान को ही क्यों मानना या पूजना चाहिए, उसका ज्ञान बहुत लोगों को नहीं है । इसलिए वे पूजा के वास्तविक फल को नहीं पा सकते । इस सूत्र में भगवान का वास्तविक स्वरूप कैसा है एवं ऐसे ही भगवान की स्तवना किसलिए करनी चाहिए । उसका सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है, जिसे पढने से चैत्यवंदन आदि में विशिष्ट भाव उत्पन्न करके क्रिया को सफल किया जा सकता है ।

गणधरों की इस विशेष रचना में समाए हुए गूढ़ भाव अपने जैसे बाल जीवों के लिए समझना बहुत कठिन है, परन्तु हमारा महान पुण्योदय है कि चैत्यवंदन के कुछ सूत्रो में गणधर भगवंतों ने जो सूक्ष्म भाव गूढ़ तरीके से

गूँथे हैं, उनको परमोपकारी सूरिपुरंदर पू.आ.श्री हरिभद्रसूरीजी महाराज ने "श्री ललितविस्तरा" नाम के ग्रन्थ में स्पष्ट किये हैं । इस ग्रन्थ के आधार पर ही आज हम इस महान सूत्र का यत्किंचित् भी अर्थ समझ सकते हैं ।

अपने जैसे बाल जीवों की बात तो दूर रही, महाबुद्धिशाली श्री सिद्धर्षिगणी जिन्होंने 'उपमितिभवप्रपंचा', जैसी दुनियाँ की श्रेष्ठ रूपक कथा लिखी है, वे भी इस ललितविस्तरा ग्रन्थ से धर्म में स्थिर हुए थे । साधना जीवन के प्रारंभ में वे बौद्धमत से प्रभावित हुए थे । इक्कीस बार जैन एवं बौद्ध धर्म के बीच झूला खाते रहे । कई बार उनको जैनधर्म सच्चा लगा और कई बार बौद्ध धर्म सच्चा लगा; परन्तु जब उन्होंने "ललितविस्तरा" में वर्णित श्री अरिहन्त परमात्मा का स्वरूप पढ़ा, तभी से वे जैनशासन के प्रति अडिग श्रद्धावाले बन गए ।

ललितविस्तरा ग्रंथ का गुजराती भाषांतर और सुंदर विवेचन वर्धमान तपोनिधि आचार्यदेव श्रीमद् विजय भुवनभानुसूरीश्वरजी महाराज ने 'परमतेज' नाम के पुस्तक में किया है । विशेष जानकारी के लिए जिज्ञासु जन वह पुस्तक देखें । यहाँ तो सूत्र बोलते वक्त जितने भाव उपस्थित हो सके, उतने ही अर्थ और उनकी संवेदना व्यक्त की गई है ।

विचारक जीवों की कोई प्रवृत्ति बेबुनियाद नहीं होती । इसलिए नमस्कार करने से पहले भी उन्हें जिज्ञासा रहती है कि जगत में नमस्कार करने योग्य कौन है और क्यों है ? इस सूत्र में अत्यंत बुद्धिगम्य तरीके से बताया गया है कि, अरिहंत परमात्मा ही नमस्कार करने योग्य हैं और उनके अलग-अलग ३३ विशेषणों द्वारा वे क्यों नमस्कार करने योग्य हैं ? ।

इस सूत्र में अरिहंत परमात्मा का निगोद अवस्था से लेकर मोक्ष तक का वर्णन है । मुक्ति की मंजिल तक की सुदीर्घ यात्रा में अपने विशिष्ट तथाभव्यत्व के कारण वे प्रत्येक स्थान में कैसे होते हैं ? भव्य जीवों के ऊपर किस तरह उपकार करते हैं ? इत्यादि के साथ प्रत्येक भव में तथा अंतिम भव में उनके बाह्य तथा अभ्यंतर स्वरूप का रोचक वर्णन है ।

इस सूत्र के एक-एक पद अनंतगम-पर्याय से अर्थात् अनंत अर्थ से युक्त है । इसमें ९ संपदाएँ हैं । इन संपदाओं के नाम, उनके क्रम और उनका प्रयोजन भी विशिष्ट है । इन सबका बोध होने से विचारकों के लिए इस सूत्र का उच्चारण - चिंतन - मनन आदि अत्यंत आनंदप्रद बनता है ।

इसमें सर्वप्रथम **'नमोऽत्थुणं'** आदि तीन पदों की **'स्तोतव्य'** संपदा बताई गई है । विचारक पुरुष हमेशा विषय की जानकारी प्राप्त करने के बाद ही उसमें प्रवृत्ति करते हैं, इसलिए स्तुति का प्रारंभ करने से पहले स्तुति करने योग्य 'कौन है', वह इस संपदा में बताया है ।

उसके बाद **'आइगराणं'** आदि तीन पदों की दूसरी **'प्रधान साधारण-असाधारण-हेतु'** संपदा बताई गई है । अरिहंत भगवंत ही स्तुतिपात्र हैं, यह जानने के बाद बुद्धिमान पुरुष को प्रश्न उठता है कि, इस जगत् में इच्छित पूर्ण करनेवाले देव तो अनेक हैं, फिर भी अरिहंत भगवंतों की ही स्तुति क्यों करनी चाहिए ? इस जिज्ञासा की तृप्ति के लिए स्तोत्रकार ने यह प्रभु ही स्तुति करने योग्य क्यों है, इसके साधारण (सब में उपलब्ध) तथा असाधारण (मात्र तीर्थंकर में ही उपलब्ध) कारण बताएँ हैं ।

उसके बाद **'पुरिसुत्तमाणं'** आदि चार पदों की तीसरी **'असाधारण हेतु संपदा'** बताई गई है । सामान्य से स्तुति के कारण जानने के बाद भी प्रज्ञावान पुरुष को प्रश्न उपस्थित होता है, कि प्रभु प्रथम से अंत तक कैसे थे ? इसके उत्तर में निगोद से लेकर अंतिम भव तक प्रभु की आत्मा कैसी विशिष्ट थी, वह इस संपदा द्वारा वर्णन किया गया है ।

उसके बाद **'लोगुत्तमाणं'** आदि पाँच पदों की चौथी (स्तोतव्य संपदा की ही) **'सामान्य उपयोग संपदा'** बताई गई है । इतना जानने के बाद भी प्रेक्षावान् को प्रश्न होता है कि, अरिहंत भगवंत जगत में सर्वश्रेष्ठ होने पर भी उनसे हमें क्या फायदा ? इसका उत्तर इन पदों द्वारा दिया गया है ।

पुनः विद्वान को प्रश्न उठता है कि अरिहंत भगवंत लोक में उत्तम हैं, लोक का हित करते हैं वगैरह बातें वास्तविक हैं, परंतु यह हितादि की

प्रवृत्ति वे किस तरह करते हैं ? ऐसी जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए **'अभयदयाणं'** आदि पाँच पदों की पाँचवीं (सामान्य उपयोग संपदा की) **'हेतु संपदा'** बताते हुए कहा है कि, अभयादि भाव में रहे हुए प्रभु जगत् के जीवों को अभयादि देकर हित करते हैं ।

उसके बाद **'धम्मदयाणं'** आदि पाँच पदों की छट्ठी (स्तोतव्य संपदा की ही) **'विशेष उपयोग संपदा'** वर्णन की गई है । हेतु सहित सामान्य उपयोग को जानने के बाद भी बुद्धिमान जीवों को स्तुतिपात्र प्रभु का विशेष उपयोग जानने की इच्छा होती है । इन पदों द्वारा बताया है कि श्रुतधर्म रूप सामान्य धर्म की तरह चारित्रधर्म रूप विशेष गुणों को भी प्रभु प्राप्त करवानेवाले हैं ।

उसके बाद **'अप्पडिहयवरनाण'** - आदि दो पदों की सातवीं (स्तोतव्य संपदा की) **'सकारण स्वरूप संपदा'** बताई गई है । प्रभु सामान्य से और विशेष से किस तरह उपकार करते हैं, यह जानने के बाद भी प्रज्ञासंपन्न जीवों को इस प्रभु का स्वरूप क्या है ? यह जानने की इच्छा होती है, इसलिए ही इन दो पदों द्वारा प्रभु सर्वज्ञ हैं और सर्वदर्शी हैं, यह बताया गया है ।

इतना जानने के बाद भी संपूर्ण सुखेच्छु साधक को प्रश्न उठता है कि, यह प्रभु हमें कहाँ तक पहुँचा सकेंगे ? उसके समाधान के लिए ही **'जिणाणं जावयाणं'** आदि चार पदों की **'आत्मतुल्य परफल कर्तृत्व'** नाम की आठवीं संपदा बताई है । उसके द्वारा साधक को संतुष्ट भी किया है कि, किसी राजा, महाराजा, शेठ या सामंत की सेवा ऐसी नहीं है कि, जो अपने सेवक को अपने जैसा बनाए । जब कि, प्रभु के पास जो सुख है, वह पूर्ण सुख अनाशंस भाव से सेवा करनेवाला साधक प्राप्त कर सकता है ।

अरिहंत भगवंतो का पूर्ण स्वरूप ख्याल में आने के बाद भी दीर्घदृष्टिवान साधक को प्रश्न होता है कि 'ऐसे प्रभु ने कैसे सुख को प्राप्त किया है ? वे अभी कहाँ है ? कितने समय ऐसी स्थिति में रहनेवाले हैं ?'

ऐसे प्रश्नों के उत्तर रूप नौंवी **'सव्वन्नूणं - सव्वदरिसीणं...'** ये चार पदों वाली **'प्रधान-गुण अपरिक्षय प्रधान फल प्राप्ति अभय संपदा'** वर्णन की गई है । इसके द्वारा प्रभु ने प्राप्त किए हुए गुण कभी नाश होनेवाले नहीं हैं, वे सदैव प्रभु के साथ ही मोक्ष में रहनेवाले हैं एवं वह मोक्ष कैसा है ? उसका सुंदर वर्णन इस संपदा में किया गया है ।

ललितविस्तरा ग्रंथ में इस सूत्र के यहाँ तक के पदों का विवेचन प्राप्त होता है, इसलिए अंतिम 'जे अ अइया सिद्धा...' गाथा बाद में इस सूत्र में जोड़ी गई होगी, ऐसी प्रचलित मान्यता है ।

चैत्यवंदन एवं प्रतिक्रमण की आवश्यक क्रियाओं में भाव अरिहन्त का स्वरूप उपस्थित करके उनको वन्दन करने के लिए इस सूत्र का प्रयोग होता है ।

**मूल सूत्र :**

*नमोऽत्थु णं✤ अरिहंताणं, भगवंताणं ।।१।।*

*आइगराणं, तित्थयराणं, सयं-संबुद्धाणं ।।२।।*

*पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं, पुरिस-वर-पुण्डरीआणं,*
*पुरिस-वर-गन्धहत्थीणं ।।३।।*

*लोगुत्तमाणं, लोग-नाहाणं, लोग-हिआणं,*
*लोग-पईवाणं, लोग-पज्जोअगराणं ।।४।।*

*अभय-दयाणं, चक्खु-दयाणं, मग्ग-दयाणं,*
*सरण-दयाणं, बोहि-दयाणं ।।५।।*

*धम्म-दयाणं, धम्म-देसयाणं, धम्म-नायगाणं,*
*धम्म-सारहीणं, धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं ।।६।।*

✤ प्रचलित पाठ नमुत्थुणं होते हुए भी ललितविस्तरा आदि ग्रंथों में 'नमोऽत्थुणं' पाठ होने से यहाँ वह लिखा है ।

*अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं, वियट्ट-छउमाणं ।।७।।*

*जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं,*

*बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं ।।८।।*

*सव्वन्नूणं, सव्व-दरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-*

*मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं,*

*नमो जिणाणं, जिअ-भयाणं ।।९।।*

*जे अ अईआ सिद्धा, जे अ भविस्संति णागए काले ।*

*संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ।।१०।।*

पद - ३३ : संपदा - ९ अक्षर - २९७

**अन्वय सहित संस्कृत छाया एवं शब्दार्थ :**

**अरिहंताणं भगवंताणं नमोऽत्थु णं ।।१।।**

*अर्हद्भ्यः भगवद्भ्योर्नमोऽस्तु ।।१।।*

अरिहन्तों को, भगवंतों को मेरा नमस्कार हो!

**आइगराणं, तित्थयराणं सयं-संबुद्धाणं ।।२।।**

*आदिकरेभ्यः, तीर्थंकरेभ्यः स्वयं-सम्बुद्धेभ्यः ।।२।।*

आदि करनेवालों को (अथवा आदि में = पूर्व में जन्मादि करने के स्वभाव वालों को) तीर्थंकरों को, स्वयं सम्यग् बोध पाए हुओं को।।२।।

**पुरिसुत्तमाणं, पुरिस-सीहाणं, पुरिस-वर-पुंडरीआणं, पुरिस-वर-गन्ध-हत्थीणं ।।३।।**

*पुरुषोत्तमेभ्यः, पुरुष-सिंहेभ्यः, पुरुष-वरपुण्डरीकेभ्यः, पुरुष-वरगन्धहस्तिभ्यः ।।३।।*

पुरुषों में जो उत्तम हैं, पुरुषों में जो सिंह समान हैं, पुरुषों में जो श्रेष्ठ पुंडरीक-कमल समान हैं, पुरुषों में जो श्रेष्ठ गंधहस्ती समान हैं, उनको ।।३।।

**लोगुत्तमाणं, लोग-नाहाणं, लोग-हिआणं, लोग-पईवाणं, लोग-पज्जो-अगराणं ।।४।।**

*लोकोत्तमेभ्यः, लोक-नाथेभ्यः, लोक-हितेभ्यः, लोक-प्रदीपेभ्यः, लोक-प्रद्योत-करेभ्यः ।।४।।*

लोक में जो उत्तम हैं उनको, लोक के नाथों को, लोक का हित करनेवालों को, लोक में विशेष प्रकाश करनेवाले प्रदीपों को, लोक के प्रति प्रद्योत करनेवालों को,

**अभय-दयाणं, चक्खु-दयाणं, मग्ग-दयाणं, सरण-दयाणं, बोहि-दयाणं ।।५।।**

*अभयदेभ्यः, चक्षुदेभ्यः, मार्गदेभ्य, शरणदेभ्यः, बोधिदेभ्यः ।।५।।*

सर्व जीवों को अभय देनेवालों को, श्रद्धारूपी नेत्र देनेवालों को, मार्ग देनेवालों को, शरण देनेवालों को, बोधि देनेवालों को,

**धम्म-दयाणं, धम्म-देसयाणं, धम्म-नायगाणं, धम्म-सारहीणं, धम्म-वर-चाउरंत-चक्कवट्टीणं ।।६।।**

*धर्मदेभ्यः, धर्मदेशकेभ्यः, धर्म-नायकेभ्यः, धर्म-सारथिभ्यः, धर्म-वर-चातुरन्त-चक्रवर्त्तिभ्यः ।।६।।*

धर्म देनेवालों को, धर्म की देशना देनेवालों को, धर्म के स्वामियों को, धर्म के सारथियों को, धर्मराज्य के श्रेष्ठ चतुरंत चक्रवर्तियों को,

**अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं, वियट्ट-छउमाणं ।।७।।**

*अप्रतिहत-वर-ज्ञान-दर्शन-धरेभ्यः, व्यावृत्त-च्छद्मेभ्यः ।।७।।*

अप्रतिहत उत्तम ज्ञान एवं दर्शन धारण करनेवालों को, छद्मरहितों को,

**जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं, मुत्ताणं मोअगाणं ।।८।।**

*जिनेभ्यः जापकेभ्यः, तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः, बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः, मुक्तेभ्यः मोचकेभ्यः ।।८।।*

जीतनेवालों को तथा जीतानेवालों को, जो स्वयं संसार से तैर चुके हैं उनको, तथा अन्य को संसार समुद्र से तैरानेवालों को बुद्धों को तथा बोध देनेवालों को, मुक्तों को तथा मुक्त करवानेवालों को ।

**सव्वन्नूणं, सव्व-दरिसीणं, सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वाबाह-मपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, जिणाणं जिअ-भयाणं नमो ।।९।।**

*सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवम् अचलम् अरुजम् अनन्तम् अक्षयम् अव्याबाधम् अपुनरावृत्ति-सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं संप्राप्तेभ्यः जिनेभ्यः जित-भयेभ्यः नमः ।।९।।*

सर्वज्ञों को, सर्वदर्शियों को, विघ्न-उपद्रवों से रहित, अचल, वेदना (रोग) रहित, अनंत, अक्षय, पीडा रहित, जहाँ जाने के बाद पुनः आगमन नहीं होता, वैसी सिद्धिगति नाम वाले स्थान को प्राप्त किए हुए जिनों को, सात प्रकार के भय जीतनेवालों को नमस्कार हो ।

**जे अ अईआ सिद्धा, जे अ णागए काले भविस्संति ।**
**संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ।।१०।।**

*ये च अतीताः सिद्धाः, ये च अनागते काले भविष्यन्ति ।*
*सम्प्रति च वर्तमानाः, सर्वान् त्रिविधेन वन्दे ।।१०।।*

इसके अतिरिक्त जो भूतकाल में सिद्ध हो गए हैं एवं जो भविष्य काल में सिद्ध होंगे एवं जो वर्तमान में विद्यमान हैं, उन सबको मन-वचन-काया-इन तीनों प्रकार से मैं नमन करता हूँ ।

**विशेषार्थ :**

यह सूत्र भगवान की स्तवनास्वरूप है । स्तवना करने से पहले बुद्धिमान को यह प्रश्न होता है कि स्तुति करने योग्य कौन है ? उसके उत्तर में स्तुति करने योग्य अरिहंत भगवान हैं, वह बताने के लिए प्रथम दो पदों की पहली **"स्तोतव्य संपदा"** बताई गई है ।

**नमोत्थुणं (अरिहंताणं)** - (अरिहंतों को) नमस्कार हो ।

इस वाक्य में कुल चार शब्द हैं - नमोऽत्थु, णं एवं अरिहंताणं । उसमें प्रथम [1]'नमो' शब्द का साधरण अर्थ है - नमस्कार । नमस्करणीय ऐसे अरिहंत भगवंतों के गुणों को याद करके, उन गुणों को प्राप्त करने के लिए मन, वचन, काया का प्रयत्न करना ही वास्तविक नमस्कार है ।

---

1. 'नमो' शब्द का विस्तृत अर्थ सूत्र संवेदना भाग-१ के प्रथम सूत्र के प्रथम पद में देखें ।
'पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यं' प्रतिपत्तिश्च वीतरागे, पूजार्थं च नम इति । पूजा च द्रव्यभावसङ्कोच इत्युक्तम् । - ललितविस्तरा

'नमो' शब्द का प्रयोग 'पूजा' अर्थ में भी होता है । पूजा अर्थात् गुणवान व्यक्ति के प्रति अंतर में प्रकटे हुए बहुमान को व्यक्त करने की क्रिया ।

किसी व्यक्ति के प्रति आदर होने पर सर्वप्रथम उसका बहुमान करने के लिए उसके ऊपर फूल आदि बरसाये जाते हैं या उसको फूल आदि की भेंट देकर उसका सत्कार किया जाता है । उससे अधिक बहुमान करना हो, तो उसे मेवा-मिठाई-अलंकार आदि अर्पण किए जाते हैं । उससे भी अधिक बहुमान होने पर उसकी प्रशंसा करने का मन होता है एवं आगे बढ़कर बहुमान के कारण वह व्यक्ति जो कहे वह करने का मन होता है । इन सब बहुमान की वृद्धि के साथ जुड़ी हुई विविध क्रियाओं को शास्त्रकारों ने चार प्रकार की पूजा में विभाजित किया है, वे इस प्रकार हैं :-

**पूजा के चार प्रकार :**

१. पुष्पपूजा, २. आमिषपूजा, ३. स्तोत्रपूजा, ४. प्रतिपत्तिपूजा अथवा १. अंगपूजा[2], २. अग्रपूजा[3], ३. भाव पूजा[4], ४. प्रतिपत्तिपूजा ।

**१. पुष्पपूजा :-** ताजे, सुगंधित, अखंड पुष्पों से परमात्मा की भक्ति करना, पुष्पपूजा है । पुष्प के उपलक्षण से हरेक प्रकार की अंगपूजा का समावेश इसमें हो सकता है ।

**२. आमिषपूजा :-** भोग्य वस्तु से की हुई भगवान की भक्ति आमिष पूजा कहलाती है । केसर, चंदन, बरास, सुवर्ण, रजत, मणि, माणिक्य, धूप, दीप, अलंकार, अक्षत, फल, नैवेद्य, गीत, नृत्य, वाजिंत्र आदि विविध तरीके से की गई अरिहंत की भक्ति आमिषपूजा है । आमिष के उपलक्षण से सब अग्रपूजा का समावेश इसमें हो सकता है ।

---

२. अंग पूजा : प्रभु की प्रतिमा को स्पर्श करके जल, केसर, बरास आदि से जो पूजा की जाती है, उसे अंग पूजा कहते हैं । पुष्प पूजा एवं धूप पूजा का समावेश इस अंग पूजा में होता है (धर्मसंग्रह के अनुसार)

3. अग्र पूजा : प्रभु प्रतिमा के सन्मुख खडे रहकर दीपक, अक्षत, नैवेद्य आदि से पूजा करना वह अग्रपूजा कहलाती है । आमिषपूजा का समावेश इसमें होता है ।

4. भाव पूजा : प्रभु के सन्मुख स्तुति, स्तवन, स्तोत्रादि बोलने पूर्वक जो भक्ति की जाती है, वह भाव पूजा कहलाती है । स्तोत्र पूजा का समावेश इसमें हो सकता है ।

**३. स्तोत्रपूजा :** अपनी आत्मा के दोषों की निंदा, परमात्मा के गुणों की स्तवना या प्रार्थना जिन श्लोक आदि से की जाती है, वैसे अर्थ गंभीर स्तोत्र, स्तुति, छंद, श्लोक आदि द्वारा परमात्मा की जो स्तवना की जाती है, वह स्तोत्र पूजा कहलाती है ।

**४. प्रतिपत्तिपूजा :-** प्रतिपत्ति अर्थात् स्वीकार-पालन - भगवान की आज्ञा का पालन करना, वह प्रतिपत्ति पूजा है ।

सब जीवों को सदाकाल के लिए सुखी करने के लिए सर्वज्ञ भगवंतों नें शास्त्रों में अनेक प्रकार की आज्ञाओं का फरमान किया है । कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने वीतराग स्तोत्र में इन सब आज्ञाओं का सारांश एक ही वाक्य में दिया है - **"आश्रवः सर्वथा हेय उपादेयश्च संवरः"** - आश्रव[5] का सर्वथा त्याग करो एवं संवर[6] भाव स्वीकार करो ।

भगवान की यह आज्ञा सब जीव नहीं समझ सकते, परन्तु मोह के पाश में से जो आंशिक भी मुक्त हुए हैं एवं अपुनर्बंधक अवस्था को जिन्होंने प्राप्त किया है, वैसे जीव स्थूल से यह आज्ञा समझ सकते हैं । परिणामतः आश्रवरूप हिंसादि पाप प्रवृत्तियों को छोडने योग्य जानकर, वे उनका आंशिक त्याग भी कर सकते हैं, तथा संवरभूत क्षमादि धर्मों को आदरणीय समझकर उनका स्वीकार भी कर सकते हैं ।

व्यवहारनय[7] से प्रतिपत्ति पूजा का प्रारंभ अपुनर्बंधक अवस्था से होता है । जब कि निश्चयनय[8] से सम्यग्दृष्टि विरतिवंत ही प्रतिपत्ति पूजा कर सकतें हैं, क्योंकि वे सूक्ष्म तरीके से हिंसादि पापों को जानते हैं एवं अपनी

5. जिससे आत्मा कर्म के साथ जुड़ता है, वैसी हिंसा, झूठ आदि पाप आश्रव है ।
6. जिससे आते हुए कर्म रूकते हैं वैसे क्षमा, संयमादि भाव संवर हैं ।
7. व्यवहारनयः स्थूल दृष्टि से पदार्थ को देखता है, इसलिए बाह्य से भी हिंसादि को छोड़नेवाले में विरति के परिणाम को स्वीकार करता है । इसमें बाह्य क्रिया का प्राधान्य है ।
8. निश्चयनय सूक्ष्म दृष्टि से पदार्थ को देखता है, इसलिए वह तो विवेक पूर्वक के त्याग को ही विरति मानता है, इससे वह पाँचवें गुणस्थान में ही विरति मानता है । यह नय आत्मा के अध्यवसायों को प्राधान्य देता है ।

आत्मा के लिए ये भाव अनर्थकारी हैं, ऐसा मानकर भावपूर्वक उसका त्याग कर सकते हैं तथा क्षमा, संतोष आदि के सूक्ष्म स्वरूप को समझकर यह धर्म ही आत्मा को सुख देनेवाला है, ऐसा मानकर उनका स्वीकार भी कर सकते हैं।

प्रतिपत्तिपूजा की पराकाष्ठा चौदहवें गुणस्थानक में सर्वसंवरभाव की सामायिक आने पर होती है, क्योंकि तब ही सर्वथा आश्रव का त्याग करके जीव सर्वसंवर को पा सकता है ।

संक्षेप में 'नमो' अर्थात् नमस्कार करने योग्य भगवान में रहे हुए उत्तम गुणों को प्राप्त करने का मन-वचन-काया से किया हुआ प्रयत्न अथवा 'नमो' अर्थात् इन चार प्रकार की पूजा में से किसी भी प्रकार की पूजा के लिए किया गया प्रयत्न ।

**अत्थु :** हो, (अरिहंत भगवान को मेरा नमस्कार हो) ।

'अत्थु = हो' यह शब्द आशंसा या प्रार्थना के अर्थ में प्रयुक्त है । यहाँ भाव नमस्कार की प्रार्थना की है ।

यहाँ, करेमि = करता हूँ, शब्द का प्रयोग न करके 'अस्तु' का प्रयोग किया है क्योंकि, 'अस्तु' शब्द के प्रयोग द्वारा परमात्मा को प्रार्थना करते हुए एक प्रकार की आशंसा व्यक्त की जाती है कि, "हे भगवंत! आपकी आज्ञा के पूर्ण पालन स्वरूप प्रतिपत्ति पूजा करने का तो आज मेरा सामर्थ्य नहीं है फिर भी, हे प्रभु ! नम्र भाव से किया हुआ मेरा यह नमस्कार सर्वश्रेष्ठ भाव नमस्कार का कारण बनें ।" इस प्रकार 'अस्तु' शब्द द्वारा सर्वश्रेष्ठ कोटि के नमस्कार करने की भावना व्यक्त की जाती है ।

**जिज्ञासा :** भगवान की आज्ञा के पालनरूप भाव नमस्कार की प्रार्थना सामान्यजन के लिए तो योग्य है, परन्तु इस सूत्र के रचयिता गणधर भगवंतों के लिए क्या ऐसी आशंसा योग्य है ? वे तो प्रभु आज्ञा के पालनरूप भाव पूजा कर ही रहे हैं ।

**तृप्ति :** सामान्यतया सोचने से ऐसा लगता है कि, यह बात सच है, परन्तु गहराई से सोचें तो ख्याल आता है कि, भगवान की आज्ञा के पालनरूप भाव नमस्कार भी उत्कर्ष-अपकर्ष आदि अनेक भेदवाला है शास्त्रकारों ने उसके मुख्य तीन भेद बताए हैं : [1]इच्छायोग[9] [2]शास्त्रयोग, [3]सामर्थ्ययोग । जब तक सामर्थ्य योग का सर्वश्रेष्ठ नमस्कार न हो, तब तक साधक अपनी भूमिका से ऊपर ऊपर के नमस्कार की प्रार्थना करें, तो वह अनुचित नहीं है । सामर्थ्य योग का भाव नमस्कार तत्काल वीतराग रूप फल देता है । इसलिए वीतराग रूप फल की प्राप्ति न हो, तब तक गणधर भगवंत या मुनि भगवंत भी बार बार इस प्रकार प्रार्थना करते हैं, यह उचित ही है ।

---

9. भावों की भिन्नता के कारण एक ही धर्मक्रिया के अनेक प्रकार हो सकते हैं । इन अनेक प्रकारों का संग्रह शास्त्रकारों ने इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्य योग : तीन योग में किया है ।

**इच्छायोग :**

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः । विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ।।३।।

**शास्त्रयोग :**

शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो, यथाशक्त्यप्रमादिनः । श्राद्धस्य तीव्र बोधेन वचसाऽविकलस्तथा ।।४।।

**सामर्थ्ययोग :**

शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः । शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ।।५।।

- श्री योगदृष्टि समुच्चय ।

**१. इच्छायोग :** धर्म करने की इच्छा तीव्र हो, क्रिया संबंधी शास्त्रज्ञान भी हो, फिर भी प्रमादादि दोषों के कारण शास्त्र में जिस प्रकार से धर्मक्रिया करने को कहा गया है, पूर्णतया उसी प्रकार से न कर सके, परन्तु धर्मक्रिया में किसी अंग की विकलता रहे, तो वैसी धर्म क्रिया को इच्छायोग की क्रिया कहते हैं।

**२. शास्त्रयोग :** शास्त्र वचन के अत्यंत बोधवाली एवं मोहनीय कर्म के नाश से विशिष्ट कोटि की श्रद्धा जिसमें प्रगट हुई हो, वैसी आत्मा अपनी शक्ति के अनुरूप प्रमादादि भावों को त्याग करके शास्त्र में जो धर्मक्रिया जिस तरीके से करने को कही है, उसी प्रकार से किसी भी अंग की विकलता के बिना धर्मक्रिया कर सकती है । उनकी ऐसी शास्त्रानुसारी धर्मक्रिया को शास्त्रयोग की क्रिया कहते हैं ।

**३. सामर्थ्ययोग :** मोक्ष का मार्ग अतीन्द्रिय है । इस मार्ग का ज्ञान, शास्त्र से भी मर्यादित मात्रा में ही होता है । आत्मशक्ति की जब प्रबलता होती है अर्थात् आत्मा की तीव्र शक्ति जब प्रकट होती है, तब अनुभव ज्ञान होता है । इस अनुभव ज्ञान द्वारा शास्त्र में बताए हुए मार्ग से आगे का मार्ग दिखाई देता है । उस मार्ग पर विशिष्ट प्रकार के वीर्य के प्रवर्तन द्वारा घाति कर्मों का नाश करके आत्मा केवलज्ञान को प्राप्त करती है । विशिष्ट प्रकार के वीर्य प्रवर्तन की यह क्रिया सामर्थ्य योग की क्रिया कहलाती है।

**नमोऽत्थु णं** बोलते हुए हमें सामर्थ्य योग के नमस्कार की भावनापूर्वक इच्छायोग का नमस्कार करना चाहिए । इच्छायोग की भावपूर्वक माँग ही उच्चकोटि के भाव नमस्कार में विघ्न करनेवाले कर्मों का नाश करवाकर एक दिव्य एवं श्रेष्ठ भाव नमस्कार की प्राप्ति का कारण बनती है । इसलिए श्रेष्ठ फल की प्राप्ति की इच्छावाले साधक को इस प्रकार प्रार्थना करनी योग्य है ।

**'णं'** ये मात्र वाक्य की शोभा के लिए प्रयोग किया हुआ एक शब्द है । जिस प्रकार गुजराती में कड़ी के अंत में रे... लोल... वगैरह शब्दों का प्रयोग होता है, वैसे ही 'णं' वाक्य का अलंकार है ।

'नमोऽत्थु णं' का संबंध आगे के प्रत्येक पद के साथ है । यह शब्द बोलते हुए निम्नलिखित विशेषण युक्त अरिहंत भगवंतों को नजर के समक्ष लाकर, मस्तक झुकाकर उनके सामने प्रार्थना करते हुए सोचना चाहिए,

*"हे नाथ ! मैं पूर्णकोटि के भावों से युक्त नमस्कार करने में तो आज असमर्थ हूँ । तो भी अल्प भावों से युक्त किया हुआ मेरा यह नमस्कार सर्वश्रेष्ठ भाव नमस्कार का कारण बनें ।"*

**[10]अरिहंताणं (नमोऽत्थुणं) -** अरिहंतों[11] को (नमस्कार हो) ।

'अरिहंत' शब्द में अरि=शत्रु एवं हंत=हनन करनेवाला; अतः रागादि अंतरंग शत्रुओं का जिन्होंने नाश किया है, उन्हें अरिहंत कहते हैं । इसके अलावा दो पाठांतर भी मिलते हैं, जिससे **'अरहंताणं'** अर्थात् श्रेष्ठ गुणसंपत्ति के स्वामी होने से देव एवं देवेन्द्रों से भी पूजने योग्य एवं

10. अरिहंत का विशेष स्वरूप 'नवकार मंत्र' के प्रथम पद के अर्थ में देख लें । कहीं-कहीं 'अरिहंताणं' के बदले अरहंताणं या अरुहंताणं का पाठ है । वह हरेक पाठ भी अरिहंत पद का वाचक है, इसलिए संगत है ।

11. यहाँ अरिहंताणं वगैरह पद बहुवचन में है क्योंकि बहुवचनांत पद बोलते हुए एक साथ बहुत से अरिहंत बुद्धि में उपस्थित हो जाते हैं । ऐसी उपस्थिति साधक आत्मा के उत्कृष्ट भाव का कारण बन सकती है । इसके अलावा जो आत्म-अद्वैतवादी ऐसा मानते हैं कि इस जगत में एक ही आत्म द्रव्य है, और एक ही आत्मा अलग-अलग शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से दिखाई देती है । जिस प्रकार चन्द्रमा एक होते हुए भी हिलते पानी में अनेकरूप से दिखता है । उनकी यह मान्यता बहुवचन के प्रयोग से गलत साबित होती है; क्योंकि आत्मा अनंत हैं ।

**'अरुहंताणं'** अर्थात् कर्मों का सर्वथा नाश होने के कारण जिनका पुर्नजन्म नहीं होता, वैसे अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हों ।

यह पद बोलते हुए रागादि शत्रुओं का नाश करनेवाले, जन्म की परंपरा को छेदनेवाले, सबके लिए पूज्य ऐसे अरिहंत परमात्मा को अंतःकरण में बिराजित करके, नमस्कार करते हुए प्रार्थना करनी चाहिए -

*"हे नाथ ! रागादि शत्रुओं से पीड़ित होने से मेरी जन्म-मरण की तथा दुःखो की परंपरा चालू रहती है। आपको नमस्कार करते हुए एक ही प्रार्थना करता हूँ कि प्रभु ! रागादि भावों से छुडाकर मुझे भी अपने जैसा सुखी बनाइएँ ।"*

अरिहंत परमात्मा के नाम[12], स्थापना, द्रव्य एवं भावः ये चारों निक्षेप जगत् के जीवों को पवित्र करने में समर्थ होने से पूजनीय हैं, तो भी इन चारों निक्षेपों में भाव निक्षेप प्रधान है; क्योंकि भाव अरिहंत के स्मरणपूर्वक ग्रहण किया हुआ अरिहंत का नाम, अरिहंत की प्रतिमा या अरिहंत की कोई भी द्रव्य अवस्था को किया हुआ नमस्कार ही सविशेष कल्याण का कारण बनता है, इसलिए अब भाव-अरिहंत को व्यक्त करनेवाला भगवंताणं पद कहते हैं -

**भगवंताणं (नमोऽत्थुणं)** - भगवंतों को (नमस्कार हो)

'भग'[13] शब्द के ऐश्वर्य, रूप, यश, लक्ष्मी, धर्म एवं प्रयत्न ऐसे छः महत्त्वपूर्ण अर्थ होते हैं । 'वंत' शब्द का अर्थ 'वाला' होता है । ऐश्वर्यादि छः गुणों वाले भगवान होते हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो ।

---

12. नामाकृति-द्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् । - श्री सकलाऽर्हत् स्तोत्र

13. 'भग' - भगोऽर्कज्ञान-माहात्म्य-यशः-वैराग्य-मुक्तिषु। रूप-वीर्य-प्रयत्नेच्छा-श्रीधर्मैश्वर-योनिषु ।
'भग' शब्द सूर्य, ज्ञान, माहात्म्य, यश, वैराग्य, मुक्ति, रूप, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, लक्ष्मी, धर्म, ईश्वर और योनि अर्थ में प्रयुक्त होता है । इन चौदह अर्थों में से सूर्य और योनि-इन दो को छोड़कर १२ अर्थ भगवान में विद्यमान हैं, परन्तु यहाँ मात्र महत्त्वपूर्ण छ अर्थों का विवेचन किया गया है ।
'भगवद्भ्य' इति । तत्र भग समग्रैश्वर्यादिलक्षणः ।
उक्तं च - "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ।।"
- श्री ललित विस्तरा

**१. ऐश्वर्य :** ऐश्वर्य अर्थात् सर्वश्रेष्ठ ठकुराई । इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ ठकुराई अरिहंत परमात्मा की है; क्योंकि दुन्यवी दृष्टि से उच्च कोटि के भौतिक सुख एवं तीर्थंकर नामकर्म के उदय से प्राप्त हुए ३४ अतिशयों के वे स्वामी हैं । उनके गुणों से आकर्षित हुए देव, देवेन्द्र एवं नरेन्द्र भी उनके सेवक बनकर रहते हैं एवं उनकी अनेक प्रकार की भक्ति करते हैं । केवलज्ञान होते ही इन्द्रादि देव, अष्ट महाप्रातिहार्य की शोभा करते हैं । परमात्मा जहाँ पैर रखते हैं, वहाँ मक्खन जैसे कोमल नौ सुवर्ण कमल की रचना करते हैं । ऐसे अनेक प्रकार के परमात्मा के ऐश्वर्य उनके आंतरिक गुणों के द्योतक होने से अनेकों के लिए धर्मप्राप्ति का कारण बनते हैं, उनका यह बाह्य ऐश्वर्य भी योग का प्रभाव है ।

**२. रूप :** प्रभु का रूप अति सुंदर एवं अनुपम कोटि का होता है । जगत् में ऐसा रूप किसी और का नहीं होता कि जिसकी उपमा द्वारा भगवान के रूप की आंशिक तुलना भी की जा सके, तो भी उनके रूप का वर्णन करने के लिए महापुरुषों ने लिखा है कि सब देव, दैविक शक्ति से अपना पूरा सौन्दर्य एक अंगूठे में एकत्रित कर लें एवं उस अंगूठे को भगवान के रूप के सामने रखें, तो वह अंगूठा भगवान के रूप के सामने कोयले जैसा लगेगा[14] । इसलिए एक कवि ने गाया है -

*"देखो माई अजब रूप जिनजी को;*
*उनके आगे और सबहु को, रूप लगे मोहे फ़ीको;... देखो..."*

*"कोडी देव मिलके कर सके, एक अंगूठ रूप प्रतिछंद*
*ऐसो अद्‌भुत रूप तिहारो, बरसत मानुं अमृत के बुंद*
*जय जय पास जिणंद"*

---

14. आवश्यक निर्युक्ति में कहा गया है कि आपकी अद्‌भुत शक्ति से सर्व देवताओं मिलने के एक अंगुष्ठ प्रमाणरूप विकुर्वे ओर रूप के भगवंत का अंगुठा की तुलना में रखने में आये वे देवनिर्मित अंगुठा की स्थिति हुवे उसी सूर्य की सामने अंगारा की !

सव्वसुरा जइ रूवं अंगुठ्ठपमाणयं विउव्वेज्जा ।
जिणपादंगुट्ठं पइ न सोहए तं जहिंगालो ।।५६६।।

- आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका

विशिष्ट पुद्गल परमाणु से बना हुआ परमात्मा का यह रूप किसी के काम-विकार का कारण नहीं बनता, परन्तु यह रूप, देखनेवाले को शांति एवं प्रशमभाव की अनुभूति करवाता है ।

**३. यश :** बाह्य शत्रु को जीतने के बावजुद भी अंतरंग राग, द्वेषादि शत्रुओं को न जीता जाए, तो अपयश की संभावना रहती है, इसलिए परमात्मा ने बाह्य शत्रुओं की उपेक्षा करके धर्मध्यान के संग्राम द्वारा अंतरंग राग, द्वेषादि अति दुर्जय शत्रुओं के विनाश का प्रयत्न किया । उसके लिए किसी भी प्रकार की दीनता या विह्वलता के बिना परिषह एवं उपसर्ग को सहन करके उन्होंने अंतरंग शत्रुओं को जीतकर तीनों लोक को आनंद देनेवाला तथा सतत रहनेवाला विशाल एवं निर्मल यश प्राप्त किया है।

**४. लक्ष्मी :** घातीकर्मों के नाश से परमात्मा को केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिकभाव का चारित्र, अनंतवीर्य, अतिशयित आत्मिक सुखरूप श्रेष्ठ अंतरंग लक्ष्मी एवं तीर्थंकर नामकर्म के उदय से ३४ अतिशयरूप श्रेष्ठ बाह्य लक्ष्मी (रिद्धि-सिद्धि) प्राप्त हुई होती है ।

**५. धर्म :** क्षायिक भाव के सम्यग्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूप धर्म, परम श्रेष्ठ कोटि के दान, शील, तप एवं भावरूप धर्म, साश्रवभाव[15] एवं निराश्रवभाव रूप[16] धर्म तथा समता[17] एवं वृत्ति संक्षय[18] आदि महान योग की परमात्मा को प्राप्ति हुई होती है ।

---

15. **साश्रव धर्म :** परमात्मा का पृथ्वीतल पर विचरण, उपदेश-प्रदान आदि प्रवृत्ति को साश्रव धर्म कहते हैं ।
16. **निराश्रव धर्म :** मोह के विकारों से अलिप्त रहकर आत्मभाव में रहने को निराश्रव धर्म कहते हैं ।
17. **समता :** जगत के पदार्थ जैसे हैं, वैसे हैं । न अच्छे, न बुरे । ऐसा होने के बावजूद भी अज्ञानी जीव उन्हें अच्छे बुरे तरीके से देखते हैं । जगत्वर्ती सब पदार्थों में अच्छे-बुरेपन की या इष्ट-अनिष्ट की बुद्धि का त्याग करके, सर्व द्रव्यों के प्रति समान वृत्ति धारण करना समता है ।
18. **वृत्ति संक्षय :** मन में उत्पन्न होनेवाले संकल्पों, विकल्पों एवं शरीर द्वारा होनेवाले स्पंदनों का सर्वथा त्याग करना अर्थात् वे फिर से कभी उत्पन्न ही न हों, उस तरीके से उनका निरोध करना वृत्ति संक्षय नाम का सर्वश्रेष्ठ योग है ।

**६. प्रयत्न :** चंचल मन को स्थिर करना अत्यंत कठिन कार्य है । मनोयोग आदि को स्थिर करने के लिए विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है । परमात्मा भी भिन्न-भिन्न विषयों की ओर दौड़ते हुए अपने मन को रोककर उसे एक निश्चित पदार्थ में स्थिर करते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशिष्ट एकाग्रता को साधकर वे एक रात्रि की महान प्रतिमा को वहन करते हैं । शुक्लध्यान प्राप्त करके, क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं । मन, वचन, काया के योगों को रोककर शैलेशीकरण[19] करके अंत में सब कर्मों का क्षय कर मुक्त बनते हैं, ऐसे विशिष्ट प्रयत्नवाले भगवान हैं ।

यह पद बोलते हुए ऐसे रूप, ऐश्वर्य आदि गुणों से युक्त अरिहंत परमात्मा को हृदयस्थ करके नमस्कार करते हुए प्रार्थना करनी चाहिए -

*"हे नाथ ! दुनिया की ऋद्धि-समृद्धि एवं रूप से प्रभावित होनेवाला मैं आपकी इस समृद्धि का वर्णन सुनकर, समझकर भी अब तक उससे क्यों आकर्षित नहीं हुआ ? आप की लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए क्यों मेहनत भी नहीं करता ? श्रीयुक्त हे स्वामी ! आपको किया हुआ यह नमस्कार मुझे आप के जैसा स्वरूप प्रदान करें ।"*

अरिहंत एवं भगवंत स्तुति करने योग्य हैं, यह जाना । तब प्रश्न उठता है कि, ये भगवान स्तवन के योग्य क्यों हैं ? उसका सामान्य एवं विशेष कारण (हेतु) अब **'प्रधान-साधारण-असाधारण हेतु संपदा'** नाम की दूसरी संपदा में बताते हैं । इस संपदा को योगशास्त्रकार वगैरह 'सामान्य हेतु' संपदा कहते हैं ।

19. **शैलेशीकरण :** चौदहवें गुणस्थानक में आत्म प्रदेशों को मेरुपर्वत जैसा स्थिर-निष्प्रकंप करने की प्रक्रिया को शैलेशीकरण कहते हैं ।

[20]**आइगराणं (नमोऽत्थु णं)** - तीर्थ की आदि करनेवाले अथवा आदि में अर्थात् पूर्व में (जन्मादि प्रपंच को) करने के स्वभाववाले[21] ऐसे अरिहंत भगवंतों को (मेरा नमस्कार हो ।)

'आइगराणं' अर्थात् प्रारंभ करनेवाले । सर्व प्रकार की नीति एवं श्रुत धर्म का सबसे पहले उपदेश देनेवाले परमात्मा हैं, इसलिए उन्हें आदि करनेवाला बताया है। उनको मैं नमस्कार करता हूँ ।

यद्यपि श्रुतधर्म रूप द्वादशांगी अर्थ की अपेक्षा से शाश्वत है, फिर भी शब्द की अपेक्षा से अलग-अलग तीर्थंकर के शासन में वह भिन्न-भिन्न होती है । हरेक तीर्थंकर के शासन में शब्द से भिन्न-भिन्न प्रकार से द्वादशांगी की रचना होती है एवं उस रचना में परमात्मा की त्रिपदी कारणभूत होने से परमात्मा को 'श्रुतधर्म की आदि करनेवाले' कहते हैं । यह अर्थ कलिकाल सर्वज्ञ पू. हेमचन्द्राचार्य भगवंत ने योगशास्त्र में किया है ।

अथवा

ललित विस्तरा ग्रंथ के अनुसार ऐसा अर्थ होता है -

आदि में अर्थात् मोक्ष की अपेक्षा से आदि में = संसार में । अनादिकाल से अरिहंत भगवंत भी संसारी जीवों की तरह कर्मबंध एवं जन्म, मरण, शरीर, सुख-दुःख की अनुभूति आदि करने के स्वभाववाले होते हैं ।

---

20. सांख्यदर्शन की मान्यता है कि, जगत् में दो तत्त्व है पुरुष और प्रकृति उनमें पुरुष याने आत्मा चेतन है एवं प्रकृति जड है । अनादिकाल से अनंतकाल तक कुटस्थ नित्य ऐसा आत्मा सदा शुद्ध रहता है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता। प्रकृति सत्त्व-रजस् तमस् स्वरूप त्रिगुणात्मक होने से उसमें से दूसरे २८ तत्त्वों उत्पन्न होते है । आत्मा तो सदा शुद्ध होने से उसमें कभी कर्तुत्व नहीं होता याने वह कभी कर्ता नहीं बनता (कुछ करता नहीं) । सांख्यदर्शन की ऐसी मान्यता का खंडन 'आईगराणं' पद करता है। यह पद सूचित करता है कि जन्म-मरण शरीर सुख-दुःख आदि करने का स्वभाव आत्मा का है ।

21. इहादौ करणशीला आदिकराः अनादावपि भवे तदा तदा तत्तत्कर्म्माण्वादिसम्बन्धयोग्यतया विश्वस्यात्मादिगामिनो जन्मादिप्रपञ्चस्येति हृदयम् । - ललित विस्तरा

अरिहंतों की आत्मा भी अन्य जीवों की तरह अनादिकाल से संसार में ही भवभ्रमण करती है, इसलिए तीर्थंकर होने से पहले वे भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव के निमित्तों के अनुसार कर्मों के साथ संबंधवाले बनते हैं एवं कर्मों के साथ संबंधित होने के कारण उनके जन्म, मरण, जरा आदि रूप संसार का विस्तार होता है, परन्तु जैसे-जैसे उनकी समझ बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वे प्रयत्न करके आत्मा को कर्म के संबंध से मुक्त करते हैं । कर्म संबंध टूटने के कारण उनको जन्म, मरण आदि के चक्कर से मुक्ति मिलती है एवं वे आत्मा के अनंत आनंद को प्राप्त कर सकते हैं ।

यह पद बोलते ही भगवान की पूर्वापर अवस्था याद आनी चाहिए एवं ऐसा महसूस होना चाहिए कि भगवान भी पहले तो हमारे जैसे ही जन्मादि प्रपंच करनेवाले थे, परन्तु प्रयत्न करके वे भगवान बन गए और हम तो यहीं रह गए । हम भी यदि प्रयत्न करें तो अवश्य ही उनके जैसी निर्मल अवस्था प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि हरेक आत्मा के लिए नियम है कि वे जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भव के निमित्त को पाती है, वैसे कर्मों को बाँधती हैं । स्वयं तीर्थंकर की आत्मा की भी यही स्थिति होती है, तो हमारे जैसे सामान्य जन के लिए तो सवाल ही कहाँ है ? इसलिए यदि ऐसे कर्मबंध से अटकना हो, तो यथासंभव प्रयत्न से वैसे-वैसे द्रव्यादि के निमित्तों को निष्फल करने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि द्रव्यादि के निमित्तों की असर से अगर अटके, तो ही कर्मबंध से अटक सकते हैं एवं कर्मबंध से अटके, तो ही इस संसार के परिभ्रमण से मुक्त हो सकते हैं ।

यह पद बोलते हुए आदि में, जन्मादि प्रपंच को करनेवाले परमात्मा को याद करके नमस्कार करते हुए प्रभु के पास प्रार्थना करनी चाहिए -

*"हे नाथ ! भूतकाल में आप मेरे जैसे ही थे और आज आप कहाँ पहुँच गए ? हे प्रभु ! आपको किया हुआ मेरा यह नमस्कार मुझे भी उस भाव तक ले जाने में सहायक बनें ।"*

इस पद द्वारा भगवान को जन्मादि का एवं कर्मसंयोग का कर्त्ता कहा है। सर्व संसारी जीव ऐसा करते हैं, इसी कारण से यह साधारण धर्म कहलाता है । पूर्व में अपने जैसे ही अशुद्ध स्वरूपवाले प्रभु ने भी साधना मार्ग पर आगे बढने का प्रयत्न किया, तो वे परम शुद्ध बन सकें । इस वास्तविकता का ख्याल साधक को साधना में उत्साहित करता है । यदि परमात्मा पहले से ही शुद्ध होते, तो जिन्होंने कुछ भी नहीं किया वैसे प्रभु, साधक के लिए आदर्श के रूप में स्तुति करने योग्य भी न होते, परन्तु प्रभु साधना करने द्वारा शुद्ध बने हैं, इसलिए उनकी स्तुति करने योग्य है । इस तरह इस पद द्वारा स्तुति का साधारण कारण बताया है।

**[22]तित्थयराणं (नमोऽत्थु णं)** - तीर्थ को स्थापित करनेवाले ऐसे अरिहंत भगवंतों को (मेरा नमस्कार हो।)

भयंकर कोटि के संसार से तारनेवाले को तीर्थ[23] कहते हैं एवं तीर्थ की स्थापना करनेवाले को तीर्थंकर कहते हैं ।

तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही वे परमात्मा तीर्थंकर कहलाते हैं ।

---

22.इस पद से आगम को प्रधान मानने वाले आगम धार्मिक का मत अमान्य होता है । आगम धार्मिकों का मत यह है कि - धर्म-अधर्म आदि अतीन्द्रिय भाव केवलज्ञान हुए बिना दीखते नहीं एवं केवलज्ञान सर्व कर्म के नाश के बिना होता नहीं । सर्व कर्मों का क्षय होने से केवली आत्मा का तुरंत ही मोक्ष हो जाता है । इसलिए धर्म तीर्थ की स्थापना वे नहीं कर सकते, इसलिए वे मानते हैं कि धर्म को बतानेवाले जो वेद वाक्य हैं, वे किसी पुरुष रचित नहीं है, परन्तु अपौरूषेय, नित्य निर्दोष हैं । जो योगी पुरुष योग की साधना करते हैं, उनको ये वेद वाक्य सुनाई देते हैं और समझ में आते हैं एवं वे योगी जगत के समक्ष इन वेद के वाक्यों को प्रस्तुत करते हैं । इस प्रकार धर्मादि की व्यवस्था चलती है, इसलिए इन वचनों का कर्त्ता कोई स्वतंत्र पुरूष नहीं अर्थात् तीर्थ को करनेवाला कोई नहीं है ।

'भगवान तीर्थ की स्थापना करते हैं' ऐसा कहने से इस मत को अमान्य किया है क्योंकि धर्म, अधर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान घातिकर्म के नाश से प्रकट होनेवाले केवलज्ञान से होता है एवं केवलज्ञान होने के बाद भी अघाति ऐसे आयुष्य, नाम, गोत्र, वेदनीय कर्म बाकी रहते हैं। इस कर्म के कारण परमात्मा तीर्थ की स्थापना, उपदेश आदि की भी प्रवृत्ति करते हैं ।

23.तीर्थ पद की विशेष व्याख्या सूत्र संवेदना भा. १ - लोगस्स सूत्र में देखें ।

तीर्थ की स्थापना यह परमात्मा के जीवन का उच्चतम परोपकार है । एक महान सत्कार्य है । परमात्मा की यह उत्कृष्ट से उत्कृष्ट शुभ प्रवृत्ति है।

श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन गुण से युक्त अरिहंत प्रभु पूर्व के तीसरे भव में जब कर्माधीन जीवों की विविध दुर्दशा देखते हैं, तब उनके हृदय में तीव्र करुणा भाव प्रकट होता है । जगत के जीवों को दुःख से मुक्त करने की भावना उत्पन्न होती है । परन्तु... वे समझते हैं कि, जैनशासन के सिवाय इस जगत में जीवों को मुक्त करनेवाला अन्य कोई नहीं है । इसलिए वे सोचते हैं कि, 'जो होवे मुज शक्ति इसी, सवि जीव करूं शासन रसी । (यदि मुझ में ऐसी शक्ति हो तो सर्व जीवों को शासन रसिक बनाऊँ) । किसी जीव को शासन रसिक बनाना याने उसके हृदय में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र की रुचि उत्पन्न करना और संसार की रुचि याने विषय-कषाय की रुचि निकाल देना । बस इसी भावना से वे तीर्थंकर नामकर्म की निकाचना करते हैं ।

अंतिम भव में जब परमात्मा, साधना द्वारा घनघाति कर्मों का क्षय करते हैं, तब समस्त जगत को प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञानादि गुण प्रकट होते हैं । इसके साथ ही, पूर्व के तीसरे भव में सभी जीवों को शासन रसिक करने की भावना से निकाचित किए हुए तीर्थंकर नामकर्म का विपाकोदय प्रारंभ होता है । वैसे तो मोहनीय कर्म का नाश होने के कारण उनको तीर्थ का प्रवर्तन करने की कोई इच्छा नहीं होती, फिर भी जिस प्रकार सूर्य स्वभाव से पूरी दुनिया को प्रकाशित करता है, वैसे ही परमात्मा भी तीर्थंकर नामकर्म के उदय से उत्कृष्ट परोपकार की प्रवृत्ति सहज भाव से करते हैं । इस परोपकार द्वारा ही उनके तीर्थंकर नामकर्म का क्षय होता है।

परमात्मा तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं अर्थात् परमात्मा चतुर्विध श्रीसंघ की स्थापना करते हैं एवं प्रवचन प्रदान करते हैं । देशना द्वारा वे जगत के जीवों को जड़ एवं चेतन द्रव्य का यथार्थ स्वरूप समझाते हैं, मात्र स्वरूप ही नहीं, परन्तु देशना द्वारा जीव द्रव्य को किसी भी प्रकार की पीड़ा न हो एवं जड़ द्रव्य को किसी भी प्रकार से हानि न हो, वैसी जीवनपद्धति बताते हैं।

इस देशना को सुनकर अनेक भव्य आत्माएँ सत् ज्ञान एवं सत्क्रिया (चारित्र) का स्वीकार करती हैं । उसके द्वारा भीषण भवसागर को पार करती हैं । इस तरह परमात्मा का प्रवचन भयंकर संसार सागर से तारने-वाला होता है, इसलिए उसे तीर्थ कहते हैं ।

सर्वप्रथम परमात्मा गणधर पद के योग्य आत्माओं द्वारा पूछे हुए प्रश्न के उत्तर के रूप में त्रिपदी का उपदेश देते हैं। बीज बुद्धि के स्वामी गणधर भगवंतों को परिमित शब्दों में दी गई इस त्रिपदी द्वारा समग्र विश्व व्यवस्था का बोध होता हैं, सब जीवों के हिताहित को भी जानते हैं और उसके आधार पर द्वादशांगी की रचना करते हैं। इस द्वादशांगी को प्रभु प्रमाणित करते हैं एवं उनके शासनकाल तक इस द्वादशांगी को पाकर अनेक आत्माएँ भवसागर पार करती हैं, इसलिए **द्वादशांगी को तीर्थ** कहते हैं ।

प्रवचन किसी आधार के बिना नहीं रह सकता, इसलिए साक्षात् प्राप्त हुए या द्वादशांगी आदि ग्रंथों द्वारा प्राप्त हुए भगवान के वचन जिसके हृदय में परिणत होते हैं अर्थात् वचन के अनुरूप विरति के परिणाम जिनमें प्रकट होते हैं, वैसे प्रवचन के आधारभूत साधु-साध्वी-श्रावक एवं श्राविका रूप **चतुर्विध संघ भी तीर्थ** हैं । इन दोनों तीर्थो को बनानेवाले परमात्मा है, इसलिए उन्हें तीर्थंकर कहते हैं ।

यह पद बोलते हुए तीर्थ के प्रवर्तन द्वारा जिन्होंने अपने ऊपर अनन्य उपकार किया है, उन तीर्थंकर परमात्मा को नजर के समक्ष लाकर नमस्कार करते हुए ऐसी आशंसा करनी चाहिए -

"हे नाथ ! आपके द्वारा प्रवर्तित तीर्थ का अवलंबन लेकर मैं भी
शीघ्र संसार सागर पार कर सकूँ, वैसा सामर्थ्य दीजिये ।"

ऐसे भावपूर्वक किया हुआ नमस्कार तीर्थ के आलंबन की प्राप्ति में विघ्नकारक कर्म का विनाश करवाकर, भगवान के वचन के अनुसार चलने का पूर्ण सामर्थ्य देता है ।

**[24]सयंसंबुद्धाणं (नमोऽत्थु णं) -** जिन्होंने स्वयं ही सम्यग् बोध को प्राप्त किया है, ऐसे परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

तीर्थंकर परमात्मा का तथाभव्यत्व[25] विशिष्ट कोटि का होता है । जिसके कारण वे स्वतः ही संबोध अर्थात् श्रेष्ठ बोधि को प्राप्त करते हैं । गाढ़ मोह की निद्रा में पड़े हुए जगत के जीवों को जागृत करने के लिए महापुरुष अथक प्रयत्न करते हैं, तो भी कुछ जीव ही मोह निद्रा का त्याग कर सकते हैं, पर अरिहंत परमात्मा का जीवदल ही ऐसा उच्चकोटि का है कि उनको जागृत करने की कोई जरूरत ही नहीं पड़ती । उनकी अपनी जागृति विशिष्ट कोटि की होती है । संयम जीवन के प्रारंभ से ही गुरु के उपदेश के बिना भी वे निरतिचार संयम जीवन का पालन स्वयं करते हैं। दूसरे जीवों को समय परिपक्व होने के बाद भी गुरु उपदेशादि निमित्त की आवश्यकता पड़ती है । परमात्मा को निमित्त की आवश्यकता नहीं पड़ती । कभी ऐसा देखने को मिलता है कि नयसार के भव में मुनि के उपदेश से परमात्मा ने सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया, परन्तु वहाँ निमित्त गौण ही होता है। परमात्मा की योग्यता ही उसमें मुख्य कारण होती है ।

अरिहंत की आत्मा स्वप्रयत्न से जो सम्यक्त्व पाती है, वह सम्यक्त्व भी सामान्य जीवों की अपेक्षा विशिष्ट कोटि का होता है, इसलिए ही उसे वरबोधि कहते हैं। उनका सम्यक्त्व ही इस प्रकार का होता है कि जो

---

24. इस पद द्वारा जो मानते हैं कि, 'महेशानुग्रहाद् बोधनियमौ' बोध एवं नियम अर्थात् सम्यग्ज्ञान एवं सत्क्रिया की प्राप्ति महेश के अनुग्रह से ही होती है, वैसे सदाशिववादी का मत अमान्य ठहरता है, क्योंकि महेश का अनुग्रह भी योग्य आत्माओं को ही असर करता है । आत्मा की योग्यता के बिना महेश भी कुछ नहीं कर सकते । ज्ञान एवं क्रिया की प्राप्ति में स्व-योग्यतारूप उपादान कारण भी जरूरी है ।

25. वैसे-वैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को पाकर मोक्ष जाने की योग्यता को **तथाभव्यत्व** कहते हैं। तथाभव्यत्व = विशिष्ट कोटि का भव्यत्व, सबका भव्यत्व भिन्न-भिन्न कोटि का होता है । इसलिए हरेक भव्य जीव भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव को पाकर मोक्ष में जाता है । भिन्न-भिन्न द्रव्यादि की प्राप्ति में कारणभूत जो भव्यत्व है, वही तथाभव्यत्व है ।

उत्तरोत्तर गुण विकास करवाकर अंत में तीर्थंकर पद की प्राप्ति करवाता है, जब कि, अन्य जीवों को प्राप्त सम्यक्त्व उन्हें केवलज्ञान आदि गुणों को प्राप्त करवाता है, परन्तु उन्हें अरिहंत पद तक नहीं पहुँचा सकता ।

यह पद बोलते हुए जिन्होंने स्वयं वरबोधि प्राप्त किया है, वैसे परमात्मा को मानसपटल पर लाकर नमस्कार करते हुए ऐसी आशंसा करनी चाहिए -

*"हे नाथ ! आपको किए हुए नमस्कार की फलश्रुतिरूप आपके जैसा ही श्रेष्ठ सम्यक्त्व मुझे भी प्राप्त हों ।"*

ऐसे भाव से नमस्कार करने से सम्यक्त्व गुण में विघ्न करनेवाले मोहनीय कर्म का नाश होता है एवं आत्मा धीरे-धीरे सम्यक्त्व गुण के अभिमुख होती है।

'तित्थयराणं' एवं 'सयं-संबुद्धाणं' इन दोनों पदों द्वारा परमात्मा का असाधारण धर्म बताया गया है क्योंकि ये दोनों धर्म अरिहंत की आत्मा के सिवाय कहीं नहीं होते । अरिहंत परमात्मा ने तीर्थ का प्रवर्तन करके हमारे ऊपर बहुत बड़ा उपकार किया है, इसलिए प्रभु अपने लिए स्तवनीय हैं ।

अरिहंत परमात्मा को किसी ने बोध नहीं दिया, वे स्वयं संबुद्ध हैं । दूसरे जीवों की तरह यदि उन्होंने अन्य के उपदेश से मार्ग पाया होता, तो भगवान को उपदेश देनेवाले अन्य उपदेशक अपने उपकारी बनते, परन्तु वैसा नहीं है । भगवान तो अपने आप ही श्रेष्ठ बोधि प्राप्त करते हैं, इसलिए वे ही अपने उपकारी हैं और इसलिए वंदना के योग्य हैं । इस प्रकार इन दो पदों द्वारा स्तुति का असाधारण[26] कारण बताया ।

---

26.तीन पदों से बनी इस संपदा को पूज्यपाद हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराजा ललित विस्तरा में **'प्रधान साधारण असाधारण हेतु'** संपदा कहते हैं, जब कि कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य योगशास्त्र में उसे **'ओघहेतुसंपदा'** कहते हैं । इसलिए इस संपदा में आनेवाले **'आइगराणं'** पद का अर्थघटन भी दोनों आचार्य भगवंतों ने अलग-अलग तरीके से किया है । योगशास्त्रकार ने **'आइगराणं'** पद का अर्थ करते हुए कहा कि, प्रभु श्रुतधर्म की आदि करनेवाले हैं । भगवान को यदि श्रुतधर्म की आदि करनेवाले स्वीकारे तो **तित्थयराणं** पद की कोइ आवश्यकता ही न रहे, परन्तु उन्होंने **तित्थयराणं** पद से परमात्मा को चतुर्विध संघ एवं गणधर की स्थापना

बुद्धिमान को पुनः प्रश्न होता है कि ऐसे प्रभु का अनादिकाल से कैसा स्वरूप था कि, जिसके कारण वे इस भव में अरिहंत एवं भगवान बने । उन कारणों को अब आनेवाले चार पदों की **तीसरी संपदा** में बताते हैं । यह संपदा स्तोतव्य संपदा की **'असाधारण हेतु संपदा'** है ।

**पुरिसुत्तमाणं**[27] **(नमोऽत्थु णं) -** पुरुषों में उत्तम (ऐसे परमात्माओं को मेरा नमस्कार हो ।)

**पुरि शयनात् पुरुषः-** जो पुर में शयन करनेवाला हो, उसे पुरुष कहते हैं । यहाँ पुर अर्थात् शरीर एवं शयन करना अर्थात् रहना। जो जीव शरीर में रहता है, उसे पुरुष कहते हैं । इस तरह अर्थ करने से संसारवर्ती सर्व जीवों को पुरुष कह सकते हैं ।

अरिहंत परमात्मा सर्व जीवों में उत्तम हैं क्योंकि, निगोद अवस्था से प्रारंभ करके उनमें योग्यता के अनुसार दूसरे जीवों की अपेक्षा विशिष्ट कोटि के दस गुण रहते हैं । जैसे-जैसे गुण संपत्ति के योग्य द्रव्य, काल, क्षेत्रादि की सामग्री प्राप्त होती हैं, वैसे-वैसे ये गुण प्रकट होते हैं । इसके

---

करनेवाले कहे हैं । इसलिए दोनों पदों में भेद भी रहता है एवं दोनों पदों से भगवान किस हेतु से स्तुति करने योग्य है, वह भी बताया है। इस तरह उन्होंने दो पद एवं तीसरा 'सयंसंबुद्धाणं' पद मिलकर दूसरी 'ओघ हेतु संपदा' बताई है ।

जब कि ललित विस्तरा में **'आइगराणं'** पद से भगवान को आदि में जन्मादि प्रपंच करनेवाले कहा गया है । तीर्थंकर होने से पहले प्रभु सर्व जीवों की तरह जन्मादि प्रपंच को करते थे । उनका यह धर्म सर्व जीवों के साथ साधारण धर्म है एवं ऐसे ही भगवान **तित्थयराणं** पद द्वारा तीर्थ को करनेवाले कहे गये हैं । तीर्थ शब्द से यहाँ चतुर्विध श्री संघ के उपरांत प्रवचन को भी स्वीकार किया गया है। इस तरह यहाँ जन्मादि प्रपंचरूप साधारण धर्मवाले प्रभु असाधारण ऐसे तीर्थंकर एवं स्वयं संबुद्ध हुए । इस कारण से ही वे स्तुति करने योग्य बने हैं । इस प्रकार इन तीन पदों की **'प्रधान-साधारण-असाधारण-हेतुसंपदा'** है ।

27. बौद्धमत के किसी संप्रदाय की ऐसी मान्यता है कि, 'सभी जीव समान है'। कोई अपाय नहीं, कोई अयोग्य नहीं। जब कि, 'पुरिसुत्तमाणं' पद में दर्शाया है कि, अरिहंत परमात्मा अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण ही पुरुषों में उत्तम बने थे। इससे यह सूचित होता है कि, जीवों की योग्यता में भी भेद है। इस तरह बौद्धमत की मान्यता का खंडन होता है। 'पुरुषाः' सत्त्वा एव; तेषाम् 'उत्तमाः' सहज तथा भव्यत्वादिभावतः प्रार्थना; पुरुषोत्तमाः । - ललित विस्तारा

अलावा अंतिम भव में तो तीर्थंकर की आत्मा में इन दस गुणों की पराकाष्ठा प्राप्त होती है । उत्कृष्ट कोटि के ये गुण इनके सिवाय अन्य किसी में संभव नहीं हो सकते ।

इन गुणों के कारण परमात्मा तो उत्तम हैं ही । परमात्मा के ये दस गुण आध्यात्मिक विकास की दस सीढ़ियाँ भी हैं । इसलिए जिनको भी आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति करनी हो, उन्हें अपने जीवन में इन दस गुणों को प्रकट करने एवं विकसित करने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ।

**उत्तम पुरुष के दस गुण :**

**१. परार्थव्यसनी :** परार्थ=परोपकार एवं व्यसन=आदत ।

अरिहंत की आत्मा परोपकार करती है, इतना ही नहीं, परन्तु परोपकार करने के वे व्यसनी होते हैं । जिस व्यक्ति को जिसकी आदत होती है, वह किए बिना उसे चैन नहीं पड़ता । परमात्मा की आत्मा को भी परोपकार का व्यसन होता है, इसलिए, वे परोपकार के कार्य की खोज में ही रहते हैं; जैसे कि अनेकों का निषेध होने के बावजूद भी अपनी फिक्र किए बिना भगवान श्री महावीर स्वामी चंडकौशिक को प्रतिबोध करने जंगल में गये।

**कोमल हृदयवाले व्यक्ति ही परोपकार कर सकते हैं । कठोर हृदयवाले तो स्वार्थ में ही मशगूल रहते हैं ।** अपने स्वार्थ की खातिर अन्य का क्या होगा, उसका उनको विचार भी नहीं आता । जबकि करुणापूर्ण हृदयवाले अन्य की आवश्यकता, अन्य की मुश्किलों का पहले विचार करते हैं, इसलिए जिनको धर्म करना हो, जिनको आत्मा का आनंद प्राप्त करना हो, उन्हें सर्वप्रथम इस गुण का विकास करना चाहिए ।

**२. स्वार्थ गौणता :** परमात्मा में स्वार्थ की प्रधानता कभी नहीं होती। परोपकार करनेवाले तो इस जगत में बहुत होते हैं, परन्तु अपना स्वार्थ छोड़कर अपना कार्य छोड़कर भी अन्य के कार्य की तत्परता तो किसी उत्तम पुरुष में ही देखने को मिलती है। शांतिनाथ भगवान के जीव मेघरथ

राजा ने एक कबूतर को बचाने के लिए अपनी समग्र काया शिकारी को सौंप दी एवं नेमिनाथ प्रभु ने हिरणादि पशु को बचाने के लिए जिसके साथ नौ-नौ भव की प्रीति थी, वैसी राजकुमारी राजुल का भी त्याग कर दिया ।

इस स्वार्थ गौणता नामक गुण को प्रकट करने के लिए परम औदार्य, परम कारुण्य एवं प्रतिकूलता को प्रेम से स्वीकार करने की तैयारी अति आवश्यक है । ऐसे गुणों के विकास के बिना स्वार्थ गौणता संभव नहीं है । क्योंकि, अनादिकाल से जीव में, 'मैं एवं मेरा, मेरी एवं मेरे अपनों की सभी आवश्यकताएँ पहले पूरी हो जानी चाहिए, फिर दूसरों की बात'; ऐसी तुच्छ वृत्ति रही है । ऐसी संकुचित वृत्तिवाला जीव कभी भी उत्तम मार्ग को नहीं पा सकता ।

**३. अदीनता :** परमात्मा के जीव में दीनता का, रंकपने का अभाव होता है । सत्त्वविहीन जीव छोटी-छोटी मुश्किलों में दीन-हीन बन जाते हैं । उनका चेहरा दयनीय बन जाता है; उनको देखते ही किसी को भी दया आ जाती है । तीर्थंकर की आत्माएँ किसी भी मुश्किल या प्रतिकूलता आने पर कभी दीन मुख वाली नहीं बनतीं । भगवान ऋषभदेव ४०० दिन तक आहार लेने के लिए गए, निर्दोष आहार न मिलने पर भी वे प्रसन्नता से वापिस लौटे । जिसे कर्म पर पूर्ण विश्वास होता है, वह उत्तम आत्मा ही ऐसे प्रसंगों पर अदीन भाववाली रह सकती हैं ।

**४. उचित क्रिया :** जिस समय, जिस संयोग में, जो करने योग्य हो वो करना, वह उचित क्रिया है । अरिहंत अपनी बुद्धि एवं प्रतिभा का पूर्ण उपयोग करके, जिस समय जो करने योग्य हो, वही करते हैं । तीन ज्ञान के धारक एवं परम वैरागी प्रभु ने जब अपने ज्ञान द्वारा जाना कि माता की हाजिरी में संसार का त्याग करने से मोहाधीन माता आर्त्तध्यान करके दुर्गति में जायेंगी, तब अपने उपकारी की दुर्गति न हो, इसलिए गर्भावस्था में ही वीर प्रभु ने माता-पिता की हाजिरी में संयम नहीं ग्रहण करने का नियम लिया । यह नियम परम औचित्य का सूचक है । औचित्य का विचार कषाय की अल्पता के बिना नहीं आ

सकता। जो व्यक्ति कषायो की पराधीनता से पर होकर कार्य संबंधी विचार करते हैं, वे ही औचित्य पूर्ण क्रिया कर सकते हैं । कषाय की प्रबलतावाले कभी भी औचित्य का पालन नहीं कर सकते ।

**५. सफलारंभिता :** जिसमें फल प्राप्ति की संभावना हो, वैसे कार्य का आरंभ करना सफ़लारंभिता है । उत्तम पुरुष कार्य करने से पहले उसके फ़ल का विचार करते हैं । जिस क्रिया को करने से फ़ल प्राप्ति की संभावना हो, उसी क्रिया का वे आरंभ करते हैं। जो क्रिया करने के बाद फ़ल की प्राप्ति की कोई संभावना न हो, वैसी मन, वचन, काया की कोई भी क्रिया वे नहीं करते । इसलिए जब तक निकाचित भोगावली कर्म अर्थात् जो कर्म भुगते बिना नष्ट न हो वैसे कर्मों का नाश करके ही तीर्थंकर की आत्मा संयम का स्वीकार करती हैं।

**६. अदृढ अनुशय :** अनुशय अर्थात् कषाय । अरिहंत की आत्मा पहले से तो कषाय मुक्त नहीं होती, फिर भी उनके कषाय तीव्र स्तर के नहीं होते। दुष्ट अपराधी के अपराध को भी वे क्षण मात्र में भूल सकते हैं ।

**७. कृतज्ञता :** अरिहंत की आत्मा में कृतज्ञता गुण भी विशिष्ट कोटि का होता है । सामान्य जीव तब तक अन्य के उपकार को याद रखता है, जब तक उस व्यक्ति की तरफ़ से कोई अपकार न हो; परन्तु अरिहंत की आत्मा तो अन्य जीवों की तरफ़ से अनेक अपकार होने पर भी उनका छोटा सा भी उपकार कभी नहीं भूलतीं । भगवान जो 'नमो तित्थस्स' बोलकर समवसरण में आसन ग्रहण करते हैं, वह भी उनकी कृतज्ञता का सूचक है ।

**८. अनुपहत चित्त :** विकट परिस्थितिओं में भंग न हो वैसा सात्त्विक मन। निराशा या चंचलता न हो, वैसा चित्त । साधना के दरम्यान कितने भी उपसर्ग एवं परिषह आएँ तो भी जब तक उनको सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती, तब तक अरिहंत की आत्मा का मन साधना मार्ग से डिगता नहीं। प्रारंभ किए हुए कार्य को वे कभी अपूर्ण नहीं छोड़ते, परन्तु कार्य के फ़ल तक उनका उत्साह सदृश (एक सा) ज्वलंत रहता है एवं कार्य पूर्ण करते हैं।

**९. देव-गुरु का बहुमान :** देव-गुरु की आज्ञा का पालन करना ही वास्तविक देव-गुरु का बहुमान है । देवगुरु की आज्ञा का पालन करते करते आगे बढ़कर भविष्य में उनके जैसे पूर्ण गुण निष्पन्न कर देव-गुरु स्वरूप बन जाना ही उनके प्रति श्रेष्ठ कोटि का बहुमान है । परमात्मा ने स्व में ही देवतत्त्व एवं श्रेष्ठ गुरु तत्त्व को निष्पन्न किया है । इसलिए उनमें उच्च कोटि का देव-गुरू बहुमान है ।

**१०. गंभीरता :** स्व के गुण एवं पर के दोष को पचाने की शक्ति गंभीरता है । उत्तम पुरुष गुणों के भंडार होते हैं । वे अपने गुणों की प्रशंसा कभी नहीं करते एवं अन्य के अनेक दोषों को देखकर उनके ऊपर घृणा, अप्रीति या द्वेष नहीं करते । अन्य के दोषों को देखकर उनके मुख की रेखाएँ भी नहीं बदलतीं। भगवान महावीर जन्म से ही तीन ज्ञान के स्वामी थे, तो भी माता-पिता ने जब उनको पाठशाला भेजा, तब मुझे यह सब पता है, वैसा ख्याल भी किसी को न आ जाए इसकी प्रभु ने सावधानी रखी । अनेक दोष-युक्त संगम के ऊपर द्वेष तो नहीं किया, परन्तु परम करुणासागर हृदयवाले परमात्मा को ऐसे दोषपूर्ण व्यक्ति पर भी दया आई जिससे दोषों को पचाने की गंभीरता घोषित होती है। यह प्रसंग परमात्मा की गंभीरता का सूचक है ।

इन दस गुणों के लिए प्रयत्न करना ही सच्चे अर्थ में परमात्मा को नमस्कार है। इसलिए यह पद बोलते हुए परमात्मा के इन विशिष्ट कोटि के दस गुणों को याद करके, ऐसे स्वरूप में रहे हुए परमात्मा को बहुमानपूर्वक नमस्कार करते हुए भगवान के पास ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए

*"हे नाथ ! अनादिकाल से आप में रहे हुए इन गुणों को आपने पूर्णतया प्रकट किए । आपको किया हुआ यह नमस्कार मुझ में भी इन गुणों का विकास करें ।"*

ऐसी भावना सहित यह पद बोलने से इन गुणों में विघ्न करनेवाले कर्मों का विनाश होता है एवं अपनी आत्मा भी इन गुणों को प्राप्त करने में समर्थ बनती है ।

**पुरिस-सीहाणं (नमोऽत्थु णं) -** पुरुषों में सिंह समान (ऐसे परमात्माओं को मेरा नमस्कार हो ।)

सामान्य पशु की अपेक्षा से सिंह में उत्तम कोटि के दस गुण होते हैं । भगवान में भी ऐसे ही गुण विद्यमान हैं, इसलिए भगवान पुरुषों में सिंह तुल्य हैं ।

**परमात्मा एवं सिंह में समानता :-**

**१. शूर :** जिस प्रकार सिंह सैंकड़ों हाथी के समूह के सामने शौर्य प्रदर्शित करता है, वैसे ही परमात्मा भयंकर कर्म के उदयकाल में लेश मात्र भी घबराए बिना कर्म के सामने पराक्रम दिखानेवाले होते हैं । इस प्रकार भगवान की शूरवीरता सामान्य शत्रुओं के सामने नहीं, परन्तु जगत् को घबरानेवाले कर्मशत्रु के सामने होती है ।

**२. क्रूर :** जैसे सिंह अति क्रूर होता है, वैसे ही परमात्मा कर्मरुपी शत्रु का विनाश करने के लिए क्रूर होते हैं। परमात्मा जब संयमादि में प्रवृत्ति करते हैं, तब संयमादि में विघ्नकारक कर्म उदय में आए हों, तो भी परमात्मा दृढ़ प्रयत्न से उन कर्मों का नाश करते हैं ।

**३. असहिष्णु :** जैसे सिंह अपने शत्रु को सहन नहीं कर सकता, वैसे ही प्रभु भी अपनी चित्तभूमि पर शत्रुभूत क्रोधादि कषायों को लेश मात्र भी हावी नहीं होने देते ।

**४. वीर्यवान :** सामान्य पशु की अपेक्षा सिंह का वीर्य विशेष कोटि का होता है । ऐसा वीर्य ही उसे उसके कार्य में उत्साहित रखता है । जिस प्रकार सिंह वीर्यवान होते हुए भी सबके सामने अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं करता, परन्तु बलवान शत्रु के प्रति ही अपने वीर्य का

संपूर्ण प्रयोग करता है, वैसे ही भगवान भी रागादि बलवान शत्रु के सामने ही अपने वीर्य का संपूर्ण प्रयोग करके उनका नाश करने का प्रयत्न करते हैं ।

**५. वीर :** वीर शब्द की व्युत्पत्ति दो तरीके से होती है -

**विशेषेण राजते इति वीर :** सिंह जिस प्रकार केशराजि से विशेष शोभायमान होता है, वैसे ही परमात्मा तप-संयमादि गुणों से विशेष सुशोभित होते हैं ।

**विशेषेण ईरयति इति वीर :** सिंह जिस प्रकार सत्त्व के कारण निडर होकर विशेष प्रकार से वन में गति करता है, वैसे परमात्मा भी कर्मनाश के लिए विशेष प्रकार से तप वगैरह योगों में प्रवृत्ति करते हैं।

**६. अवज्ञावाला :** सिंह भूखा हो, तो भी घास कभी नहीं खाता, तथा छोटे प्राणियों की भी हिंसा नहीं करता । तुच्छ वस्तुओं की उपेक्षा या अवज्ञा ही करता है, वैसे ही भगवान भी क्षुधादि परिषहों की उपेक्षा एवं अवज्ञा ही करते हैं ।

**७. निर्भय :** सिंह जिस प्रकार हजारों हाथियों के झुंड से भी नहीं डरता, वैसे ही परमात्मा भी मरणांत उपसर्ग आने पर भी लेश मात्र भी भयभीत नहीं होते ।

**८. निश्चिंत :** सिंह जब तृप्त होता है, तब भविष्य के आहार की कोई चिंता नहीं करता, भविष्य के लिए किसी प्रकार का संग्रह भी नहीं करता । उसी तरह देवाधिदेव भी अपनी इन्द्रियों या देह की अनुकूलता या प्रतिकूलता की कभी चिंता नहीं करते । वे अपने आध्यात्मिक गुणों द्वारा ही तृप्ति की अनुभूति करते हुए निश्चिंत होते हैं ।

**९. अखिन्न :** सिंह को जैसे अपने मार्ग में कभी थकान नहीं होती, वैसे ही संयम की कठोर साधना करते हुए परमात्मा को कभी भी थकान नहीं होती, परन्तु परम आनंद होता है ।

**१०. निष्कंप :** जैसे सिंह अपने इष्ट कार्य में स्थिर-अचल होता है, वैसे त्रिलोकनाथ परमात्मा भी अपने ध्यान में अत्यंत स्थिर होते हैं। घोर उपसर्गों के बीच भी उनके ध्यान की धारा कभी नहीं टूटती, अखंड रहती है । वे अपने ध्यान में मेरु पर्वत जैसे निष्कंप रहते हैं।

यह पद बोलते समय कर्म एवं कषाय के सामने क्रूर बने हुए एवं कष्ट के सामने सहिष्णु बने हुए परमात्मा को अंतरपट पर लाकर भाव से नमस्कार करते हुए परमात्मा को प्रार्थना करनी चाहिए,

*"हे नाथ ! आपको किया हुआ यह नमस्कार, कर्मों एवम् कषाय के सामने झुकी हुई मेरी आत्मा को उनका सामना करने एवं कष्टों को सहन करने के लिए समर्थ बनाएँ ।"*

**पुरिसवर-पुण्डरीयाणं (नमोऽत्थु णं) -** पुरुषों में श्रेष्ठ पुंडरीक के समान परमात्माओं को (मेरा नमस्कार हो ।)

पुंडरीक कमल में जो आठ प्रकार की विशेषताए हैं, वैसी विशेषताएं भगवान में भी हैं, इसलिए भगवान को पुंडरीक कमल के समान कहा है ।

**कमल के साथ परमात्मा की तुलना :**

**१. कीचड में जन्म :** जैसे सुन्दर कमल का जन्म कीचड़ में होता है, वैसे ही प्रभु का जन्म भी कर्मरूपी कीचड़ से भरे संसार में होता है ।

**२. पानी में वृद्धि :** जैसे कमल पानी से बढता है, वैसे ही प्रभु दिव्यभोगरूपी पानी द्वारा वृद्धि पाते हैं ।

**३. दोनों से अलिप्त :** विकसित कमल जैसे कीचड़ और पानी दोनों से अलिप्त रहता है, वैसे भगवान भी कर्म से प्राप्त हुए जन्म एवं भोग दोनों से अलिप्त रहते हैं ।

**४. सहज सौंदर्य :** जैसे कमल में प्राकृतिक सुंदरता होती है, वैसे ही भगवान में ३४ अतिशयों एवं आत्मिक गुणों के योग से बाह्य - अभ्यंतर दोनों प्रकार की स्वाभाविक सुंदरता होती है।

**५. लक्ष्मी का स्थान :** जैसे कमल पर लक्ष्मी देवी का वास है, वैसे ही भगवान में भी केवलज्ञानादि लक्ष्मी एवं सर्वोच्च संपत्ति का वास होता है ।

**६. चक्षु आदि को प्रीतिकर :** जैसे श्रेष्ठ कमल आँख-नाक आदि इन्द्रियों को आनंदप्रद बनता है, वैसे ही परमात्मा अद्‌भुत रूप आदि के कारण चक्षु आदि के लिए आनंददायक बनते हैं तथा जगत् के जीवों को तत्त्व का दर्शन करवाकर सम्यग्दर्शन गुण को प्रकट करवाकर आत्मा का आनंद प्राप्त करवाते हैं ।

**७. उत्तम देव, मनुष्य एवं तिर्यंच से सेव्य :** जिस प्रकार कमल में सुगंध, सौंदर्य वगैरह विशिष्ट गुण होने से भ्रमर रूपी तिर्यंच, मनुष्य एवं देव भी उसको प्रयोग में लेते हैं, वैसे अरिहंत परमात्मा में केवलज्ञानादि विशिष्ट गुण होने से भव्य तिर्यंच, मनुष्य एवं देव परमात्मा की उपासना करते हैं ।

**८. सुख का कारण :** जैसे श्रेष्ठ कमल देव-मनुष्य के सुख का कारण है, वैसे भगवान भी भव्य जीवों के अनंत आनंद स्वरूप मोक्ष सुख का कारण बनते हैं ।

इस प्रकार कमल के समान आठ गुणों से युक्त परमात्मा को मेरा नमस्कार हो।

यह पद बोलते हुए कमल की उपमावाले परमात्मा को याद करके ऐसी इच्छा अभिव्यक्त करनी चाहिए कि -

*"हे नाथ ! कमलवत् सर्व बाह्य भावों से अलिप्त आपको किया हुआ नमस्कार, मुझे भी सर्व बाह्य भावों से अलिप्त करके आपके जैसा निर्लेप बनाए ।"*

**पुरिस-वर-गंध-हत्थीणं (नमोऽत्थु णं)** - श्रेष्ठ गंधहस्ती जैसे परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

सूँढरूप हाथ जिसको है, उसे हस्ती कहते हैं । जिस हाथी के गंडस्थल से अति सुगंधयुक्त मद झरता है, वह गंधहस्ती कहलाता है । ऐसे गंधहस्तियों में भी जो श्रेष्ठ है, जिसकी सुगंध मात्र से क्षुद्र-कमज़ोर हाथी घबराकर भाग जाते हैं, उसे 'वर-गंध-हत्थि' कहते हैं ।

भगवान श्रेष्ठ गंधहस्ती तुल्य हैं क्योंकि, जैसे गंधहस्ती को किसी के साथ युद्ध नहीं करना पड़ता, परन्तु उसकी गंध मात्र से ही निर्बल कमज़ोर हाथी दूर भाग जाते हैं, उसी तरह परमात्मा को भी किसी मंत्र-तंत्र की साधना नहीं करनी पड़ती । मंत्रादि की साधना के बिना ही भगवान जहाँ-जहाँ विहरते हैं, वहाँ से अति-वृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, इत्यादि-उपद्रव या अनिष्ट दूर चले जाते हैं । निर्बल-कमज़ोर हाथी के समान सर्वज्ञ के विषय में संदेह करनेवाले कुवादी भी सर्वज्ञ के सामने टिक नहीं सकते । अनिष्टकारी कोई भी तत्त्व परमात्मा की उपस्थिति में टिक नहीं सकता । इसलिए परमात्मा श्रेष्ठ गंधहस्ती तुल्य हैं ।

यह पद बोलते हुए श्रेष्ठ गंधहस्ती की उपमा से जिनके आंशिक स्वरूप की झलक हो सकती है, वैसे त्रिलोक बंधु परमात्मा को हृदयस्थ करके भाव नमस्कार करते हुए प्रभु के सामने ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए -

*'हे परमात्मन् ! आपको भाव से किया हुआ नमस्कार मेरी साधना में आनेवाले विघ्नों के बादलों को बिखेर डाले ।'*

अरिहंत भगवान स्तुति करने योग्य क्यों हैं ? उसका असाधारण कारण इस संपदा में बताया गया है । अनादिकाल से परमात्मा का स्वरूप कैसा था वह 'पुरिसुत्तमाणं' पद से बताया गया है। संयम स्वीकार करने के बाद वे कैसे पराक्रमी हुए वह 'पुरिस-सीहाणं' पद द्वारा ज्ञात कराया । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद वे परवादी के लिए गंधहस्ती कैसे हुए, यह 'पुरिसवर-गंध-हत्थीणं' पद द्वारा बताया गया । अंत में मोक्ष प्राप्त होने के बाद वे कैसे होते हैं वह 'पुरिस-वर-पुंडरिआणं' पद द्वारा बताकर निगोद अवस्था से लेकर अंतिम समय तक, परमात्मा का स्वरूप कितना विशिष्ट था । यह इस संपदा में बताया ।

इतना जानने के बाद अब प्रेक्षावान को प्रश्न होता है कि, ऐसे विशिष्ट भगवान से हमें क्या लाभ ? उसके समाधान के लिए ही चौथी **'सामान्य उपयोग संपदा'** बनाई है क्योंकि प्रेक्षावान व्यक्ति फ़ल प्रधान प्रवृत्ति करनेवाले होते हैं ।

**लोगुत्तमाणं (नमोऽत्थु णं) -** (भव्य) लोक में उत्तम परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

लोक[28] शब्द से यहाँ भव्य जीव रूपी लोक अर्थ ग्रहण करना है । अभव्य रूप लोक में भगवान को उत्तम कहने का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि, अभव्यादि में तो सभी भव्य जीव उत्तम हैं; परन्तु इन भव्यों में भी भगवान उत्तम हैं । वैसा इस पद द्वारा कहा गया है ।

भव्य[29] का अर्थ है मोक्ष गमन के योग्य । मोक्ष में जाने के योग्य आत्माएँ तो बहुत हैं । आज तक अनंत आत्माएँ कर्मक्षय करके मोक्ष में

28. लोक शब्द समुदायवाची है । समुदायवाची शब्द का प्रयोग समुदाय के एक भाग के लिए भी हो सकता है । लोक शब्द से पंचास्तिकाय रूप लोक का ग्रहण हो सकता है, उसी तरह लोक शब्द से भव्य लोकादि का भी ग्रहण हो सकता है ।

29. सर्व प्रयोजन जहाँ सिद्ध होते हैं; वैसे मोक्ष नाम के स्थान को प्राप्त करने की योग्यता वह भव्यत्व है ।

गई, परन्तु उन सब जीवों में भी प्रत्येक अरिहंत की आत्मा अलग ही होती है । उनका तथाभव्यत्व ही ऐसी विशिष्ट कोटि का होता है कि, वे जहाँ जाते हैं वहाँ विशिष्ट भाव को प्राप्त करते हैं । अंतिम भव में तो तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से वे सर्वश्रेष्ठ समृद्धि को प्राप्त करते ही हैं, परन्तु एकेन्द्रियादि के भव में पृथ्वीकाय के जीवों में चिंतामणि रत्न, पद्मराग रत्न वगैरह उत्तम रत्नों की जाति में उत्तम रूप से उत्पन्न होते हैं । अप्काय में वे महान तीर्थोदक (तीर्थजल) के रूप में उत्पन्न होते हैं । तेउकाय में मंगलदीप आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं । वायुकाय में हो, तब मलयाचल पर्वत के वसंतऋतु कालीन मृदु, शीतल और सुगंधि पवन वगैरह के रूप में उत्पन्न होते हैं । वनस्पतिकाय में हों, तब उत्तम प्रकार के चंदन, कल्पवृक्ष, आम, चंपक, पारिजात अशोक वगैरह वृक्षों के रूप में अथवा चित्रावेल, नागवेल, द्राक्षावेल वगैरह प्रभावशाली औषधियों के रूप में उत्पन्न होते हैं । बेइन्द्रिय में दक्षिणावर्त्त शंख, शुक्तिका, शालिग्राम आदि में उत्पन्न होते हैं। इसी तरह तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच में सर्वोत्तम प्रकार के हाथी या उत्तम लक्षणवाले अश्व के रूप में उत्पन्न होते हैं । अतः कहा गया है कि, औदायिक भाव की अवस्था भी उन्हें सर्वश्रेष्ठ कोटि की प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त, कर्म के क्षयोपशम या क्षय से उत्पन्न होनेवाले उनके सम्यक्त्वादि गुण भी विशेष प्रकार के होते हैं । अन्य जीव दर्शन-मोहनीय के क्षयोपशम या क्षय से सामान्य बोधि को प्राप्त करते हैं, जब कि अरिहंत की आत्मा दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय से सर्व जीवों को शासन रसिक बनाने की इच्छारूप वरबोधि को प्राप्त करती है । अन्य जीव घातिकर्म के नाश से केवलज्ञानादि गुण प्राप्त करके मोक्ष में जाते हैं; जब कि, अरिहंत की आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके, तीर्थ की स्थापना करके, जगत् के जीवों को अनंत सुख का मार्ग बताकर मोक्ष में जाती है । इस प्रकार उनका मार्गदेशकादि गुण भी विशेष होने से वे लोकोत्तम पुरुष कहलाते हैं ।

यह पद बोलते हुए लोकोत्तम पुरुष को याद करके, उनके गुणों के प्रति आदर एवं अहोभाव उल्लसित करके नमस्कार करते हुए ऐसी भावना का स्रोत बहाना है -

*'हे जगद्वत्सल पिता ! आप जैसे लोकोत्तम पुरुष बने हों, वैसे आपको किया हुआ मेरा सामान्य भी नमस्कार मुझमें लोकोत्तमता का कारण बने ।'*

**लोगनाहाणं (नमोऽत्थु णं) -** लोक के[30] नाथ ऐसे परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो)

भव्य जीव दो प्रकार के हैं - १. सामान्य भव्य (दुर्भवी), २. विशिष्ट भव्य (आसन्न भव्य) । धर्म की रुचिरूप बीज का वपन जिसमें हो सकता है, उसे आसन्न भव्य (विशिष्ट भव्य) कहते हैं । भगवान ऐसे विशिष्ट भव्य जीवों के नाथ हैं ।

जो योग एवं क्षेम करते हैं, उन्हें नाथ कहते हैं । [31]बीजाधानयुक्त भव्य जीवों को परमात्मा प्राथमिक कक्षा के धर्म से लेकर मोक्ष तक का सुख प्राप्त करवाते हैं । इस प्रकार अप्राप्त को प्राप्त करवाने द्वारा भगवान उनका योग करते हैं एवं उपदेश प्रदानादि द्वारा प्राप्त हुए धर्म का रक्षण करके क्षेम करते हैं, इसलिए, आसन्न भव्य जीवों (समीप में मोक्ष जानेवाले) के भगवान नाथ हैं ।

---

30. नाथ शब्द की विशेष समझ के लिए देखें - सूत्र संवेदना भाग-२ जगचिंतामणि सूत्र का दूसरा पद।

31. बीजाधान : किसी भी व्यक्ति की औचित्यपूर्ण विशिष्ट धर्मक्रिया को देखकर धर्मक्रियाविषयक विशेष कोई समझ न होने पर भी उस धर्म के प्रति आदर हो और उस आदर के कारण होने वाली प्रशंसा बीजाधान है । उसके बाद ऐसा धर्म मैं किस तरह कर सकता हूँ, वैसी चिंता (जिज्ञासा) वह धर्म का अंकुर है । धर्म विषयक श्रवण कांड है, शास्त्रविहित क्रियाएँ शाखा हैं । क्रिया द्वारा हुई देव-मानवादि संपत्ति, पुष्प है । मोक्ष, फल है । इस प्रकार बीजाधान होने के बाद उत्तरोत्तर सिद्धिरूप फल की प्राप्ति होती है ।

धर्म के प्रति वास्तविक रुचिरूप बीजाधान जिसमें नहीं हुआ, वैसा जीव भी धर्म करता है । धर्म के फल को बतानेवाले भगवान के उपदेश को सुनकर या भगवान के बाह्य वैभव को देखकर द्रव्य से दीक्षा भी लेता है। उसके कारण उसको अल्पकाल के लिए सुख-समृद्धियुक्त देवादि भवों की प्राप्ति भी होती है एवं दुःख देनेवाले नरकादि भवों से उसकी रक्षा भी होती है । फिर भी बीजाधान बिना का जीव सुख की परंपरा का सृजन करनेवाले आध्यात्मिक गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता एवं दुःख की परंपरा का सर्जन करनेवाले रागादि दोषों से भी मुक्त नहीं हो सकता । इसलिए वास्तविक अर्थ में परमात्मा ऐसे जीवों के नाथ नहीं बन सकते ।

जब कि, बीजाधानवाले जीव अगर एक बार भी भगवान को नाथ के रूप में स्वीकार करके, उनकी आज्ञानुसार धर्मक्रिया करें, तो उससे उनकी सद्गति की परंपरा का तथा क्षमादि गुणों का सर्जन होता है एवं दुःख देनेवाले रागादि भावों का विसर्जन होता है । इस प्रकार क्रमशः गुणों की प्राप्ति एवं दोषों के नाश से आत्मा सिद्धिगति को प्राप्त करती है । इसीलिए, भगवान विशिष्ट भव्य जीव रूप लोक के नाथ कहलाते हैं ।

यह पद बोलते हुए वास्तविक सुख को प्राप्त करवानेवाले एवं प्राप्त किए हुए सुख की रक्षा करनेवाले परमात्मा को हृदय सिंहासन पर स्थापित करके, नमस्कार करते हुए ऐसी भावना का भावन करना चाहिए कि -

*'हे करुणानिधि ! अनादिकाल से अनाथ ऐसे मेरे लिए आप वास्तविक अर्थ में नाथ बनो ।'*

**लोगहियाणं (नमोऽत्थु णं)** - लोक का हित करनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

यहाँ लोक शब्द से 'पंचास्तिकाय लोक' ग्रहण करना है । अरिहंत परमात्मा धर्मास्तिकायादि पाँचों द्रव्यों का हित करनेवाले हैं, ऐसा कहकर, उनकी हितकामना सीमातीत है, वह बताया गया है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि भगवान जीव सृष्टि का हित करते हैं, वह तो ठीक है, परन्तु परमात्मा पुद्गलादि जड़ द्रव्यों का हित किस तरह से कर सकते हैं?

व्यवहार नय से एवं निश्चयनय से हित की व्याख्या अलग है । व्यवहार नय बाह्य प्रवृत्ति के आधार पर हिताहित का विभाग करता है, जबकि निश्चय नय स्वपरिणाम के आधार पर हिताहित का विभाग करता है, इसलिए व्यवहारनय से जीव में ही हित की संभावना होने से भगवान जीव का ही हित करनेवाले कहलाते हैं; परन्तु निश्चयनय से जिस विषय में हित का परिणाम प्रवर्तित होता है, उन सबका हित करनेवाले परमात्मा कहलाते हैं । परमात्मा के हित का परिणाम चर-अचर सर्व लोक के लिए प्रवर्तता है, इसलिए प्रभु को पंचास्तिकायरूप लोक का हित करनेवाले कहे गये हैं ।

किसी भी पदार्थ का हित इस प्रकार होता है -

१. जो वस्तु जिस रूप में है, उसी स्वरूप में उसको देखना (यथावस्थित सम्यग्दर्शन)

२. जो वस्तु जैसी है, उस वस्तु को वैसे ही कहना (सम्यक् प्ररूपणा)

३. एवं भविष्य में वस्तु के स्वरूप में कोई विकृति न हो, वैसा वर्तन करना (सम्यक् चेष्टा) ।

भगवान केवलज्ञान द्वारा जगदवर्ती सर्व पदार्थों को जैसे हैं, वैसे देखते हैं, जिस तरीके से देखते हैं, उसी तरीके से पदार्थों का प्रतिपादन करते हैं एवं भविष्य में उनका अहित न हो, इस तरीके से सर्व द्रव्यों के साथ वर्तन करते हैं । इस प्रकार वे सर्व द्रव्यों का हित[32] करनेवाले हैं ।

**जिज्ञासा :** परमात्मा यथार्थ दर्शनादि द्वारा धर्मास्तिकायादि का हित करते हैं ऐसा कहा गया है परन्तु धर्मास्तिकायादि में हित जैसा कुछ होता ही नहीं, तो भी परमात्मा को हित करनेवाले कैसे मान सकते हैं ?

32. तदेवंविधाय लोकाय हिताः । यथावस्थितदर्शनपूर्वकं सम्यक्प्ररूपणाचेष्टया तदायत्यबाधनेनेति च । इह यो यं यथात्म्येन पश्यति, तदनुरूपं च चेष्टते भाव्यपायपरिहारसारं, स तस्मै तत्त्वतो हित इति हितार्थः । - ललित विस्तरा

**तृप्ति :** इस विषय पर गहराई से सोचना चाहिए । एक माँ-बाप ने बालक को खूब सुंदर संस्कार दिए, परन्तु बालक की योग्यता न होने से उस बालक ने अपने जीवन को संस्कारित न बनाया, तो भी उस माँ-बाप को बालक का हित करनेवाले ही कहते हैं । उसी तरह एक शिकारी ने पक्षी पर बाण छोड़ा परन्तु चालाक पक्षी बाण की आवाज़ से उड़ गया, उससे मरा नहीं, तो भी बाण मारनेवाले शिकारी को व्यवहार से सब वध करनेवाला ही कहते हैं एवं वधजन्य पाप भी उसको लगता है। उसी प्रकार शायद अपनी मान्यता के अनुसार जड़ पदार्थ का हित न होता हो, तो भी उस पदार्थ के यथार्थ दर्शन, यथार्थ कथन एवं उसके साथ उचित प्रवर्तन से प्रभु को उनका हित करनेवाले कहते हैं ।

वस्तु के यथार्थ दर्शन के बिना उस वस्तु का हित नहीं कर सकते । मोहाधीन संसारी जीव पदार्थ के यथार्थ रूप को नहीं देख सकते । इसीलिए वे आत्मा से भिन्न देह, धन आदि भावों को अपने से अभिन्न (अपने साथ ऐकमेक) मानते हैं एवं बोलते हैं । वास्तव में जगत् के कोई भी भाव, जीव को सुख भी नहीं देते या दुःख भी नहीं देते, तो भी वे यह देह, धनादि पदार्थ मुझे सुख या दुःख देते हैं, वैसा मानते हैं एवं कहते हैं । अपने लिए अनुकूल या सुंदर लगनेवाले पदार्थों में राग करते हैं, अपने लिए प्रतिकूल या जिसमें खराब की कल्पना की हो वैसे पदार्थों में द्वेष करते हैं एवं खुद को जिसके साथ लेना-देना नहीं है, उसकी उपेक्षा करते हैं । इस प्रकार मोहाधीन संसारी जीव वस्तु के प्रति अपने औचित्य का विचार किए बिना राग-द्वेषादि का भाव करके कर्म बांधकर अपना ही अहित करते हैं एवं पर पदार्थों के साथ भी यथा तथा व्यवहार करके उनका भी अहित करते हैं ।

जब कि, वीतराग परमात्मा जगत् के तमाम पदार्थों को यथार्थरूप से देखते हैं एवं देखकर जगत् के आगे उन पदार्थों का यथार्थ प्रतिपादन भी करते हैं तथा उस पदार्थ के साथ वर्तन करते हुए उसमें राग-द्वेष या रुचि-अरुचि करके कर्म बांधकर अपनी आत्मा का भी अहित नहीं करते एवं उन

सब वस्तुओं के प्रति औचित्यपूर्ण वर्तन करके अन्य का भी अहित नहीं करते ।

यह पद बोलते हुए ऐसा लगता है कि, सच्चे अर्थ में दूसरे का तो नहीं, परन्तु अपनी आत्मा का भी हम हित नहीं कर सकते, जब कि अरिहंत भगवान अपनी आत्मा का तो हित करते ही हैं साथ हि समस्त जीव-जगत्, एवं जड़-जगत् का भी हित करते हैं ।

परम हितकारक परमात्मा को नमन करते हुए हम याचना करें कि-

*"हे जगत् के हितकारक परमात्मा ! आपको किया हुआ नमस्कार मुझमें भी सर्व का हित करने का सामर्थ्य प्रकट करनेवाला बनें ।"*

**लोग-पईवाणं (नमोऽत्थु णं) -** लोक के लिए प्रदीप तुल्य परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो)

यहाँ 'लोक' शब्द से विशिष्ट संज्ञी जीव ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों का ही ग्रहण करना है ।

परमात्मा की देशना सुनकर मिथ्यात्वरूपी अंधकार का नाश करके, सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु जिसने प्राप्त किए हों वैसे विशिष्ट संज्ञी अर्थात् दृष्टि का सम्यक् प्रकार से प्रकाश हुआ हो, ऐसे (सम्यग्दृष्टी) जीवों के लिए ही भगवान प्रदीप तुल्य हैं, दूसरों के लिए नहीं । क्योंकि, चक्षु के बिना अंधी आत्मा दीपक की सहायता से भी रूप नहीं देख सकती, वैसे ही सम्यग्दर्शन के परिणाम के बिना जीव, परमात्मा के वचन रूप प्रदीप से भी तत्त्वमार्ग को देख नहीं सकता । इसलिए कहा है कि, इस ज्ञान की किरणों को ग्रहण करने की शक्ति सम्यग्दृष्टि में ही है, मिथ्यादृष्टि में नहीं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि भगवान के उपदेशात्मक वचन को सुनते हैं, तो भी उनके वचन के परमार्थ का संवेदन नहीं कर सकते। उनके वचन में रहे हुए सूक्ष्म भाव उनके ध्यान में नहीं आते, इसमें उन जीवों की योग्यता का अभाव ही कारण है, भगवान

की शक्ति की न्यूनता नहीं । अन्य कोई उपदेशक हो तो ऐसा हो सकता है कि छद्मावस्था के कारण या पुण्य प्रकर्ष के अभाव के कारण सामने वाले जीव में योग्यता होने पर भी उसके ऊपर पूर्ण उपकार न कर सके; परन्तु प्रकृष्ट पुण्य एवं केवलज्ञान के स्वामी भगवान के लिए ऐसा नहीं होता ।

यहाँ प्रश्न होता है कि मात्र सम्यग्दृष्टि के लिए ही भगवान को प्रदीप तुल्य क्यों कहा गया एवं भगवान के वचन से जिनके मिथ्यात्व का नाश होनेवाला हो, वैसे जीवों के लिए भगवान को प्रदीप तुल्य क्यों नहीं कहा गया?

जीव में जब तक मिथ्यात्व है, तब तक भगवान के वचन को यथार्थरूप से समझने की शक्ति उसमें होती ही नहीं । ऐसे मंद मिथ्यात्वी जीव जब भगवान के वचन को सुनते हैं, तब देशना से उनको ज्ञान चक्षु की प्राप्ति होती है । प्राप्त हुए इन चक्षुओं से वे पदार्थ का स्थूल दर्शन कर सकते हैं एवं इस प्रकार पदार्थ के दर्शन से उनका मिथ्यात्व नष्ट होता है एवं उन्हें सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होती है । इसके बाद ही वे भगवान के वचन पर यथार्थ श्रद्धा कर सकते हैं एवं उनके सूक्ष्म भावों को जान सकते हैं । इसलिए ऐसे जीवों के लिए ही भगवान प्रदीप तुल्य बन सकते हैं, अन्य के लिए नहीं ।

सम्यग्दृष्टि जीव के लिए प्रदीप तुल्य ऐसे परमात्मा को इस पद द्वारा भाव से नमस्कार करके ऐसी भावना से भावित बने कि -

*"हे लोकालोक प्रकाशक परमात्मा ! आपको किया हुआ यह नमस्कार मुझ में भी सम्यग्दर्शन गुण को प्रकट करके मुझे सन्मार्ग बताने में समर्थ बनें।"*

**लोगपज्जोअगराणं (नमोऽत्थु णं)** - लोक को प्रद्योत करनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

'लोक' शब्द से यहाँ विशिष्ट बुद्धि के धारक, गणधर पद के योग्य ऐसे जीवों को ही ग्रहण करना है क्योंकि **"प्रकृष्टेन द्योतते इति प्रद्योतः"** प्रकृष्ट रूप से

प्रकाशित होना, प्रद्योत है एवं प्रकृष्ट रूप से जो प्रकाश करते हैं, वे प्रद्योतक हैं । इस तरीके से मात्र गणधरों के लिए ही परमात्मा प्रद्योतक है, क्योंकि परमात्मा को यहाँ 'सामान्य प्रकाश करनेवाले' नहीं कहा, परन्तु यहाँ तो परमात्मा को मात्र **'उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा'** - इन तीन पद द्वारा समस्त जगत का दर्शन करवा सकें, वैसे प्रद्योतक-महाप्रकाशक कहा है । भगवान तो समस्त जगत् के लिए ऐसा प्रकृष्ट प्रकाश करनेवाले हैं, परन्तु बीज बुद्धि के स्वामी गणधरों के सिवाय किसी में इतनी ताकत नहीं है कि, मात्र इन तीन पदों को सुनकर विशिष्ट प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कर सके और समस्त जगत् एवं जगद्वर्ती पदार्थों को यथार्थ जानकर मात्र एक ही अंतर्मुहूर्त में समस्त द्वादशांगी की रचना कर सकें। गणधर भगवंत ही इस प्रकार तीर्थंकर के प्रथम शिष्य होने का पुण्य और क्षयोपशम लेकर आए हुए होते हैं । इसलिए, भगवान के वचन उनके लिए विशिष्ट प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमरूप प्रद्योत को करनेवाले बनते हैं ।

यह पद बोलते समय योग्यता के अनुसार परम उपकार करनेवाले परमात्मा के प्रति अत्यंत पूज्य बुद्धि को धारण कर, हृदय को उन भावों से भिगोकर नमस्कार करना है एवं नमस्कार करते हुए ऐसी प्रार्थना करनी है -

*"लोकप्रद्योतक हे नाथ ! आपको किया हुआ यह नमस्कार मुझमें ऐसी योग्यता प्रकट करे कि, जिससे आप मेरे लिए भी प्रद्योतक बन जाएँ ।"*

लोगुत्तमाणं आदि पाँच पदों द्वारा स्तोतव्य अरिहंत भगवंतों का सामान्य उपयोग बताया गया। यहाँ सामान्य उपयोग कहने का कारण है कि श्रुत एवं चारित्ररूप धर्म में श्रुतधर्म सामान्य धर्म है । भगवान लोक में उत्तम हैं, लोक के नाथ बनते हैं, लोक का हित करते हैं, लोक के प्रदीपक या प्रद्योतक बनते हैं, वह उपदेशरूप श्रुतधर्म की अपेक्षा से है । यह श्रुतधर्म चारित्रधर्म की अपेक्षा से सामान्य धर्म है । इसलिए इन पाँच पदों से 'सामान्य उपयोग संपदा' बताई गई।

अब इस तरीके से भगवान सामान्य उपयोगी कैसे बनें ? उसका मूल कारण क्या है ? यह बतानेवाली पाँच पदों की **पाँचवीं 'उपयोग हेतु'** संपदा बताते हैं ।

**अभयदयाणं (नमोऽत्थु णं)** - अभय को देनेवाले अर्थात् अभयदाता परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो।)

'अभय' अर्थात् भय रहित अवस्था, जो चित्त की विशिष्ट स्वस्थतारूप आत्मा का एक परिणाम है । यह स्वस्थता मोक्षमार्ग का पहला कदम है, उसे धृति, धीरज भी कहते हैं । मोक्ष के अनुकूल चक्षु, मार्ग, शरण और सम्यग्दर्शनादि धर्मों की भूमिका तैयार करने के लिए यह धृति अथवा चित्त की स्वस्थता अति जरूरी है ।

धर्मसाधना की शुरुआत चित्त की स्वस्थता से होती है, चित्त की स्वस्थता भय की निवृत्ति से होती है एवं भय की निवृत्ति पूर्ण अभयभाव में रहे हुए परमात्मा के प्रति बहुमान से होती है । इस प्रकार अभय का मानसिक परिणाम परमात्मा के प्रति बहुमान से होता है, इसी कारण परमात्मा ही अभयदाता कहलाते हैं । इस पद द्वारा, इस तरीके से अभय प्रदाता परमात्मा को नमस्कार किया गया है।

संसारवर्ती सभी जीव निरंतर सात प्रकार के भयों[33] से पीडित रहते हैं। कुछ जीवों को यह भय व्यक्त रूप से सताता है, तो कुछ जीवों में पुण्य

---

33.१. **इहलोक भयः** समान जातिवाले की तरफ़ से भय अर्थात् मनुष्य को मनुष्य से भय ।

२. **परलोक भयः** अन्य जातिवालों की तरफ़ से भय । अर्थात् मनुष्य को पशु से भय ।

३. **आदान भयः** अपना कुछ लूट जाने का भय ।

४. **अकस्मात् भयः** बाह्य निमित्त के बिना ही घर में या बाहर, रात्रि या दिन किसी भी समय अथवा ऐसे किसी भी स्थान में एकाएक भय उत्पन्न हो अथवा अकस्मात् होनेवाली घटना का भय ।

५. **आजीविका भयः** अपनी आजीविका बंध हो जाने या उसमें विक्षेप पड़ने का भय ।

६. **मरण भयः** मरने का भय ।

७. **अपयश भयः** अपमानित होने का या अपयश का भोग बनने का भय ।

का उदयकाल होने से यह भय अव्यक्त रूप से रहता है । जब तक चित्त भय से व्याप्त होता है, तब तक चित्त स्वस्थ नहीं होता । जीव जब भयों से मुक्त होकर आंशिक भी अभयभाव को प्राप्त करता है, तब अनादि संसार में पहली बार उसे स्वस्थता का अनुभव होता है । चित्त की यह स्वस्थता ही मोक्षसाधक धर्म की शुरूआत है ।

**भवनिर्वेद ही भगवद् बहुमान :**

चित्त की इस स्वस्थता का कारण है भगवान का बहुमान, और भगवद् बहुमान याने भवनिर्वेद[34]। मोहनीय कर्म के मंद होने पर प्रत्यक्ष या परोक्ष तरीके से प्राप्त हुए भगवान के वचन के आधार से जीव को संसार की वास्तविकता का ज्ञान होता है । संसार में जन्म के साथ अवश्य आनेवाली मृत्यु, संयोग के साथ संबंधित वियोग, संपत्ति के कारण आनेवाली विपत्तियां वगैरह का विचार करते हुए संसार असार लगता है, नीरस लगता है । संसार पर उदासीनता का भाव ही भवनिर्वेद है । जब तक संसार के प्रति राग तीव्र होता है, तब तक संसार से एकदम विपरीत भाव में रहे हुए वीतरागी भगवान के प्रति जीव को बहुमान नहीं हो सकता; परन्तु संसार की वास्तविकता सोचने पर जब भव का राग थोड़ा घटता है एवं आत्मा के ऊपर लक्ष्य केन्द्रित होता है, तब ही आत्मा के महासुख को जिन्होंने पाया है उन भगवान के ऊपर बहुमान का परिणाम प्रकट होता है । इसलिए संसार के प्रति नीरसता ही वीतराग के प्रति बहुमान का परिणाम है । राग से भरे हुए संसार पर अरुचि होना याने रागरहित अवस्था पर - वीतराग पर बहुमान होना । इस प्रकार जिसे भगवान के प्रति बहुमान प्रकट हुआ हो, वही भगवान के वचनों का यत्किंचित् विचार भी कर सकता है ।

---

34. भवनिर्वेदस्यैव भगवद्बहुमानत्वात् । - ललितविस्तरा

साम्प्रतं भवनिर्वेदद्वारेणार्थतो भगवद्बहुमानादेव विशिष्टकर्म्मक्षयोपशमभावादभयादिधर्म्मसिद्धेः, तद्व्यतिरेकेण नैःश्रेयसधर्म्मासम्भवाद्, भगवन्त एव तथा तथा सत्त्वकल्याणहेतवः इति प्रतिपादयन्नाह 'अभयदयाण' मित्यादि सूत्रपञ्चकम् ।

इह भयं सप्तधा इहपरलोकाऽऽदानाकस्मादाजीवमरणाश्लाघाभेदेन । एतत्प्रतिपक्षतोऽभयमिति विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यम्, निःश्रेयसधर्म्मभूमिकानिबन्धनभूता धृतिरित्यर्थः । - ललितविस्तरा

भगवान के वचनों को सोचते हुए समझ में आता है कि, 'वास्तव में किसी बाह्य पदार्थ में मुझे सुखी या दुःखी करने की ताकत नहीं है । सुख-दुःख तो मेरे मन पर निर्भर हैं । अमुक कल्पना करने से एक पदार्थ सुखदायक लगता है, जब कि अन्य कल्पना करने से वही पदार्थ दुःखदायक बन जाता है । व्यवहार से जिस अच्छे-बुरे की भी प्राप्ति होती है, उसमें मेरा कर्म ही कारण है ।' मेरे कर्मों के सिवाय इस जगत में मुझे कोई सुखी या दुःखी नहीं कर सकता । मृत्यु भी शरीर की होती है, आत्मा की नहीं । मैं तो आत्मा हूँ एवं आत्मा तो अमर है । इसके अलावा, यश-अपयश, संपत्ति-विपत्ति, ये सब कर्माधीन हैं । इन कर्मकृत भावों से मुझे परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्म का नाश होने पर इन भावों का जरूर नाश होता है और कर्म का उदय हो, तब भी मैं अपने दोषों से ही दुःखी हूँ और गुणों से ही सुखी हूँ । यदि मैं अपने दोषों का नाश कर सकूँ, तो मैं सुखी ही हूँ ।' इस प्रकार सोचने से जीव थोड़ा-सा भय रहित होकर स्वस्थता का अनुभव करता है । इस तरह भगवद् बहुमान से जीव आंशिक चित्त की स्वस्थता प्राप्त करता है । चित्त की यह स्वस्थता ही धृति है एवं इस धृति से ही जीव सच्चे सुख का मार्ग ढूँढ सकता है ।'

**उदाहरण द्वारा 'अभयदयाणं' :**

'अभय' की अवस्था को समझने के लिए शास्त्र में एक उदाहरण बताया गया है : एक मुसाफिर एक भयानक जंगल में से गुजर रहा था, वहाँ चोर - डाकूओं ने उसे लूँट लिया । उसकी संपत्ति, खाने-पीने का सामान वगैरह लूटकर, उसके हाथ-पैर बांधकर, आँखों पर पट्टी बांधकर, बहुत मार-पीटकर उसे घायल अवस्था में जंगल के बीच में गहरे गड्ढे में डालकर डाकू भाग गए । दो-तीन दिन के बाद उसे होंश आया । चारों तरफ गहरा अंधेरा था, बारीश हो रही थी, खुद चल भी नहीं सकता था, उसके प्रत्येक अंग में असह्य वेदना हो रही थी, उसकी आँख के सामने मौत नाच रही थी। असहायता से अत्यंत निराश और भयभीत अवस्था में यात्री फँस गया था । इतने में पूर्व के कोई शुभ कर्मों के कारण उसे एक परिचित आवाज सुनाई दी, 'चिंता मत कर, मैं आ गया हूँ, तुझे

बाहर निकालता हूँ' यह सुनकर उस मुसाफिर को अत्यंत राहत का अनुभव होता है, उसका डर कम होता है, उसे आश्वासन मिलता है, 'हाश ! अब चिंता की कोई बात नहीं है । इस पुरुष के सहारे मैं अब यहाँ से छूट सकूँगा । निर्भयता से जंगल को पार कर सकूँगा ।'

भौतिक जगत् की तीव्र आसक्ति के कारण संसारी जीव भी कषायों और सात प्रकार के भयों से सतत भयभीत रहता है । जब वह अभय भाव में रहे हुए अचिंत्य शक्तिवाले, परहित में निरंतर रत रहनेवाले और सदा महानंद से युक्त परमात्मा का दर्शन करता है, बहुमानपूर्वक उनके वचनों पर विचार करता है, तब उनके वचनों के बल से उसका मन थोड़ा स्वस्थ होता है । उसे लगता है कि, "मैं भी कषायों से मुक्त हो सकूँगा" परिणाम स्वरूप उसका भय कम होता है एवं उसे आंशिक धृति की प्राप्ति होती है। उसे धृतिपूर्वक भगवान के वचनानुसार प्रवृत्ति करते हुए भयावह संसार से मुक्ति प्राप्त करने का मार्ग मिलता है ।

इस भूमिका में भवनिर्वेद और भगवान के प्रति बहुमान के साथ-साथ जीव में अनादिकाल से जो तत्त्व का द्वेष था, उसका अंत होता है और तत्त्व का अद्वेष प्रकट होता है, वह तत्त्वमार्ग के लिए प्रयत्नशील बनता है, उसमें तत्त्व प्राप्ति की इच्छा प्रकट होती है, फिर भी इस भूमिका में उसका तत्त्वविषयक बोध अति मंद होता है । इस बोध को योग की प्रथम दृष्टि **'मित्रादृष्टि'**[35] प्रायोग्य बोध कहते हैं । यहाँ तत्त्व का अद्वेष गुण प्रकट

35. **योगदृष्टि :** मोक्षमार्ग के साथ जोडनेवाली मन-वचन-काया की प्रवृत्ति को योगमार्ग कहते हैं । ऐसे योगमार्ग का दर्शन जिससे होता है, वैसे सम्यग्बोध को योगदृष्टि कहते हैं । योग दृष्टि का प्रारंभ होते ही आत्मा का लगाव भौतिक क्षेत्र से पीछे हटकर आध्यात्मिक क्षेत्र की तरफ़ होता है ।

**मित्रादृष्टि :** आध्यात्मिक विकास की प्रथम भूमिका को मित्रादृष्टि कहते हैं । इस दृष्टिवाले जीव का योगमार्ग विषयक बोध अति मंद होता है, फिर भी इस बोध से उसे भव का वैराग्य प्रकट होता है, भगवान के प्रति बहुमान का परिणाम प्रकट होता है एवं आत्महित की चिंता का प्रारंभ होता है । आत्महित की चिंतारूप सच्चा मित्र मिलने पर जीव कुछ निर्भय बनता है । जीव को अभयभाव देनेवाले बोधरूप मित्र की प्राप्ति आदि होती है । इसलिए उसे मित्रादृष्टि कहते हैं ।

होता है और खेद दोष दूर होता है । पू. आनंदघनजी महाराज ने इस भूमिका का वर्णन करते हुए कहा है,

संभवदेव ते धूर सेवो सवे रे, लहि प्रभु सेवन भेद...
सेवन कारण पहेली भूमिका रे, अभय अखेद अद्वेष रे ।।

**अरिहंत परमात्मा ही 'अभय' आदि के दाता :-**

'जिस तरह अगर किसी राजा में शूरवीरता आदि गुणों का प्रकर्ष हो, तो उसमें सब शत्रुओं को परास्त करने की शक्ति होती है । यह शक्ति होने से ही वह शत्रुओं के भय से मुक्त बनकर निर्भयता से राज्य करता है तथा स्वयं निर्भय होने के कारण वह राजा आश्रितों को भी भयमुक्त कर सकता है । वैसे भगवान में इन गुणों का प्रकर्ष होने से ही वे अचिंत्य शक्ति से युक्त हैं। अचिंत्य शक्ति होने के कारण ही वे मोहादि शत्रुओं से निश्चिंत हैं अर्थात् निर्भय हैं । सदा अभयभाव में स्थिर है । इस प्रकार स्वयं अभयभाव में स्थित होने से परमात्मा अन्य आश्रितों को अभय दे सकते हैं । परमात्मा के अलावा अन्य कोई भी जीव में अभय गुण इतने उत्कृष्ट रूप में नहीं होता । इसलिए वे अभय नहीं दे सकते । अतः सिर्फ परमात्मा द्वारा ही जीव को अभय की प्राप्ति या अभय की सिद्धि हो सकती है, इसी कारण से परमात्मा को अभयदाता कहा जाता है । [36]इसी तरह परमात्मा में गुण का प्रकर्ष होने से, वे अचिंत्य शक्तिवाले होने से, उन-उन भावों में अवस्थित होने से और परार्थ परायण होने से परमात्मा ही चक्षु-मार्ग-शरण और बोधि के दाता हैं ।

सामान्य केवली या गुरु से भी कभी अभय की प्राप्ति होती है, परन्तु मूल-स्रोत की अपेक्षा से वह अंत में तो अरिहंत द्वारा ही प्राप्त होता है क्योंकि गुरु आदि भी जो अभय प्राप्ति का मार्ग बताते हैं, वह स्वयं नहीं

36. अतोऽस्य गुणप्रकर्षरूपत्वादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् तथाभावेनावस्थितेः
सर्वथापरार्थकरणाद्, भगवद्भ्य एव सिद्धिरिति । तदित्थंभूतमभयं ददतीत्यभयदा ।
- ललित विस्तरा

बताते अपितु भगवान के वचन के आधार से ही बता सकते हैं । इसलिए परमात्मा ही अभयदाता है ।

अभयदाता परमात्मा को नमस्कार करते हुए प्रभु के पास प्रार्थना करनी है कि -

*"सब जीवों को अभय प्रदान करनेवाले हे प्रभु ! सतत भयों से घिरे हुए मुझे भी आप भय से मुक्त कर सर्व प्रकार से निर्भय बनाएँ ।"*

**चक्खुदयाणं (नमोऽत्थु णं) -** दिव्यदृष्टिरूप चक्षु देनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

आत्मा जब तक घातिकर्मों के साथ संयुक्त हो, तब तक किसी भी पदार्थ का बोध करने के लिए उसे पाँच में से किसी भी एक इन्द्रिय का सहारा लेना पड़ता है । उसमें पदार्थ के रूपादि को देखने का कार्य चक्षु इन्द्रिय करती है। चक्षु द्रव्य एवं भाव के भेद से दो प्रकार के हैं । यहाँ पर तो भगवान को इन दोनों चक्षुओं से अलग ही एक विशिष्ट चक्षु का दाता कहा गया है । यह चक्षु अर्थात् तत्त्व का बोध करवाने में कारण बने, वैसा मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाला तत्त्व श्रद्धा रूप आत्मा का परिणाम । श्रद्धा अर्थात् तत्त्व की रुचि[37] या धर्म करने का सम्यक् भाव ।

अभय प्राप्त होने से साधक का चित्त स्वस्थ होता है एवं उसके कारण वह विडंबना से भरे संसार के वास्तविक स्वरूप को आंशिक पहचान सकता है । अब उसे इस संसार से भिन्न सुख का मार्ग जानने की इच्छा होती है । बार बार सोचते हुए उसे ऐसा लगता है कि, कषाय से युक्त मेरे परिणाम से ही मैं दुःखी हूँ एवं कषायरहित शुद्ध परिणाम ही मेरे सुख का कारण है, तो भी इस भूमिका में अभी इतना सूक्ष्म बोध नहीं होता, सुख का

---

37. रुचिः-करणाभिलाषः ।

अत्र चक्षुः विशिष्टमेवात्मधर्म्मरूपं तत्त्वावबोधनिबन्धनश्रद्धास्वभावं गृह्यते;

- ललितविस्तरा

मार्ग भी स्पष्ट नहीं दीखता, ऐसा होने पर भी भगवान की कृपा का पात्र बनकर साधक इस विषय में जैसे-जैसे अधिक सोचता है, वैसे-वैसे मोहनीय कर्म का आवरण दूर होता है, जिसके कारण तत्त्वमार्ग का विशेष बोध होता है । **इस मार्ग पर जाने से ही सुख मिलेगा, ऐसी श्रद्धा उत्पन्न होती है । यह श्रद्धा का परिणाम ही चक्षु है ।**

तत्त्व की श्रद्धा का यह परिणाम ही धर्म के प्रति रुचि का परिणाम है । एक मात्र धर्म ही ऐसा है कि जो मेरे कषायों का नाश करके मुझे सुख देगा, वैसी थोड़ी प्रतीति इस भूमिका में होती है । इसके कारण सुंदर धर्म करने-वाली आत्मा को देखकर आनंद होता है, उसकी प्रशंसा करने का मन होता है । इस श्रद्धा का परिणाम ऐसा तीव्र नहीं होता कि जो तत्त्वदर्शन करवाए, तो भी वह तत्त्वदर्शन का कारण बने, इतना तो है ही । जिस प्रकार शत्रुंजय की सीढियाँ चढ़ते समय आदीश्वर दादा के दर्शन नहीं होते, तो भी आसानी से सीढियाँ चढ़ने की शुरूआत करनेवाले पथिक को श्रद्धा तो होती ही है कि अब थोड़े समय में दादा के दर्शन होंगे; उसी प्रकार चक्षु स्वरूप क्षयोपशम को पाकर जीव अभी तक कोई उपशम सुख की अनुभूति नहीं करता, तो भी 'मैं जरूर सुखी बनूँगा' वैसी उसे प्रतीति होती है क्योंकि यहाँ उसे उपशम भाव स्वरूप मोक्ष का मार्ग दिखाई देता है ।

श्रद्धारूप यह परिणाम प्राप्त होने पर यह आत्मा तत्त्व ज्ञानी के पास जाती है, तत्त्व विषयक अनेक प्रश्न पूछती है, तत्त्व प्राप्ति के उपायों को जानती है एवं आत्म शुद्धिरूप तत्त्व को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील साधक की औचित्यपूर्ण प्रशंसा करती है और खुद भी अनेक शुभ अनुष्ठान करती है । इस भूमिका में रहे हुए जीव को अभय की भूमिका की अपेक्षा थोड़ा विशेष बोध होता है । इस बोध को योग की दूसरी दृष्टि - **तारादृष्टि**[38] में हुआ बोध कहते हैं ।

38. **तारादृष्टि :** मित्रादृष्टि की अपेक्षा से बोध की मात्रा यहाँ थोड़ी अधिक होती है । इसीलिए यहाँ तत्त्व विषयक विशेष जिज्ञासा होती है । यह तत्त्वमार्ग ही मेरे लिए हितकारक है, वैसी श्रद्धा रूपी चक्षु की प्राप्ति जीव को यहाँ होती है । भव वैराग्य की मात्रा बढ़ती है । इससे सुखकारक संसार भी दुःखकारक लगता है; औचित्यादि गुणों का विकास होता है ।

जिसकी आँखों की पट्टी खुल गई हो और जो गड्ढे में से बाहर आ चुका है, ऐसा चक्षुवाला व्यक्ति या मुसाफिर जिस तरह मार्ग को देख सकता है; परन्तु चक्षु के बिना या आँख पर पट्टी होने पर मार्ग नहीं देख सकता, उसी तरह योगमार्ग को देखने के अनुकूल तत्त्व की जिज्ञासारूप अंतःचक्षु की प्राप्ति होने से ही साधक क्रमशः मार्ग को प्राप्त कर सकता है।

इस भूमिका की प्राप्ति के पूर्व भी जीव धर्मक्रिया तो करता था, परन्तु कषायों के उपशम से प्राप्त होनेवाले आत्मिक सुख के लिए नहीं । चक्षु की प्राप्ति के बाद किया हुआ धर्म पहले की अपेक्षा से अलग ही होता है।

तत्त्व के बोध में कारणभूत यह चक्षु भी अभय की तरह परमात्मा द्वारा ही प्राप्त होते हैं; क्योंकि भगवान सर्वज्ञ वीतराग हैं एवं केवलज्ञान रूप विशिष्ट चक्षु से वे सब पदार्थों को देखते हैं । ऐसे विशिष्ट चक्षु के कारण ही परमात्मा तत्त्वदर्शन के कारणभूत चक्षु को प्रदान कर सकते हैं। जिनके पास ऐसे चक्षु नहीं होते, वे दूसरों को भी ऐसे चक्षु नहीं दे सकते ।

यद्यपि, धर्मरुचिरूप यह चक्षु काल, स्वभाव, भवितव्यता आदि की अपेक्षा जरूर रखते हैं, तो भी भगवान की कृपा के बिना यह प्राप्त नहीं होते। इस जगत में तत्त्वमार्ग का प्रकाश फ़ैलाने का काम मात्र परमात्मा ने ही किया है एवं उनकी कृपा का पात्र बने हुए जीव ही संसार को उस प्रकार से देख सकते हैं, अन्य नहीं । इसलिए प.पू.उपाध्याय यशोविजयजी म.सा. अपने स्तवन में कहते हैं -

काल, स्वभाव, भवितव्यता ते सघला तुझ दासों रे ।
मुख्य हेतु तुं मोक्षनो, ए मुज सबल विश्वासों रे ।।

श्रद्धारूप चक्षु के बिना अंधा अनंतकाल संसार में भटकता है । जब वह परमात्मा की कृपा का पात्र बनता है, तब ही उसे ऐसे चक्षु की प्राप्ति होती है फिर उसे संसार में ज्यादा नहीं भटकना पड़ता । यह पद बोलते हुए कैवल्य चक्षु को पाए हुए परमात्मा को नज़र के समक्ष रखकर सोचना चाहिए -

*"श्रद्धारूप नेत्र के बिना अनंतकाल से यहाँ से वहाँ भटकता हुआ मैं दुःख का भाजन बना हूँ । चक्षुदाता हे विभु ! आपको किया हुआ यह नमस्कार मुझे श्रद्धारूप चक्षु की प्राप्ति में सहायक बनें ।"*

**मग्गदयाणं (नमोऽत्थु णं) -** मार्ग[39] को प्रदान करनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

प्रभु जो मार्ग देते हैं, वह मार्ग दूसरा कोई नहीं, परन्तु मोक्षनगर तक पहुँचाए ऐसी चित्त की सरल परिणति है । गाढ़ मिथ्यात्व मोहनीय के उदय के कारण अनादिकाल से जीव का चित्त वक्र[40] गति से ही चलता था, जिसके कारण दुःख के कारणभूत संसार और संसार की सामग्री जीव को मनोहर लगती थी एवं सुखकारक आत्मा और आत्मा के गुणों की जीव उपेक्षा करता था । दुःखकारक वस्तु को सुखकारक मानना एवं सुखकारक वस्तु की उपेक्षा करना, यही जीव की वक्रता है ।

पूर्व के दोनों पदों में देखा कि भव से विरक्त हुआ जीव भगवान की कृपा का पात्र बनता है । भगवान की कृपा से निर्भय बने हुए साधक का चित्त थोड़ा स्वस्थ बनता है । स्वस्थ चित्त से तत्त्व का याने कि सच्चे सुख एवं उसके कारणों का चिंतन करने से मोहनीय कर्म का क्षयोपशम होता है और उससे तत्त्व की श्रद्धा प्रकट होती है एवं श्रद्धा के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए सच्चे सुख का मार्ग मिलता है । सच्चे सुख का (हेतु - स्वरूप - फल से शुद्ध सुख का) यह मार्ग ही चित्त का **'अवक्रगमन'** है ।

---

39.इह मार्गः चेतसोऽवक्रगमनं, भुजङ्गमगमननलिकायामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः । हेतु - स्वरूप-फल शुद्धा सुखा ।

40.चित्त का वक्रगमन क्लिष्ट मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से होता है । क्लिष्ट मिथ्यात्व मोहनीय अर्थात् अनुबंधवाला मिथ्यात्व मोहनीय कर्म अर्थात् जिसकी परंपरा सतत चले ऐसा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म । इस कर्म के उदय से जीव की बुद्धि भ्रमित होती है, मान्यता विपरीत हो जाती है, जिससे दुःखकारक विषयों के पीछे जीव दौड़ता है । उससे पुनः वैसे कर्म बाँधता है । इस प्रकार, कर्मबंध की श्रृंखला चलती ही जाती है, जिसे सानुबंध कर्म कहते हैं ।

जैसे सर्प अपने बिल में शरीर छिल जाने के भय से तिर्च्छी चाल को त्याग कर सीधा चलता है, वैसे ही चित्त की सरलता रूप मार्ग मिल जाने पर साधक भी मिथ्यात्व जन्य कदाग्रहों का, कुटिलताओं का एवं कुमान्यताओं का त्याग करके सच्चे सुख के मार्ग पर चलना शुरु करता है। इस मार्ग पर चलते हुए उसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का सानुबंध[41] क्षयोपशम होता है । इस क्षयोपशम के कारण आगे बढ़ते हुए जीव को सम्यग्दर्शन गुण की प्राप्ति होती है। इसीलिए मार्ग प्राप्ति के परिणाम को **विशिष्ट गुणस्थानक की प्राप्ति करवानेवाला क्षयोपशम कहा है ।**

इसके अतिरिक्त, प्राप्त हुआ यह मार्ग **स्वरसवाही** होता है । स्वरसवाही अर्थात् स्वेच्छा से ही मोक्षमार्ग में गमन करवाए वैसा मानसिक परिणाम अथवा स्व अर्थात् आत्मा का एवं रस अर्थात् लगाव = interest । यहाँ सुख को प्राप्त करवानेवाले अपने ज्ञानादि गुणों के प्रति आत्मा का लगाव पैदा होता है ।

मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय जीव को जहाँ सुख नहीं है, वहाँ सुख का भ्रम करवाकर दौड़ाता है, दुःखरूप, दुःखहेतुक एवं दुःखफलक (दुःखरूपे/दुःखफले/दुःखानुबंधे-पंचसूत्र) संसार को आनंददायक मनवाता है । आनंद-दायक मनवाकर उसमें आसक्ति पैदा करवाता है । यहीं जीव की वक्रता है ।

अनादि की वक्रता के कारण जीव का झुकाव पुद्गल से प्राप्त होनेवाले सुख की तरफ था, परन्तु मार्ग की प्राप्ति होने पर जीव की मनोवृत्ति परिवर्तित होती है । कषायजन्य पौद्गलिक सुख एवं दुःख काल्पनिक हैं, ऐसा महसूस होता है एवं कषाय के उपशम में ही वास्तविक सुख है, निष्कषाय अवस्था ही सुख का साधन है, इस बात का सहजता से स्वीकार होता है । इसीलिए मार्ग की प्राप्ति वाले जीव को श्रेष्ठ कोटि के सांसारिक

41. जिस कर्म का क्षयोपशम नये कर्मों का क्षयोपशम करवाए, वह सानुबंध कर्मों का क्षयोपशम है । चित्त का सरल गमन सानुबंध मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होता है । इस कर्म का क्षयोपशम बुद्धि को निर्मल करता है । उसके कारण मान्यता परिवर्तित होती है, विषय-कषाय दुःखकारक लगते है, संसार असार लगता है एवं उसके कारण होनेवाली परिणति-चिंतन नये-नये कर्म का क्षयोपशम करवाकर गुण की दिशा में आगे बढ़ाता है ।

सुख में भी कहीं महत्त्वबुद्धि नहीं रहती । सुखकारी इस मार्ग के दर्शन को अन्य महात्मा 'सुखा' शब्द से संबोधित करते हैं ।

अभय और चक्षु की तरह मार्ग के दाता भी अरिहंत परमात्मा ही है । अभय एवं चक्षु की प्राप्ति के बाद मोहनीय कर्म के विशेष क्षयोपशम से जीव का बोध बलवान बनता है । उसमें तत्त्व को सुनने की इच्छा प्रकट होती है और चित्त के अवक्रगमनरूप मार्ग की प्राप्ति होती है । यह बलवान बोध अर्थात् योगमार्ग की तीसरी **बलादृष्टि**[42]। ऐसे मार्ग की प्राप्ति होने के पहले जीव शायद धर्म करता है, पर वह धर्म किसी आशंसा या विचार शून्यता से ही होता है, लेकिन संसार से पर किसी भी तत्त्व के प्रति उसे रुचि नहीं होती। मार्ग की प्राप्ति के बाद उसकी धर्मक्रिया आत्मशुद्धि या गुणप्राप्ति के प्रयत्न रूप बनती है, यही चित्त की सरलता है । ऐसी चित्त की सरलता प्राप्त होने से पहले गुणवान गुरु आदि के योग से भी साधक में सम्यग्दर्शन का परिणाम प्रकट नहीं हो सकता । 'हाँ' उसके पहले प्राप्त हुए गुरू के उपदेश या शास्त्राभ्यासादि अनादि की वक्रता त्याग करवाने में और मार्ग को प्राप्त करवाने में निमित्त बनते हैं ।

यह पद बोलते हुए श्रेष्ठ मार्ग को पाकर, मोक्ष में गए परमात्मा को याद करके उन्हें नमस्कार करते हुए उनसे प्रार्थना करनी है -

*'हे नाथ ! अनादिकाल से मार्ग भूले हुए हमें आप सत्य मार्ग बताकर उस पर आगे बढ़ने का सामर्थ्य प्रदान करें ।'*

**सरणदयाणं (नमोऽत्थु णं)** - शरण देनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

शरण देना अर्थात् रक्षण करना । भय से पीड़ित आत्मा की सुरक्षा करनी चाहिए, उसे शांति मिले, वह निर्भय बने, वैसा करना शरण है ।

42. **बलादृष्टि :** पहली दो दृष्टि की अपेक्षा यहाँ विवेक की मात्रा अधिक होती है । मार्ग विषयक बोध बलवान होता है । इसलिए उसे बलादृष्टि कहते है । इस भूमिकावाला जीव अनादि की वक्रता का त्याग करके सरलता से योगमार्ग में आगे बढ़ता है ।

इस संसार में वास्तविक अर्थ में शांति, सुरक्षा या निर्भयता तत्त्व चिंतन से ही प्राप्त हो सकती है, इसलिए तत्त्व चिंतन वास्तव में शरण है । आत्मादि तत्त्व के चिंतन के बिना, उसका विशेष प्रकार से विचार किए बिना वास्तविक शांति नही मिलती ।

भव वैराग्य से जब भगवान के प्रति बहुमान भाव प्रगट होता है, तब साधक आत्मा का चित्त स्वस्थ बनता है। स्वस्थ चित्त से आत्मादि तत्त्व की जिज्ञासा होने पर उसमें एक श्रद्धा का परिणाम प्रगट होता है । तत्त्व की रुचिरूप इस श्रद्धा से 'चित्त की सरलता'रूप मार्ग की प्राप्ति होती है । सन्मार्ग प्राप्त होने पर कषायों की मुक्ति में वास्तविक सुख है, ऐसा महसूस होता है। इसलिए बुद्धिमान आत्मा सूक्ष्मता से उस मार्ग विषयक गंभीर चिंतन करती है, तत्त्व को सविशेष जानने की इच्छा रखती है । इस विशेष जानने की इच्छा को अन्य दर्शनकार (गोपेन्द्र परिव्राजक) विविदिषा (विशेष जानने की इच्छा) कहते हैं । उसी से अब तत्त्व श्रवण की उत्कंठा जागृत होती है । सच्चे अर्थ में धर्म श्रवण की भूमिका यहाँ प्रगट होती है । तत्त्व चिंतन या धर्म श्रवण की भूमिका ही सच्चे अर्थ में शरण है, क्योंकि जीव को जिससे सुख मिलनेवाला है, जिससे उसके आत्मभाव की सुरक्षा होनेवाली है, वैसे सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति इस तत्त्व चिंतन से होती है।

आत्मादि तत्त्व का चिंतन करने से तत्त्व संबंधी शुश्रुषा[१], श्रवण[२], ग्रहण[३], धारणा[४], विज्ञान[५], ऊह[६], अपोह[७] एवं तत्त्व अभिनिवेश[८] स्वरूप बुद्धि के आठ[43] गुण प्रगट होते हैं। यह आठ गुण प्रकट होने के बाद धर्मश्रवण की

43.**१. शुश्रूषा :** तत्त्व सुनने की इच्छा । सच्चा सुख किसे कहते हैं ? आत्मा का सुख कैसे प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा से जिनवाणी सुनने की इच्छा वह शुश्रूषा है । परन्तु जैनों को जिनवाणी सुननी चाहिए अथवा सभी व्याख्यान में जाते हैं, इसलिए हमें भी जाना चाहिए, व्याख्यान में तर्क तथा नई-नई अनेक बातें आती हैं । इसलिए हमें भी व्याख्यान सुनना चाहिए । इस तरह जिनवाणी के श्रवण की इच्छा शुश्रूषा नहीं है ।

**२. श्रवण :** ज्ञान के संपूर्ण उपयोगपूर्वक एक-एक शब्द तत्त्व प्राप्ति का कारण बने, इस तरीके से सुनना ।

**३. ग्रहण :** सुने हुए शब्द कान को स्पर्शकर न चले जाए परन्तु तत्त्व की प्राप्ति का कारण बने, वैसे एक-एक शब्द का मर्म समझना ।

क्रिया, पहले की धर्मश्रवण क्रिया की अपेक्षा विशिष्ट प्रकार की होती है । पहले धर्मश्रवण की क्रिया कुछ शुभ भाव पैदा करती है, परन्तु विशिष्ट प्रकार का हेय-उपादेय का विवेक तो यहाँ ही प्रगट होता है । इस विवेक के कारण संसार के सर्वश्रेष्ठ भाव उसे तुच्छ लगते हैं । नरेन्द्र या चक्रवर्ती के भोग में भी उसे आसक्ति नहीं होती बल्कि उसमें नरकादि के दुःख का दर्शन होता है एवं आत्मोपकारक संयमादि भाव उसे सुंदर लगते हैं । मन में संयमादि भाव प्राप्त करने की उत्कंठा जागृत होती है । यहाँ सम्यग्दर्शन के अत्यंत नजदीक की भूमिका संपन्न होती है। योग की चौथी दृष्टि **दिप्रादृष्टि**[44] योग्य बोध की यहाँ प्राप्ति होती है ।

तत्त्वचिंतन रूप इस शरण के प्रदाता भी अरिहंत ही है क्योंकि उन्होंने सर्वश्रेष्ठ तत्त्वभूत अवस्था को प्राप्त की है । वे स्वयं सर्वांश से रागादि शत्रु से सुरक्षित हैं और अन्य को भी सुरक्षित करते हैं। ऐसे स्वरूपवाले परमात्मा को देखने से एवं उनका चिंतन-मनन या ध्यान करने से अशरण दशा में ले जानेवाले रागादि भाव एवं उनको उत्पन्न करनेवाले हमारे कर्मों का नाश होता है । इस प्रकार निमित्त भाव से परमात्मा ही अपने सच्चे शरण दाता हैं - रक्षक हैं।

---

**४. धारणा :** ग्रहण किए हुए सर्व वाक्यों को पूर्वापर के अनुसंधान पूर्वक मन में स्थिर करना ।

**५. विज्ञान :** अज्ञान, संशयादि दोषों को दूर करके, स्थिर किए हुए तत्त्वों का विशेष बोध प्राप्त करना ।

**६. ऊह :** विशेष चिंतन करने से मन में जिज्ञासा हो कि इस तत्त्व के विषय में परमात्मा ने ऐसा क्यों कहा है ? जैसे कि 'अहिंसा ही धर्म है' तो श्रावक के लिए बाह्य से हिंसारूप जिनपूजा का विधान क्यों है ? ऐसी जिज्ञासा या तत्त्व विषयक सामान्य ज्ञान ऊह कहलाता है ।

**७. अपोह :** मन में हुई शंका का सामाधान मिले वैसा विशेष बोध अथवा तत्त्वविषयक विशेष बोध ।

**८. तत्त्वाभिनिवेष :** यह पदार्थ इस प्रकार से सत्य ही है, ऐसा निर्णय ।

44. **दिप्रादृष्टि :** प्रथम तीन दृष्टियों की अपेक्षा यहाँ मार्ग विषयक बोध बहुत अधिक होता है । यहाँ तत्त्व विषयक गहरा चिंतन होता है । सद्बुद्धि का विकास भी अधिक प्रमाण में होता है । सम्यग्दर्शन की अत्यंत समीप की भूमिका यहाँ प्राप्त होती है । ऐसा होने पर भी अभी सम्यग्दर्शन के अभाव के कारण यह बोध दीपक के प्रकाश के समान अस्थिर होता है । इसलिए इस दृष्टि का नाम दिप्रादृष्टि कहलाती है ।

यह पद बोलते हुए शरणदाता ऐसे परमात्मा को याद करके, सर्वथा रागादि शत्रु के विजेता परमात्मा के प्रति बहुमान प्रगट करके नमस्कार करते हुए परमात्मा को प्रार्थना करनी चाहिए -

*"हे नाथ ! अनंतकाल से अशरण दशा में भटकते हमें शरण देकर सच्चे सुख का स्वामी बनाएँ ।"*

**बोहिदयाणं (नमोऽत्थु णं)** - बोधि-सम्यग्दर्शन को देनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन । 'जिनेश्वर भगवान ने जो पदार्थ जिस प्रकार कहे हैं, वह वैसे ही हैं ।' वैसी अडिग श्रद्धा सम्यग्दर्शन है । यह परिणाम तत्त्व के विशिष्ट चिंतन से हुए मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होता है । इसलिए 'शरण' से बोधि की प्राप्ति रूप फल मिलता है ।

मन और आत्मा के ऊपर जब गाढ़ मिथ्यात्व का प्रभाव होता है, तब उसमें राग-द्वेष के भाव अति प्रबलता से प्रवर्तित होते हैं । इस तीव्र राग- द्वेष के परिणाम को ग्रंथि[45] कहते हैं । ग्रंथि अर्थात् एक प्रकार का पूर्वग्रह - एक तरह का complex / prejudice जिसके कारण जीव खुद की मान्यता नहीं

45. गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगुढगंठि व्व । जीवस्स कम्मजणिओ घणरागदोषपरिणामो ।।
**ग्रंथि** अर्थात् गाँठ या बंधन । आत्मा के ऊपर पड़े हुए राग-द्वेष के घन संस्कारों को ग्रंथि कहते हैं । यह गाँठ कैसी है, उसको समझाने के लिए शास्त्र में ग्रंथि के चार विशेषण बताएँ हैं :
**१. कर्कश :** जैसे काथी की डोरी वगैरह में पड़ी हुई गांठ को खोलने में हाथ छिल जाते हैं, वैसे विचित्र एवं विलक्षण परिणामस्वरूप इन रागादि को निकालने में दम निकल जाता है ।
**२. घन :** रेशमी गाँठ पर तेल और मैल चढ़ने से जैसे गाँठ मजबूत हो जाती है, वैसे ही कर्मों के अनुबंधों के कारण ये रागादि घन हो जाते हैं ।
**३. रूढ :** बारीक । रेशमी डोरे में बहुत समय से पड़ी हुई गाँठ जैसे रूढ़ हो जाती है, वैसे ही अनादिकाल से चलते रागादि के परिणाम अत्यंत रूढ़ हो जाते हैं ।
**४. गूढ़ :** पतली रेशम की डोरी में बहुत समय से पड़ी हुई गांठ जिस प्रकार दिखती ही नहीं, वैसे ही जीव को मिथ्यात्व के कारण हुए बुद्धि के विभ्रम से रागादि भावों दोषरूप लगते ही नहीं हैं एवं ये दोषरूप भाव कहाँ से उठते हैं, किस निमित्त से प्रकट होते हैं तथा आत्मा का किस प्रकार अहित करते है, वह समझते ही नहीं ।

बदल सकता। अनादिकाल से जीव को भौतिक पदार्थों से ही सुख मिलेगा ऐसा पूर्वग्रह (जडता भरा एक अभिप्राय) पैदा हो गया है। उसकी यह गाँठ उसे आत्मविकास नहीं करने देती । धागे में पड़ी हुई गांठ जिस प्रकार सुई को आगे नहीं बढ़ने देती, उसी प्रकार इस ग्रंथी के कारण जीव सत्य तत्त्व को देखकर भी आत्मिक विकास में आगे नहीं बढ़ सकता। ज्ञानशक्ति से इन्द्रियों के द्वारा पदार्थ के बाह्य रूप-रंग का ज्ञान प्राप्त होता है । तो भी तीव्र रागादि के कारण उसमें रही हुई नश्वरता, आत्मा से भिन्नता एवं आत्मा के लिए अनुपकारिता आदि धर्म का ज्ञान नहीं हो सकता ।

कभी किसी महापुरुष के वचनामृत से स्त्री, संपत्ति आदि पदार्थ नश्वर हैं, आत्मा को रागादि भावों से मलिन करनेवाले हैं, कर्म का बंध करवाकर दुर्गति में ले जानेवाले हैं वगैरह बातें समझ में आती है, थोड़ी श्रद्धा भी होती है, तो भी ग्रंथि की उपस्थिति में = मिथ्यात्व के उदयकाल में ये भाव छोड़ने योग्य हैं, आत्मा के लिए अहितकर हैं, वैसा स्पष्ट संवेदन नहीं होता । जैसे कि, पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का भोग आत्मा के लिए अहितकर है, फिर भी मिथ्यात्व की विद्यमानता में उसका ही संवेदन सुखप्रद होता है, इसलिए शास्त्रीय परिभाषा में इस अवस्था को अवेद्य-संवेद्य पद[46] कहते हैं ।

सर्प को देखकर यह सर्प मारनेवाला है, ऐसा संवेदनात्मक ज्ञान होने पर जीव सर्प से डरता है, उससे दूर भागता है । उसी तरह से स्त्री, संपत्ति आदि हेय पदार्थों का हेयरूप से संवेदनात्मक ज्ञान होने पर यदि आत्मा को उससे दूर रहने की इच्छा हो तो कह सकते हैं कि पदार्थ का यथार्थ संवेदन हुआ, परन्तु सम्यग्दर्शन की गैरहाज़िरी में पापक्रिया या पाप के साधनभूत स्त्री, संपत्ति आदि 'मेरे अहित या मेरी दुर्गति का कारण बन सकते हैं' ऐसा भय या ऐसी संवेदना जीव को नहीं होती, इसलिए वह हितकारक संयमादि गुणों की उपेक्षा कर अहितकारी स्त्री, संपत्ति आदि में ही प्रवृत्ति करता रहता है।

46. **अवेद्य-संवेद्य पद :** जिस वस्तु का जिस स्वरूप में वेदन होना चाहिए, उस रूप में वेदन न होकर अलग रूप से वेदन होना, उसे अवेद्य-संवेद्य पद कहते है । मिथ्यात्व की उपस्थिति में उसकी अचूक उपस्थिति होती है एवं सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर वह नाश हो जाता है ।

यह सब मिथ्यात्व के उदय, बोधि की अप्राप्ति, गाढ़ राग-द्वेषरूपी ग्रंथि की उपस्थिति या अवेद्य-संवेद्य पद के कारण ही होता है ।

जैसे कभी-कभार नदी में कुछ पत्थर टकराते-टकराते बिना प्रयत्न के ही गोल हो जाते हैं, वैसे ही भव में भटकते-भटकते दुःखों को सहन करते करते जीव की मिथ्यात्व मोहनीयादि कर्मस्थिति थोड़ी मंद होने पर जीव को थोड़े शुभ भाव की प्राप्ति होती है । उसी कारण राग, द्वेष, क्रोधादि से होनेवाली आत्मा की पीड़ा उसे समझ में आती है और संसार की वास्तविकता का वह विचार कर सकता है । उसके कारण 'संसार में सुख है' - ऐसा अनादिकालीन भ्रम कम होता है । संसार का राग अल्प होता है एवं भव से पार हुए भगवान के ऊपर उसे बहुमान होता है । इस परिणाम को ज्ञानी-पुरुष यथाप्रवृत्तिकरण[47] कहते हैं । इस तत्त्वचिंतन के मार्ग में आगे बढ़ते हुए निकट मुक्तिगामी आत्मा को उस प्रकार के कर्मों के क्षयोपक्षम से अपूर्वकरण[48] एवं अनिवृत्तिकरण[49] के अध्यवसाय प्रकट होते हैं । कुठार के प्रहार तुल्य इन अध्यवसायों से आत्मा राग-द्वेष की तीव्र गांठ को भेदती है एवं मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उपशम या क्षयोपशम करती है । इस प्रकार राग-द्वेष के परिणामरूप ग्रंथि का भेद होने पर जीव को बोधि की प्राप्ति होती है।

बोधि की प्राप्ति से विपरीत अनुभव, विपरीत मान्यताएँ आदि का सर्वथा नाश होता है । 'हाँ' अभी भी ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण ज्ञान में कमी हो सकती है, परन्तु सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति के बाद हेय-उपादेय के

47. **यथाप्रवृत्तिकरण :** अनादिकाल से टकराते-ठोकर खाते जीव को जो कुछ शुभ भाव आते हैं, उन्हें यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं । यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की ६९ कोडा-कोडी से अधिक स्थिति का नाश करके जीव अन्तः कोडा-कोडी की स्थितिवाला बनता है ।

48. **अपूर्वकरण :** पहले कभी न हुआ हो वैसा अपूर्व कोटि का जो अध्यवसाय प्रकट होता है उसे अपूर्वकरण कहते हैं । इस करण = अध्यवसाय द्वारा ही आत्मा राग द्वेष की तीव्र गाँठ को भेद सकती है ।

49. **अनिवृत्तिकरण :** जिस परिणाम के कारण आत्मा सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त किए बिना वापिस नहीं लौटती वैसे विशिष्ट कोटि के अध्यवसाय को अनिवृत्तिकरण कहते हैं । (इन करणों के समय कर्म में कैसे परिवर्तन होते हैं वगैरह विवरण कर्मग्रंथ-२ में अथवा परमतेज भा. २ में देखें ।)

विवेक में थोड़ी भी न्यूनता नहीं रहती । बाह्य सांसारिक पदार्थों के ज्ञान में कदाचित् न्यूनता हो सकती है, परन्तु अपने अंतरंग भावों को देखने में तो जीव अब लगभग भूल नहीं करता ।

बोधि की गैरहाजिरी में मिथ्यादृष्टि आत्मा को ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से बहुत से विषयों का विशाल ज्ञान हो सकता है । विविध विषयों की वह सुन्दर व्याख्या कर सकता है, तो भी उसका ज्ञान आत्मा के लिए हितकर नहीं बनता, इसलिए आत्मिक दृष्टि से उससे कोई लाभ नहीं होता । वह ज्ञान मृगजल की तरह मिथ्या होता है, जब कि सम्यग्दृष्टि को तो आत्मा का संवेदन होने से अपने हित-अहित का संपूर्ण ज्ञान होता है । जैसे नन्हा बालक भले ही विशेष कुछ न जानता हो, तो भी खुद पर होनेवाले सुख-दुःख के संवेदनों का वह बराबर अनुभव करता है । भूल से भी अग्नि में हाथ जाने पर दुःख का संवेदन होने से बालक रोने लगता है । इस तरह गहरी समझ न होने पर भी जिस प्रकार बालक अपने सुख-दुःख का अनुभव कर सकता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा को शास्त्र की गहरी समझ न होने पर भी अपने हिताहित का वेदन करने में, आत्मभावों का विवेक करने में, उसकी बुद्धि अत्यंत कुशाग्र होती है । स्व में प्रकट हुए विवेक के कारण सम्यग्दृष्टि आत्मा हेय को हेय के तरीके से एवं उपादेय को उपादेय तरीके से, आत्मा के लिए हितकर वस्तु को हितकर तरीके से एवं अहितकर को अहितकर के रूप में मानती है, स्वीकार करती है एवं अनुभव करती है । यह विवेक ही बोधि है । अभयादि भावों की तरह बोधि का परिणाम भी परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होता है, इसलिए ही परमात्मा को बोधिदाता कहा जाता है ।

### बोधि के पाँच लक्षण :

बोधि की प्राप्ति होते ही आत्मा में सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभावी ऐसा आस्तिक्य नामक गुण प्रगट होता है । आत्मा, पुण्य, पाप, परलोक आदि तत्त्व भगवान ने जिस प्रकार कहे हैं वे उसी प्रकार के हैं, वैसी दृढ़ श्रद्धा **आस्तिक्य** है ।

आत्मा आदि तत्वों के ऊपर श्रद्धा होने से जीव को अन्य जीव भी खुद के जैसे लगते हैं । खुद को जिस सुख-दुःख की अनुभूति होती है, वैसी ही दूसरों को भी होती है, यह बात समझ में आती है । जिससे वह कषायों से ग्रस्त अपनी और अन्य जीवों की बाह्य-अंतरंग पीड़ा एवं व्यथा को समझ सकता है । दूसरों के दुःख देखकर स्वयं भी दुःखी होता है, उसे दूर करना चाहता है । इस प्रकार सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद साधक में स्व-पर के द्रव्य-भाव दुःख देखकर उसे दूर करने की इच्छारूप **अनुकंपा** (दया) का परिणाम प्रकट होता है ।

अनुकंपा से द्रवित हृदयवाला साधक जब संसार की तरफ दृष्टि करता है, तब पूरा संसार और उसकी तमाम प्रवृत्तियाँ उसे स्व-पर की द्रव्य और भाव हिंसा से व्याप्त दिखाई देती हैं, यह देखकर उसे संसार के प्रति तिरस्कार होता है और ऐसे निर्गुण संसार से भाग छूटने की तीव्र इच्छारूप **निर्वेद** का परिणाम प्रकट होता है ।

निर्वेद का परिणाम होने के बाद जीव को अनंतकाल तक जहाँ अपने सुख की प्राप्ति होती है एवं जहाँ कभी हिंसा वगैरह नहीं करनी पड़ती, अपनी तरफ से कभी किसी को दुःख होता नहीं, वैसे मोक्ष की तीव्र अभिलाषा रूप **संवेग** का परिणाम होता है ।

संसार से अतीत मोक्ष की इच्छा होने पर जीव में क्रोधादि कषायों के उपद्रव एवं विषयों की तृष्णा के उपशम रूप **प्रशम** का परिणाम प्रकट होता है।

## बोधिप्राप्ति का क्रम :

अभय की प्राप्ति से लेकर बोधि की प्राप्ति तक के पाँचों भाव एक दूसरे में कार्यकारण रूप हैं; इसीलिए जिस जीव को अभय की प्राप्ति होती है उसके उत्तरोत्तर फलस्वरूप[50] अंतिम बोधि की प्राप्ति भी होती है।

50. योग्यता चाफलप्राप्तेस्तथाक्षयोपशमवृद्धिः, लोकोत्तरभावामृतास्वादरूपा वैमुख्यकारिणी विषयविषाभिलाषस्य । न चेयमपुनर्बन्धकमन्तरेणेति भावनीयम् । लोकोत्तरभावा = विहितौदार्य्यदाक्षिण्यादयः ।

- ललित विस्तार

अपुनर्बंधक दशा में [51]योग की पहली दृष्टि में तत्त्व के प्रति द्वेष दूर होता है, जिसके कारण दूसरी दृष्टि में तत्त्व की जिज्ञासा प्रकट होती है, उसके बल से तीसरी दृष्टि में तत्त्व - अतत्त्व के बीच भेद करने का प्रयत्न होता है, जो चित्त के अवक्रगमनरूप योग की तीसरी दृष्टि है । फिर विविदिषा प्रकट होती है, जो योग की चौथी दृष्टि है । तत्त्व को जानने के प्रबल प्रयत्न से 'भगवान ने जो कहा है, वही सत्य है' ऐसा निर्णय होता है, यही बोधि है, जो तत्त्व की श्रद्धारूप सम्यग्दर्शन है, **विज्ञप्ति** है ।

बोधि की प्राप्ति होने के बाद जीव को दृढ़ निर्णय होता है कि, सर्व कर्मरहित, रागादि उपद्रवों से रहित, ऐसी मेरी खुद की शुद्ध अवस्था है । आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप ही सुखरूप है । उसे प्राप्त करने के लिए सतत रागादि को दूर करने का यत्न करना चाहिए । आत्मा के शुद्ध-सुखमय स्वरूप को पाने का उपाय सर्वज्ञ प्रणीत धर्म है । अरिहंत परमात्मा यही उपाय अपनाकर सिद्ध हुए हैं और उन्होंने यह उपाय हमें भी बताया है । इसलिए अरिहंत के बताए मार्ग पर चलने से ही मुक्ति की प्राप्ति होगी - मैं सुखी हो सकूँगा । सुख संबंधी ऐसी स्पष्ट और निर्मल दृष्टि की प्राप्ति ही बोधि की प्राप्ति स्वरूप है ।

अनादिकाल से संसार में भटकते - भटकते जीव जब अपुनर्बंधक अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसे संसार की वास्तविकता का ज्ञान होने से विषय विष जैसे लगते हैं और तब उसमें अभयादि पाँचों भावों को प्राप्त करने की योग्यता प्रकट होती है । शास्त्र में इस योग्यता को लोकोत्तर अमृत के आस्वाद रूप कहा गया है क्योंकि, जीव इसी अवस्था में विषयों के उपभोग से भिन्न प्रकार के अतीन्द्रिय आंशिक सुख का आस्वाद भी कर सकता है । जैसे कभी भी शांत न होनेवाली प्यास अमृत से छिपती है, उसी प्रकार यहाँ प्राप्त होनेवाला उपशम का सुख जीव की अनादिकालीन असंतुष्ट विषयों की तृष्णा को शांत करता है । इसीलिए शास्त्रकारों ने इस अवस्था को लोकोत्तर

51. पञ्चकमप्येतदपुनर्बन्धकस्य यथोदितस्य, अस्य पुनर्बन्धके स्वरूपेणाभावात् । इतरेतरफलमेतदिति नियमः, अनीदृशस्य तत्त्वायोगात् । नह्यचक्षुष्फलमभयं, चक्षुर्वाऽमार्ग्गफलम्.... इत्यादि ।

- ललित विस्तरा

भावामृत के आस्वाद तुल्य कहा है । यह लोकोत्तर अमृत के आस्वाद तुल्य जो योग्यता है, वह औदार्य आदि गुण स्वरूप है । जीव में अभयादि की योग्यता भी प्रकट हुई है कि नहीं, वह उसके औदार्य, दाक्षिण्य, पापजुगुप्सा, निर्मलबोध एवं जनप्रियत्व[52] गुणों से जाना जा सकता है ।

---

52. **१. औदार्य :** अनादिकालीन तुच्छ वृत्ति का, क्षुद्र वृत्ति का त्याग कर हृदय को विशाल बनाना औदार्य है । मैं और मेरा - इस वृत्ति को त्यागकर सभी को अपना मानना, अपनी सब शक्ति एवं सब सामग्री का सब के लिए सदुपयोग करने की भावना रखनी । सभी के प्रति औचित्यपूर्ण वर्तन करना । बड़ों के प्रति बहुमान, छोटों के प्रति वात्सल्य भाव रखना, दीन-अनाथ या दुःख ग्रस्त जीवों के ऊपर दया रखना । ये सब भाव औदार्यगुण के कारण होते हैं, क्योंकि उदारता गुण प्रगटने से ही अन्य के दुःख का विचार आता है एवं अपने सुख को गौण कर सकते हैं । यह गुण ही रागादि को मंद करके आत्मिक आनंद देता है ।

**२. दाक्षिण्य :** सभी को अनुकूल रहने की भावना दाक्षिण्य है । इस गुण की प्राप्ति के लिए धीरता, स्थिरता, गंभीरता आदि गुणों को प्राप्त करने एवं ईर्ष्या आदि दोषों का त्याग करना ज़रूरी होता है । दूसरें को अनुकूल रहने का परिणाम स्व-इच्छा के आक्रमण को दूर करता है । अपनी इच्छा का सहजता से त्याग करनेवाली आत्मा ही वास्तविक आनंद पा सकती है ।

**३. पापजुगुप्सा :** पाप के प्रति तिरस्कार अज्ञानादि दोषों के कारण कहीं भी पाप का सेवन हुआ हो, पूर्व भव में या इस भव में जो जो पाप किए हों, उन सब पापों का अंतःकरणपूर्वक प्रायश्चित्त करना पापजुगुप्सा है । यह पापजुगुप्सा का परिणाम लोकोत्तर भावामृत है, क्योंकि वह पापवृत्ति एवं पापप्रवृत्ति से आत्मा को दूर रखती है । पापवृत्ति एवं पापप्रवृत्ति अटकने से कर्मों का संवर तथा नाश होता है एवं आत्मा लोकोत्तर कोटि के गुणों का आनंद पा सकती है ।

**४. निर्मलबोध :** स्वच्छ बोध । जो बोध दुःखकारक विषयों से दूर रखकर सुखकारक शास्त्र की ओर प्रवृत्ति करवाएँ, वह निर्मल बोध है । बोध निर्मल होने पर शास्त्र को जानने की जिज्ञासा जागृत होती है, शास्त्रज्ञ के पास जाने का मन होता है, शास्त्र श्रवण करके उस पर गहरा चिंतन होता है, सूक्ष्म सूक्ष्मतर तत्त्व का ज्ञान होता है जिसके कारण मिथ्यात्वादि कर्म शिथिल होते हैं, क्रोधादि कषाय शांत होते हैं, सम्यक्त्वादि गुण प्रगट होते हैं एवं उसी से निर्मल बोधवाली आत्मा लोकोत्तर आनंद को पा सकती है ।

**५. जनप्रियत्व :** लोक को प्रिय होना । लोकचाहना पाना जनप्रियत्व है, परन्तु ये जनप्रियत्व निर्दोष होना चाहिए, किसी भी प्रकार के आशंसादि दोष से रहित होना चाहिए, मात्र आत्म कल्याण की भावना से किया हुआ औचित्यपूर्ण वर्तन अनेकों की प्रीति का कारण बनता है । इस गुणवाली आत्मा के अनुष्ठान, उसकी प्रत्येक क्रिया अनेक जीवों को धर्म की तरफ़ प्रेरित करती है, धर्म बीज का आधान करती है एवं खुद में भी धर्मभाव की वृद्धि करवाकर अंत में मोक्ष तक पहुँचाती है ।

अभयादि भावों की प्राप्ति की योग्यता रूप ये औदार्यादि गुण संसार की निर्गुणता के भानपूर्वक होते हैं इसीलिए ये औदार्यादि गुण धीरे-धीरे वैषयिक सुख की आसक्ति को घटाकर, वैराग्यादि गुणों को प्रकट करके, विशिष्ट प्रकार के चारित्रादि गुणों को प्राप्त करवाकर आत्मिक आनंद का अनुभव करवाते हैं ।

यह पद बोलते ही कल्याण के अद्वितीय कारणभूत सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करवानेवाले अरिहंत परमात्मा को दृष्टि के समक्ष लाकर, उनके इन महान उपकार को याद करके, अंतर के भावों से नमस्कार करके परमात्मा के पास प्रार्थना करें कि -

*"हे क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी ! अनादि मिथ्यात्व का संपूर्ण नाश करवाकर आप मुझे में भी क्षायिक भाव का सम्यग्दर्शन प्राप्त करवाएँ ।"*

**अभयादि भावों का विविध प्रकार से विचार :**

आत्मिक विकास के लिए अभयादि पाँचों पद अति महत्त्वपूर्ण हैं । तात्त्विक धर्म प्राप्ति के ये पाँच सोपान हैं, इसलिए इन पाँच भावों को यथार्थ रूप में समझकर मुमुक्षु आत्मा को प्राथमिक कक्षा में इन पाँचों भावों की प्राप्ति के लिए ही यत्न करना चाहिए; क्योंकि इन पाँच भावों की प्राप्ति के बिना वास्तविक धर्म का प्रारंभ ही नहीं हो सकता ।

सांख्यमत के महर्षि गोपेन्द्र आदि के अनुसार ये पाँच भाव निम्नवत् हैं - धृति, श्रद्धा, सुखा, विविदिषा एवं विज्ञप्ति। वे भी ऐसी मान्यता रखते हैं कि, निवृत्तप्रकृति अधिकारवाले[53] पुरुष को ही ये भाव होते हैं।

पृष्ट १२२ पर दी गई सारणी में इनको समझने के लिए इनके अलग अलग स्वरूप देख सकते हैं।

53. **निवृत्त - प्रकृत्ति-अधिकार** अर्थात् कर्म प्रकृत्ति का अधिकार जिस पुरुष के ऊपर से मंद हो गया हो, अर्थात् कर्म अब पुरुष का पराभव नहीं कर सकता हो। कर्म के आधीन होकर जो पुरुष नहीं चलता ऐसे पुरुष को ही इन भावों की प्राप्ति होती है, वैसा वे मानते हैं, जो हमें भी मान्य है।

| पद | अभय | चक्षु | मार्ग | शरण | बोधि |
|---|---|---|---|---|---|
| स्वरूप | ● भय की निवृत्ति<br>● चित्त की स्वस्थता<br>● भव का निर्वेद<br>● भगवद् बहुमान | ● धर्म की रुचिरूप श्रद्धा<br>● धर्म प्रशंसा<br>● धर्मकरण अभिलाषा<br>● मार्ग का दर्शन | ● मोक्षमार्ग पर गमन<br>● चित्त की अवक्रता<br>● स्वरसवाहिता<br>● विशिष्ट गुणों की प्राप्ति करवाए वैसा क्षयोपशम | ● उपशम सुख की प्राप्ति<br>● बुद्धि के ८ गुणों का विकास<br>● विशिष्ट तत्त्व चिंतन<br>● ग्रंथिभेद | ● हेय-उपादेय का पूर्ण विवेक<br>● वेद्य-संवेद्य पद की प्राप्ति<br>● सम्यग्प्रकार से तत्त्व का दर्शन<br>● आस्तिक्यादि गुणों की प्राप्ति |
| गुण | तत्त्व अद्वेष | तत्त्व जिज्ञासा | तत्त्व शुश्रूषा | तत्त्व श्रवण | तत्त्व-अभिनिवेश |
| दृष्टि | मित्रा | तारा | बला | दीप्रा | स्थिरा |
| बोध | सामान्य बोध | थोड़ा बोध | बलवान बोध | तीव्र बोध | स्थिर बोध |
| किसके जैसा | तृणाग्नि के जैसा | गोबर की अग्नि जैसा | काष्ठाग्नि जैसा | दीपक जैसा | रत्न दीपक जैसा |
| अन्य मत से | धृति | श्रद्धा | सुखा | विविदिषा | विज्ञप्ति |

इस प्रकार हमने जाना कि अभय से लेकर बोधि की प्राप्ति करवाने स्वरूप प्रभु ने हमारे ऊपर श्रुतधर्म के प्रदान स्वरूप क्या क्या उपकार किये हैं । श्रुतधर्म की अपेक्षा चारित्र धर्म विशेषधर्म है । चारित्रधर्म की प्राप्ति करवाने के द्वारा भगवान विशेषरूप से क्या उपकार करते हैं, यह आगे के पाँच पदों में बताते हैं जो छट्ठी **'विशेष उपयोग संपदा'** है।

**धम्मदयाणं (नमोऽत्थु णं) -** धर्म को देनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो)

धर्म से यहाँ चारित्रधर्म के प्रदाता परमात्मा को नमस्कार किया जाता है। भगवान चारित्रधर्म के दाता हैं, ऐसा सुनने पर प्रश्न होता है कि, चारित्र तो अंतरंग परिणाम (आत्मिक भावरूप) है एवं अंतरंग परिणाम का प्रदान हो नहीं सकता तो फिर परमात्मा चारित्र का प्रदान कैसे करते हैं ? वास्तव में प्रभु सर्वप्रथम भव्यात्मा में तात्त्विक कोटि के धर्मश्रवण की योग्यता उत्पन्न करते हैं । (यह योग्यता भी गुणवान परमात्मा के प्रति बहुमान से ही प्रगट होती है ।) इसके बाद देशना द्वारा भव्यात्मा को संसार का वैराग्य पैदा करवाकर परमात्मा उसे चारित्रधर्म प्रदान करते हैं । चारित्र ही वास्तविक धर्म है । देश-चारित्र एवं सर्व चारित्र के भेद से यह तात्त्विककोटि का धर्म दो प्रकार का है ।

श्रेष्ठ कोटि का चारित्रधर्म आत्मा की सर्वथा मोहरहित अवस्था स्वरूप है। सर्वथा मोहरहित आत्मा का परिणाम, निष्पाप प्रवृत्ति से प्राप्त होता है एवं निष्पाप प्रवृत्ति भगवान के बताए हुए समिति-गुप्ति आदि रूप क्रिया कलाप से प्राप्त होती है । इस क्रिया-कलाप के लिए साधुवेश अत्यंत ज़रूरी है । इसीलिए साधुवेश के परिधानपूर्वक समिति-गुप्ति के पालन द्वारा सर्वथा मोहरहित होने का अंतरंग यत्न ही श्रमणधर्म या **सर्वचारित्र** है । इस जगत में धर्म तो बहुत हैं, परन्तु सूक्ष्म प्रकार से हिंसादि पापों से निवर्तन स्वरूप चारित्रधर्म तो सर्वज्ञ के शासन के अलावा कहीं नहीं बताया गया ।

यह श्रमणधर्म कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होनेवाला आत्मा का शुद्ध परिणाम है, जो किसी भी जीव को पीड़ा नहीं देने के परिणाम स्वरूप है । इसलिए शास्त्र में इसे 'सकलसत्त्वहिताशयवृत्ति' (जीव मात्र का हित करने की भावना) स्वरुप अमृत कहा है । छोटे से छोटे जीव को भी पीड़ा न हो, उसकी आत्मा का अहित न हो, इसकी संपूर्ण सावधानी साधु जीवन में हमेशा रखी जाती है । इसीलिए ऐसा जीवन साधक का हित करके अमरण अवस्था स्वरूप मोक्ष का साक्षात् कारण बनता है । अमरण अवस्था की प्राप्ति अमृत से होती है, अतः साधुता के भाव का परिचय देते हुए उसे अमृत तुल्य कहा गया है ।

[54]साधुधर्म की तीव्र इच्छा होने पर भी जब तक यह स्वीकार करने की शक्ति न आए, तब तक उस शक्ति को प्रकट करने के लिए अणुव्रत से (छोटे से छोटे व्रत से) लेकर श्रावक की ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा तक की सर्व साधना **श्रावकधर्म**[55] है अर्थात् ये श्रावकधर्म भी साधुधर्म के स्वीकार की भावनापूर्वक छोटे-छोटे व्रतों में किए हुए यत्न से प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं।

यद्यपि ऐसे श्रेष्ठ कोटि के धर्म की प्राप्ति में मनुष्यजन्म, सद्गुरु का संयोग, स्वयोग्यता आदि कारण तो जरूर कार्य करते हैं, लेकिन उन सब कारणों में महत्त्वपूर्ण कारण है, धर्मश्रवण की योग्यता । धर्मश्रवण की योग्यता के बिना मात्र गुरू-संयोगादि चारित्रधर्म तक नहीं पहुँचा सकते एवं **यह धर्मश्रवण की योग्यता भवनिर्वेद में से प्रकट हुए भगवान के बहुमान से प्राप्त होती है,** इसलिए भगवान चारित्रधर्म के दाता कहलाते हैं ।

यह पद बोलते समय चारित्रधर्म के दाता परमात्मा का स्मरण करके, उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञ भाव प्रकट करके नमस्कार करते हुए प्रार्थना करें कि -

---

54 साधुधर्म्माः पुनः सामायिकादिगतविशुद्धक्रियाभिव्यङ्ग्यः सकलसत्त्वहिताशयामृतलक्षणः स्वपरिणामएव ।। - ललित विस्तरा

55. श्रावकधर्म्मोऽणुव्रताद्युपासकप्रतिमागतक्रियासाध्यः साधुधर्म्माभिलाषातिशयरूपः आत्मपरिणामः । - ललित विस्तरा

*'हे नाथ ! आपने तो जगत् को उच्चत्तम चारित्रधर्म का प्रदान किया है। आपको किया हुआ यह नमस्कार मुझमें भी चारित्रधर्म की योग्यता को प्रकट करें।'*

भगवान चारित्रधर्म देते हैं, यह पूर्व पद में देखा । अब प्रभु हमें चारित्र-धर्म को कैसे प्रदान करते हैं, वह इस पद द्वारा देखें -

**धम्मदेसयाणं (नमोऽत्थु णं) -** धर्मदेशक परमात्माओं को (मेरा नमस्कार हो) ।

संसार की असारता को समझाकर चारित्रधर्म की प्राप्ति के योग्य देशना देनेवाले परमात्मा को इस पद द्वारा नमस्कार किया जाता है ।

अनंतकाल से जीव संसार में मशगूल रहा है । उसे कभी संसार को याने विषयों और कषायों को त्याग करने का मन भी नहीं होता, क्योंकि उसे पौद्गलिक सुख ही अच्छे लगते हैं । उसकी भयंकरता का उसे आभास नहीं होता । इसलिए परमात्मा सर्वप्रथम धर्मदेशना में यह संसार आत्मा के लिए कितना अहितकर-भयंकर है, उससे जीव किस तरह से दुःखी होता है वगैरह समझाकर भव्यात्माओं को संसार से विमुख करते हैं ।

ऐसी आत्मा को परमात्मा कहते हैं -

*'हे भव्यात्मन् ! तुझे प्राप्त हुआ ये मनुष्यभव कितना दुर्लभ है, उसका विचार कर । ऐसे दुर्लभ मनुष्यभव को प्राप्त करके परलोक प्रधान धर्म की साधना करने में ही श्रेय है । धर्म की साधना किए बिना इस दुःखपूर्ण संसार का अंत सम्भव नहीं है । ऐसी धर्मसाधना करने के लिए तू सत्शास्त्र का अभ्यास कर । शास्त्रज्ञों के पास जाकर शास्त्र के मर्म को समझ । शास्त्र के मर्म को समझकर अपने चित्त को अनित्यादि भावों से भावित कर । अनित्य भाव को समझने के लिए तु पुष्पमाला एवं घट के दृष्टांत का विचार कर । १००० रु. की पुष्पमाला शाम को मुरझाने पर तुझे खेद नहीं होता, परन्तु १० रु. का घड़ा टूटने पर तू दुःखी हो जाता है क्योंकि पुष्पमाला शाम को मुरझा जाएगी, यह पहले से स्वीकार किया हुआ था एवं*

*घड़े का नाश तत्काल होनेवाला है, इस बात का स्वीकार पहले से नहीं किया था, इसलिए तू दुःखी होता है। संसार के सब भाव नश्वर हैं, तो भी उनका अस्वीकार ही मुझे दुःखी करता है, इस बात का बार बार विचार कर! जिससे नश्वर संसार तुझे चिंतित न करे एवं तू कभी दुःखी न हो ।'*

*यदि इस संसार की अनित्यता तुझे समझ में आ जाए, तो तेरी बहुत सी निरर्थक अपेक्षाओं का अंत आ जाएगा । अपेक्षाएँ कम होने से तुझे व्याकुल करनेवाली उत्सुकताएँ भी शांत हो जाएँगी । उत्सुकता के शमन से तुझ में स्थिरता आएगी एवं स्थिरता आने से तू परम आनंद को प्राप्त कर सकेगा । हे आत्मन् ! जब तक तेरी निरर्थक अपेक्षाएँ न घटें, तब तक तू भगवान की आज्ञा की अपेक्षा रख ! क्योंकि 'धम्मो जिणाणमाणा' जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा ही धर्म है । भगवान की आज्ञानुसार क्षमादि गुणों को प्रकट करने का प्रयत्न कर। क्षमादि गुण जिससे प्राप्त हों, वैसी ही क्रिया में रुचिपूर्वक भाग लें । जिस क्रिया से दोष का पोषण हो एवं गुण का शोषण हो, वैसी क्रिया से तू दूर रह।*

*हे भव्यजीव ! दुरंत संसार का सृजन हो, वैसे प्रवचन के मालिन्य से तू दूर रह । तेरी एक भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जिससे तीर्थंकर या तीर्थंकर के बताए हुए धर्म की निंदा हो। तेरे निमित्त से निर्ग्रंथ गुरु भगवंतों के प्रति किसी को लेश मात्र भी द्वेष न हो, तुझसे कुछ अनुचित न हो जाए इसलिए तू ज्ञानी पुरुष की निश्रा में रह। अपने आत्मभावों को सदा देखता रह। आत्मभाव प्राप्त करने के लिए तू संयम के योग का सतत सेवन कर। ज्ञानी पुरुष के पास शास्त्र सुन, उसका चिंतन कर, सतत उसका परिशीलन कर । संयम की साधना करते समय कभी अरति आदि भाव हो तो सद्गुरु के शरण का स्वीकार कर, शास्त्र वचन रूप मंत्रों का जाप कर । विविध प्रकार के तपरूप औषध का तु आसेवन कर । इससे तेरे क्लिष्ट कर्मों का विनाश होगा, तेरी आत्मा निर्मल होगी एवं तु शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकेगा ।'*

इस प्रकार भवविरक्त आत्मा को भगवान चारित्रधर्म की उत्तरोत्तर अवस्था एवं उसके फल का दर्शन करवाकर चारित्रधर्म को प्राप्त करवानेवाला उपदेश देते हैं।

यह पद बोलते हुए धर्मदेशना देकर जगत के ऊपर महान उपकार करनेवाले परमात्मा को स्मृतिपट पर लाकर, उनके प्रति अत्यंत कृतज्ञभाव से चित्त को वासित करके नमस्कार करते हुए प्रार्थना करें -

*"हे नाथ ! बहुमानपूर्वक किया हुआ यह नमस्कार हममें जीवनभर आपके वचनानुसार जीने का सामर्थ्य दें ।"*

देशना द्वारा भगवान ही चारित्रधर्म के प्रदाता हैं, ऐसा कहने का क्या कारण है यह बताते हैं -

**धम्मनायगाणं (नमोऽत्थु णं)** - चारित्रधर्म के नायक परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

परमात्मा श्रेष्ठ कोटि के चारित्रधर्म के नायक हैं, इसीलिए वे देशना द्वारा अन्य को चारित्रधर्म देनेवाले कहलाते हैं ।

किसी भी वस्तु के दान में वही व्यक्ति समर्थ बनता है, जो उस वस्तु का स्वामी-नायक हो । इस जगत् में धर्म करनेवाली आत्माएँ तो बहुत हैं, परन्तु चारित्रधर्म के स्वामी या नायक कहा जा सके ऐसे तो मात्र अरिहंत भगवान ही हैं, क्योंकि नायक बनने के योग्य जो गुण होने चाहिएं वे गुण तो अरिहंतों में ही होते हैं । इसीलिए चारित्रधर्म के नायक परमात्मा ही चारित्रधर्म के प्रदाता हैं; ऐसा कहना यथार्थ है ।

नायक के मुख्य चार गुण होते हैं, वे इस प्रकार हैं-

**१. वशीकरण :** जिसका जो मालिक हो, उसको वह वस्तु संपूर्ण तया वश होनी चाहिए।

**२. उत्तम की प्राप्ति :** वस्तु के मालिक को मिली हुई वस्तु भी सामान्य नहीं होनी चाहिए, परंतु श्रेष्ठ कोटि की होनी चाहिए ।

**३. फल का भोक्ता :** वस्तु का मालिक प्राप्त वस्तु के फ़ल का भोक्ता भी होना चाहिए ।

**४. विघ्नाभाव :** नायक को वस्तु के उपभोग में किसी भी प्रकार का विघ्न न आए, तो ही वह सच्चे अर्थ में उसका नायक माना जाता है ।

सामान्य से स्त्री, संपत्ति आदि के नायक तो बहुत होते हैं, तो भी ये स्त्री या संपत्ति का यह मालिक है, वैसा बहुमान के साथ तब ही कह सकते हैं, जब वह स्त्री या संपत्ति उसके वश में हो । इसके उपरांत वह स्त्री या संपत्ति सामान्य नहीं, परन्तु श्रेष्ठ कोटि की प्राप्त हुई हो । उस स्त्री या संपत्ति के उपभोग का सुख वह अनुभव कर सकता हो । अकाल में उस संपत्ति का विनाश न हो, एवं उसके उपभोग में किसी प्रकार का विघ्न न आए, उसी प्रकार धर्म का नायक भी उसे ही कहते हैं जिन्हें -

१. धर्म वश में हो अर्थात् धर्म जिसको आत्मसात् हुआ हो ।

२. वह धर्म सामान्य नहीं, परन्तु विशिष्ट कोटि का प्राप्त हुआ हो ।

३. वे पूर्णतया धर्म के फल का उपभोग कर सकते हो ।

४. उनको प्राप्त हुए धर्म में कभी भी विघ्न न आता हो ।

**१. वशीकरण :** कोई भी वस्तु वश में तब होती है, जब उसे विधिपूर्वक ग्रहण किया जाए । भगवान ने संपूर्ण विधिपूर्वक संयम जीवन का स्वीकार किया था । उन्होंने संयम के पूर्व या पश्चात् योग्य समय पर अपने औचित्य का पूर्णतया पालन करके संयम जीवन को वहन किया और संयमजीवन ग्रहण करने के बाद भी उसमें कोई दोष (अतिचार) न लग जाए, उसकी पूर्ण सावधानी रखी। खुद को संपूर्ण संयम आत्मसात् होने के बाद (फल मिलने के बाद) उन्होंने योग्य आत्माओं को उसका प्रदान किया है। इसके अलावा, जब-जब अन्य को प्रदान करना हो, तब अन्य मुनियों की तरह, उन्हें किसी के वचन की अपेक्षा नहीं रखनी पड़ती है, इसलिए परमार्थ से धर्म परमात्मा के वश में है ।

**२. उत्तम धर्म की प्राप्ति :** चारित्र के असंख्य प्रकार हैं । उन सब प्रकारों में से परमात्मा ने श्रेष्ठ ऐसा क्षायिक भाव का (यथाख्यात) चारित्र प्राप्त किया। यद्यपि सामान्य केवली को भी यही चारित्र प्राप्त होता है, तो भी

विशिष्ट प्रकार के तथाभव्यत्व के कारण तीर्थंकर की आत्मा में इतना विशेष है कि, वे इस चारित्र को पाकर विशिष्ट कोटि का परार्थ कर सकते हैं । पशु-पक्षी जैसे हीन योनी वाले प्राणियों को भी वे धर्म दे सकते हैं ।

**३. उत्कृष्ट फल का भोक्ता :** उत्कृष्ट धर्माराधना के फल स्वरूप तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से प्राप्त हुए अष्टप्रातिहार्य आदि समृद्धि, वाणी के ३५ गुण, विशिष्ट कोटि के रूप, यश आदि समृद्धि का उपभोग तीर्थंकर करते हैं । इस सर्वोत्तम ऋद्धि की प्राप्ति देवों के लिए भी असंभव है, इसलिए परमात्मा ही सच्चे अर्थ में धर्म के नायक हैं ।

**४. धर्म में विघात का अभाव :** परमात्मा ने उत्तम धर्मसाधना करके अवश्य फल देनेवाला सर्वश्रेष्ठ पुण्यबंध, एवं पापकर्मों का सर्वथा नाश किया, जिसके कारण विघ्न करनेवाला कोई तत्त्व ही नहीं रहा । फल स्वरूप उनमें धर्म के विघात का अभाव है । इसलिए वे ही धर्म के नायक हैं । इन १-१ हेतु के अवांतर ४-४ कारण[56] ललित विस्तरा में दिये हैं।

यह पद बोलते समय सर्वश्रेष्ठ संयम के स्वामी अरिहंत परमात्मा को याद करके हृदय के भाव से परमात्मा को प्रणाम करके प्रार्थना करें कि -

*'हे नाथ ! आपको किया हुआ यह नमस्कार हमें भी श्रेष्ठ चारित्र का स्वामी बनाएँ ।'*

धर्म के नायक भी अगर धर्मरथ के सारथी न बनें, तो वे चारित्रधर्म में अन्य का प्रवर्तन नहीं करवा सकते, इसलिए अब उसका विवेचन करते हुए कहते हैं -

---

56. मूलहेतु प्रत्येक के ४-४ अवांतर हेतु

**१. धर्मवशीकरण -** विधि समासादन[१] - निरतिचार पालन[२] - यथोचित दान[३], अपेक्षाऽभाव[४]

**२. उत्तमधर्मप्राप्ति -** क्षायिक धर्मप्राप्ति[१]-परार्थसंपादन[२]-हीनेऽपि प्रवृत्ति[३]-तथाभव्यत्त्व[४]

**३. धर्मफलयोग -** सकल सौन्दर्य[१] - प्रातिहार्ययोग[२] - उदारर्द्धयनुभव[३] - तदाधिपत्यं[४]

**४. धर्मघाताभाव -** अवन्ध्य पुण्यबीजत्व[१]-अधिकानुपपति[२]-पापक्षयभाव[३]-अहेतुकविधाता सिद्धि

**धम्म-सारहीणं (नमोऽत्थु णं)** - चारित्रधर्म के सारथी परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

जो रथ का सम्यक् प्रकार से प्रवर्तन, पालन एवं दमन (नियंत्रण) करता है, वह रथ का सारथी कहलाता है, वैसे ही जो स्व में एवं पर में संयमधर्म का प्रवर्तन, पालन एवं दमन करता है, वह संयमरथ का सारथी कहलाता है । अरिहंत भगवंत अपने में एवं अन्य में श्रेष्ठ कोटि के चारित्रधर्म का प्रवर्तन, पालन एवं दमन कर सकते हैं, इसलिए वे चारित्रधर्म के सारथी कहलाते हैं। परमात्मा सारथी बनकर धर्मरूपी रथ का प्रवर्तन, पालन एवं दमन किस तरह करते हैं, वह देखें -

**प्रवर्तन :** भगवान चारित्र का सम्यग् प्रवर्तन कर सकते हैं, उसका मूल कारण है उनका विशेष प्रकार का तथाभव्यत्व । ऐसा विशिष्ट तथाभव्यत्व जब नजदीक में ही मोक्ष प्राप्त करवानेवाला बनता है, तब परमात्मा की आत्मा आत्मभाव के अभिमुख बनती है, जिसके कारण वे अपुनर्बंधक अवस्था को प्राप्त करते हैं । यहीं से तात्त्विक धर्म की शुरुआत होती है। धर्ममार्ग में उत्तरोत्तर सम्यग् यत्न बढने से सच्चारित्र मार्ग में प्रवृत्ति करवानेवाला सम्यग् ज्ञान प्रकट होता है । ज्ञान से विरति की प्राप्ति होती है । विरतिधर्म के पालन से मोह का विनाश होता है एवं मोह के विनाश से प्रभु को क्षायिकभाव का चारित्र प्राप्त होता है, जो आत्मा का मूलभूत स्वभाव है। यह भाव प्राप्त होने पर परमात्मा अपनी आत्मा को संयमधर्म में उपादानभाव से प्रवृत्त करते हैं एवं अन्य की आत्मा को उपदेशादि द्वारा निमित्तभाव से संयममार्ग में जोड़ते हैं ।

**पालन :** जैसे रथ के सम्यग् प्रवर्तन का मूल कारण उसके अंगभूत अश्वादि का सम्यग् प्रकार से पालन/पोषण वगैरह है, वैसे ही अंतरंग भावचारित्र के प्रवर्तन का मूल कारण उसके अंगभूत महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि बाह्य क्रियाओं का सम्यग् पालन है । परमात्मा भावचारित्र के कारणभूत समिति, गुप्ति एवं महाव्रतों का यथायोग्य पालन करते हैं एवं

उपदेशादि द्वारा अन्य को भी उन-उन क्रियाओं में प्रवर्तन करवाते हैं । इस तरह संयम के अंगों का योग्यपालन करते एवं करवाते हुए प्रभु वास्तविक अर्थ में धर्म के सारथी हैं ।

**दमन :** रथ का पालन और प्रवर्तन करने के अलावा सारथि गलत मार्ग पर जाते हुए अश्वों का नियंत्रण करके, उन्हें सही मार्ग पर ले जाता है, उसी प्रकार आत्मधर्म से उन्मुख जाती इन्द्रियों एवं मन को बाह्य भावों से हटाकर उनको आत्मभाव में स्थिर करवानेवाले परमात्मा को धर्मरथ का सारथी कहते हैं । वरबोधि की प्राप्ति के बाद परमात्मा आत्मधर्म से विपरीत दौड़ते हुए मन एवं इन्द्रियों को रोककर आत्मधर्म के अभिमुख प्रवृत्त करते हैं तथा मन एवं इन्द्रियों के निग्रह में विघ्न करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्म का नाश करके अंत में यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार वे इन्द्रिय आदि का दमन करनेवाले हैं और उपदेश द्वारा अन्य के मन-इन्द्रियों आदि का दमन करवानेवाले भी हैं ।

प्रवर्तन, पालन एवं दमन के योग से परमात्मा ही धर्म के सारथी हैं । यद्यपि दूसरी आत्माएँ भी चारित्रधर्म में प्रवर्तन, पालन एवं दमन तो करती हैं, तो भी धर्म के सारथी तो तीर्थंकर ही कहलाते हैं, क्योंकि वे खुद चारित्रधर्म में सक्रिय रहते हैं एवं अनेक आत्माओं को उपदेश द्वारा चारित्रधर्म में सक्रिय करते हैं ।

धर्म रथ के श्रेष्ठ सारथी परमात्मा को प्रणाम करते हुए प्रार्थना करें कि -

*"हे नाथ ! आप हमारे धर्मरथ के सारथी बनकर हमें शीघ्र मोक्ष तक पहुँचाएँ । लौकिक व्यवहार में जिस प्रकार कहते हैं कि, श्री कृष्ण जिसके सारथी बनते हैं उनकी विजय में कोई शंका नहीं रहती। उसी तरह हे नाथ ! आप यदि मेरे धर्मसारथी बनेंगे तो भवपार करने में मुझे कोई शंका ही नहीं रहेगी।"*

**धम्म-वर-चाउरन्त-चक्कवट्टीणं (नमोऽत्थु णं) -** धर्म के श्रेष्ठ चातुरंत चक्रवर्ती ऐसे परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

चारित्रधर्म ही श्रेष्ठ चक्र है । चक्रवर्ती का चक्ररत्न जिस प्रकार शत्रु का विनाश करके, चक्रवर्ती को छः खंड का स्वामी बनाने में सहायक बनता है, उसी प्रकार चारित्रधर्म भी अंतरंग शत्रुओं का विनाश करके, चार गति के परिभ्रमण की पराधीनता दूर करके आत्मा को अनंत ज्ञानादि गुण संपत्ति का स्वामी बनाता है । इसलिए परमात्मा चारों गतियों का अंत करनेवाले चातुरंत चक्रवर्ती कहलाते हैं ।

यद्यपि चार गतियाँ तो शाश्वती हैं, नित्य रहनेवाली हैं, तो भी जिनके अंतर में चारित्रधर्म का परिणाम प्रकट होता है, वह आत्मा चार गतियों से बाहर निकल जाती है, इस प्रकार से वह आत्मा चार गतियों का अंत करनेवाली होती है ।

चक्रवर्ती का चक्र तो इस लोक में और वह भी पुण्य हो, तब तक ही साथ रहता है एवं अविवेकी आत्माओं के लिए परलोक में वह नरकादि दुर्गति के भयंकर दुःखों का कारण बनता है। चक्री का चक्र द्रव्य-भाव प्राण का घातक है, जब कि धर्मचक्र उभयप्राण का रक्षण करनेवाला है । धर्मरूपी चक्ररत्न इस लोक में भी सुख देता है एवं परलोक में भी सद्गति की परंपरा का सर्जन करके अंत में मोक्ष के अनंत सुखों को प्राप्त करवाता है । इसलिए चारित्रधर्म ही श्रेष्ठ चक्र है ।

यह चारित्रधर्म ही श्रेष्ठ है, क्योंकि यह त्रिकोटि परिशुद्ध है अर्थात् चारित्र के आद्य भाग, मध्य भाग एवं अंतिम भाग, तीनों भाग अविसंवादि हैं अथवा कष, छेद एवं ताप रूप त्रिकोटि से परिशुद्ध[57] हैं । धर्म का आद्य भाग

57 त्रिकोटि परिशुद्ध याने कष-छेद-ताप परीक्षा से शुद्ध :

**(अ) कष-परीक्षा शुद्ध :** यह सुवर्ण असली है या नकली, उसके निश्चय के लिए उसे कसौटी के पत्थर के ऊपर घिसा जाता है । यदि योग्य रेखा आए, तो उस सुवर्ण को कष परीक्षा में शुद्ध गिना जाता है । वैसे ही जिन धर्मशास्त्रों में हिंसा, झूठ आदि पापस्थानों का निषेध और ध्यान, स्वाध्याय, तप आदि सत्क्रिया का विधान मिले उन शास्त्रों को कष-परीक्षा से शुद्ध शास्त्र कहते हैं ।

**(ब) छेद-परीक्षा शुद्ध :** जैसे सोने की ज्यादा परीक्षा के लिए उसे छीनी से काटा जाता है और

अर्थात् अपुनर्बंधक अवस्था, इस दशा में स्वीकार की हुई द्रव्य विरति भी कल्याण का कारण बनती है । धर्म का मध्यम भाग अर्थात् सम्यग्दर्शन की अवस्था, इस अवस्था के काल में स्वीकार किए हुए व्रत-नियम भी आत्मशुद्धि का कारण बनते हैं एवं धर्म का अंतिम भाग अर्थात् - सर्व संवरभाव का चारित्र वह तो अवश्य मोक्ष का कारण बनता है, इसलिए, यह धर्मरूप चक्र ही जगत में श्रेष्ठ है एवं इस श्रेष्ठ चक्र को धारण करनेवाले परमात्मा ही श्रेष्ठ चातुरंग-चक्रवर्ती हैं ।

इसके अलावा, इन चार गतियों का अंत दान, शील, तप एवं भावरूप चार प्रकार के धर्म से भी होता है। तात्त्विक कोटि के दानधर्म से ही धनादि की महामूर्च्छारूप अति रौद्र महामिथ्यात्व का नाश होता है । शील के पालन से संयम गुण प्रकट होते ही अविरति जनित कर्मों का रोध होता है । तपधर्म से मन एवं इन्द्रियों का संयम होने से कर्म का नाश होता है एवं भावधर्म के पालन से परभाव-पौद्गलिक भाव दूर होने पर आत्मभाव में स्थिरता आती है । इस तरह चार प्रकार के धर्म द्वारा अंतरंग शत्रुओं का विनाश होता है । ऐसे श्रेष्ठ दान, शील, तप एवं भाव धर्म के स्वामी परमात्मा ही श्रेष्ठ धर्म के परमोत्कृष्ट चक्रवर्ती हैं ।

यह पद बोलते हुए श्रेष्ठ धर्मरूपी चक्र द्वारा चारों गतियों का नाश करनेवाले परमात्मा को हृदयस्थ करके प्रणाम करते हुए प्रार्थना करें कि -

*"हे नाथ ! आपको किए हुए इस नमस्कार से हम भी इस श्रेष्ठ*

---

काटने पर अंदर से भी अगर वह शुद्ध हो, तो उसे छेद-परीक्षा में उत्तीर्ण कहा जाता है; वैसे जिस शास्त्र में बताए गए बाह्य आचार-अनुष्ठान उसमें बताए गए विधि-निषेध के अनुकूल हों, वह शास्त्र छेद-परीक्षा शुद्ध कहलाते हैं ।

**(क) ताप-परीक्षा-शुद्ध :** जैसे संपूर्ण शुद्धि जानने के लिए अग्नि के ताप में पिघालने से अगर सोना थोड़ा भी न बदले परन्तु ज्यादा तेजस्वी बने, तो सोना ताप-परीक्षा में शुद्ध कहलाता है। वैसे ही जो धर्म में पूर्वोक्त दोनों शुद्धि के साथ जीवादि-तत्त्व इस प्रकार कहे हों कि जिनके कारण बंध-मोक्ष आदि यथार्थ तरीके से संगत हो सके, वहधर्म शास्त्र ताप-परीक्षा में शुद्ध कहलाता हैं । जो धर्म इन तीनों परीक्षा से शुद्ध हो, वहीं सच्चा धर्म कहलाता है ।

*चारित्र धर्म रूपी चक्र के स्वामी बनकर चारों गतियों का अंत करनेवाले बनें ।"*

चारित्रधर्म का प्रदान करने द्वारा विशेष उपकार करनेवाले अरिहंत भगवान कैसे स्वरूप में रहे हुए हैं, वह बताते हुए **साँतवीं 'सकारण स्वरूप संपदा'** कहते हैं ।

**अप्पडिहय-वर-नाण-दंसण-धराणं (नमोऽत्थु णं) -** नाश न हो, ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान एवं दर्शन के धारक परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो।)

समग्र घातिकर्मों का नाश करके परमात्मा ने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन को प्राप्त किया है । ज्ञान जीव का स्वभाव है। इसलिए, सभी जीवों में ज्ञान गुण तो होता ही है; परन्तु कर्मों का आवरण होने से वह गुण किसी में कम या किसी में ज्यादा प्रकट होता हैं । इसीलिए संसारी जीव जगद्वर्ती सब पदार्थों को देख भी नहीं सकता और कभी कर्म से आवरित वह ज्ञान संसारी जीव को कहीं स्खलित भी करता है । अरिहंत परमात्मा ने साधना करके ज्ञान एवं दर्शन गुण को आवृत्त करनेवाले घातिकर्मों का सर्वथा नाश करके, कभी नष्ट न होनेवाले अप्रतिहत ज्ञान को प्राप्त किया है । इसलिए, वे किसी भी प्रकार की स्खलना के बिना एक ही समय में सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को देख सकते हैं एवं जान सकते हैं ।

परमात्मा को प्राप्त हुआ ज्ञान जैसे अप्रतिहत है, वैसे श्रेष्ठ भी है क्योंकि ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा नाश से उनमें केवलज्ञान एवं केवलदर्शन गुण प्रगट हुए हैं, जिसके द्वारा वे जगद्वर्ती सब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप देख सकते हैं, जान सकते हैं और इस गुण के कारण ही अनंत लब्धि एवं अनंत सिद्धियाँ प्रगट होती हैं । ऐसे अप्रतिहत एवं श्रेष्ठ केवलज्ञान एवं केवलदर्शन गुण को धारण करनेवाले परमात्मा को इस पद द्वारा हमें नमस्कार करना है ।

यहाँ परमात्मा को ज्ञान एवं दर्शन दोनों गुणों से युक्त कहा । इसका कारण यह है कि ज्ञान पदार्थ के विशेष बोध स्वरूप है एवं दर्शन पदार्थ के

सामान्य बोध स्वरूप है । वैसे तो पदार्थ के विशेष बोध में सामान्य बोध का समावेश हो ही जाता है । इसलिए भगवान को मात्र 'वरनाणधराणं' कहा होता तो भी चल सकता था । फिर भी जगद्वर्ती तमाम पदार्थ सामान्य एवं विशेष दोनों धर्म से युक्त हैं, इसलिए, ज्ञेय में (वस्तु में) दोनों धर्म होने से विशेष धर्म को जाननेवाले ज्ञान एवं सामान्य धर्म को जाननेवाले दर्शन गुण से युक्त परमात्मा हैं - ऐसा कहा है ।

यह पद बोलते हुए विशिष्ट प्रकार की साधना करके, केवलज्ञान एवं केवलदर्शन गुणों को प्राप्त करनेवाले परमात्मा को याद करके, नमस्कार करते हुए, प्रभु के सामने प्रार्थना करें कि -

*'हे नाथ ! आपने जिस प्रकार साधना द्वारा कर्म के आवरण को हटाकर केवलज्ञान एवं केवलदर्शन का प्रकाश प्राप्त किया, वैसे ही आपको किया हुआ यह नमस्कार हमारे लिए भी केवलज्ञानादि गुणों का अमोघ कारण बने ।'*

केवलज्ञान - केवलदर्शन छद्मस्थता के नाश के बिना सम्भव नहीं है । इसलिए अब उसका वर्णन करते हैं ।

**वियट्ट-छउमाणं (नमोऽत्थु णं) -** व्यावृत छद्मवाले (जिनके घाति-कर्म निवृत हुए हैं वैसे) परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

जो आच्छादित करे, ढँके उसे छद्म कहते हैं । इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्मगुणों को ढँकनेवाले घातिकर्म ही छद्म हैं । दोष को भी छद्म कहते हैं और दोष वाली अवस्था को छद्मस्थता कहते है ।

जिनके घातिकर्म सर्वथा नष्ट हो गए हैं, वे भगवान ही व्यावृत छद्मवाले हैं । ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण को ढँकता है, दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन गुण को ढँकता है, मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन एवं अनंत चारित्र गुण को ढँकता है, और अंतराय कर्म दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य गुण को ढँकता हैं । दूसरी तरह से विचार

करें तो दोष या रागादि कषाय छद्म है एवं जिनके कषाय सर्वथा नष्ट हो गए हों, वे भगवान ही व्यावृत्त छद्मवाले हैं ।

यह पद बोलते हुए जिनके समस्त दोष नष्ट हो गए हैं एवं जिनके वचन निशंक स्वीकार करने योग्य हैं एवं जो समस्त जगत के लिए पूजनीय हैं, ऐसे परमात्मा को हृदयस्थ करके प्रणाम करते हुए प्रार्थना करें कि -

*'हे नाथ ! बहुमानपूर्वक आपको किया हुआ यह नमस्कार हमारे राग, द्वेष, अज्ञान आदि दोषों के नाश का कारण बने ।'*

इन दोनों पदों के द्वारा स्तोतव्य संपदा की **"सकारण स्वरूप"** संपदा कही गई । सकारण इसलिए कहीं है कि जब भगवान श्रेष्ठ ज्ञान दर्शन को धारण करनेवाले होते हैं, तब ही स्तुति करने योग्य होते हैं एवं वर-ज्ञान-दर्शन धारकता छद्मस्थता (छद्मस्थित भाव) गए बिना प्राप्त नहीं होती ।

अब आनेवाले पदों द्वारा भगवान ने जो फ़ल प्राप्त किया है, वही फल वे अपने भक्त को देते हैं, ऐसा बताते हुए **"आत्म तुल्य-परफ़ल-कर्तृत्व"** नाम की **आठवीं** संपदा कहते हैं -

**जिणाणं जावयाणं (नमोऽत्थु णं) -** (अंतरंग शत्रुओं को) जीतनेवाले एवं जीतानेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो) ।

इस संसार में प्राप्त होनेवाले जन्म, मरण, आधि, व्याधि आदि सर्व दुःखों का मूल कारण राग, द्वेष आदि अंतरंग शत्रु हैं । श्री तीर्थंकर देव ने इन शत्रुओं को स्वयं जीता है एवं सदुपदेश आदि द्वारा योग्य आत्माओं को इन कषायों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताकर सहायता भी की है। इसलिए वे अंतरंग शत्रु को जीतनेवाले एवं जीतानेवाले कहलाते हैं ।

जैनशासन में ईश्वरतत्त्व की यह महानता है कि वे उपासना करनेवाली आत्मा को अपने जैसा ही बनाते हैं । परमात्मा ने स्वयं तो रागादि पर विजय प्राप्त करने की सर्वश्रेष्ठ साधना की है; साथ ही अनेक योग्य आत्माओं को भी इन रागादि के जाल से मुक्त करवाकर अपने जैसा ही बनाया है, बनाते हैं ।

**तिण्णाणं तारयाणं (नमोऽत्थु णं)** - संसार सागर को तैरनेवाले एवं दूसरों को तैरानेवाले (पार करवानेवाले) ऐसे परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

परमात्मा स्वयं तो संसार सागर को तैरकर पार हो चुके हैं साथ ही धर्मदेशना एवं गुणसंपन्नता द्वारा अनेकों को वे संसार सागर से तिरानेवाले भी हैं । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद परमात्मा का मोक्ष तो निश्चित ही होता है, तो भी परम कृपालु परमात्मा अन्य जीवों के लिए भी मोक्षमार्ग निरंतर बना रहे, इसके लिए धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं एवं अपने जीवनकाल में धर्म का उपदेश देकर अनेक जीवों को संसार सागर से पार उतारते हैं।

**बुद्धाणं बोहयाणं (नमोऽत्थु णं)** - स्वयं बोध को पाए हुए एवं अन्य को बोध प्राप्त करवानेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो)

अज्ञानरूप अंधकार में पड़े हुए इस जगत् में श्री तीर्थंकर देव अन्य किसी के उपदेश के बिना ही स्वसंवेदित ज्ञान द्वारा जीवादि तत्त्वों को जानते हैं तथा दूसरों को भी उसका बोध करवाते हैं, इसलिए वे बुद्ध एवं बोधक कहलाते हैं ।

**मुत्ताणं मोअगाणं (नमोऽत्थु णं)** - स्वयं कर्मों से मुक्त बने हुए एवं अन्य को कर्मों से मुक्त करवानेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो।)

विचित्र प्रकार के विपाक देनेवाले विविध कर्मों के बंधनों से परमात्मा प्रयत्न करके स्वयं मुक्त हुए हैं एवं अन्य को कर्म से मुक्त होने का मार्ग बताकर उन्हें कर्म से मुक्त करवाते हैं ।

इन चार पदों द्वारा परमात्मा की लोकोत्तम चार अवस्थाएँ बताई हैं,

मोहरूप महाशत्रु को जीतने के लिए परमात्मा शुक्लध्यान पर आरुढ़ होते हैं। मोह की एक-एक प्रकृति को परास्त करते हुए प्रभु नौवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। स्थिर एवं निश्चल ध्यान द्वारा बाकी रहे हुए कषायों एवं सूक्ष्म लोभ का नाश करके विभु रागादि शत्रु के परम **विजेता** बनते हैं ।

अब शत्रु की ऐसी शक्ति नहीं है कि, वे कहीं से भी प्रवेश कर सकें । दशवें गुणस्थान के अंत में परमात्मा मोह के परम विजेता बनने स्वरूप **जीत** अवस्था को पाते हैं ।

मोह का नाश होने पर स्थिर एवं निश्चल बने हुए परमात्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं अंतराय कर्म का नाश करने के लिए प्रयत्नशील बन जाते हैं । बारहवें गुणस्थानक के अंत में उन्हें भी जड़ मूल से समाप्त करके वे दोष रूप सागर को पूरी तरह से तैर जाते हैं । इस प्रकार बारहवें गुणस्थानक के अंत में परमात्मा **तीर्ण** अवस्था को पाते हैं ।

दोषों का सर्वथा नाश होने पर प्रभु को तेरहवें गुणस्थानक में जाज्वल्यमान केवलज्ञान एवं केवलदर्शन प्रकट होता है । उसके कारण उन्हें चराचर संपूर्ण जगत् का बोध होता है, इस तरह **बुद्ध** अवस्था प्रभु को प्राप्त होती है एवं साथ में प्रकृष्ट पुण्य के अनुभव स्वरूप तीर्थंकर नामकर्म का उदय भी होता है ।

घातिकर्म स्वरूप पापकर्मों का नाश एवं स्वगुणों का संपूर्ण प्रकटीकरण होने के बाद जब अल्प आयुष्य बाकी रहे, तब परमात्मा बाकी के अघाति कर्मों का नाश करने के लिए शैलेशीकरण करते हैं । चौदहवें गुणस्थानक में शुक्लध्यान के अंतिम दो पैरियों पर आरूढ़ होकर परमात्मा योग का निरोध करके सर्व कर्मों से **मुक्त** होते हैं ।

इस प्रकार उत्तरोत्तर गुणों का विकास करके परमात्मा अंत में मोक्ष तक पहुँचते हैं । जब वे संसार में होते हैं, तब देशनादि द्वारा जगत को रागादि से जीतानेवाले एवं मोक्ष में जाने के बाद भी उनके वचन या मूर्ति आदि का निमित्त लेकर लोग मोह को जीतकर संसारसागर को पार करके, केवलज्ञान को प्राप्त कर सर्व कर्म से मुक्त होते हैं । इसलिए परमात्मा के लिए ही 'जिणाणं जावयाणं' आदि विशेषण योग्य हैं ।

इन चार पदों को बोलते वक्त जीते हुए एवं जीतानेवाले, तैरे हुए एवं

तैरानेवाले, बोध पाए हुए एवं बोध देनेवाले, मुक्त बने हुए एवं मुक्त करवानेवाले परमात्मा को याद करके नमस्कार करते हुए प्रार्थना करें कि -

*"हे नाथ ! आप मुझे भी रागादि दोषों से मुक्त करवाकर आपके समान बनाइऐ ।"*

इन चार पदों द्वारा **'आत्म-तुल्य-परफल-कर्तृत्व'** अपने समान दूसरों को बनानेवाली आठवीं संपदा कही गई । जो फल स्वयं को मिला है, वही फल दूसरे को प्राप्त करवाने स्वरूप परमात्मा का परम उपकार सदा स्मरण में रहे, तो परमात्मा के प्रति अहोभाव, आदरभाव अत्यंत बढ़ जाता है ।

दीर्घ दृष्टिवाले विचारक पुरुष को परमात्मा का इतना स्वरूप जानने के बाद भी ऐसी जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसे भी परमात्मा कौन से अक्षय गुण एवं अक्षय फ़ल को प्राप्त करते हैं । वह बताने के लिए तीन पद की नौवीं **'प्रधानगुण अपरिक्षय-प्रधानफ़लाप्ति-अभय संपदा'** (मोक्ष फ़ल प्राप्ति संपदा) कहते हैं अथवा अरिहंत भगवान ने जो मोक्षावस्था पाई है, उसका स्वरूप अब बताते हैं ।

**सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं (नमोऽत्थु णं) -** सब जाननेवाले एवं सब देखनेवाले परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो ।)

सर्व को जाने (साकार उपयोग) वह सर्वज्ञ एवं सर्व का दर्शन (निराकार उपयोग) करे वह सर्वदर्शी । भगवान जगद्वर्ती सभी पदार्थों को जानते हैं एवं देखते हैं ।

यद्यपि - **'अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं'** - इस पद द्वारा परमात्मा अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन को धारण करनेवाले हैं अर्थात् भगवान में श्रेष्ठ ज्ञान एवं दर्शन गुण हैं, वह तो कह दिया था । फिर भी सर्व पदार्थ विषयक परमात्मा का ज्ञान एवं दर्शन मोक्ष में जाने के बाद भी सदाकाल के लिए साथ ही रहनेवाला है । मोक्ष में जाने के बाद भी प्राप्त हुए इन प्रधान गुणों का परिक्षय (लेश मात्र भी नाश) नहीं होता; यह बताने के लिए यहाँ पुनः

इसका उल्लेख किया है अर्थात् तीर्थंकर अवस्था में एवं सिद्धावस्था में दोनों अवस्थाओं में ये गुण होते हैं, ऐसा बताया ।

**सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइ-नामधेयं ठाणं-संपत्ताणं (नमोऽत्थु णं) -** शिव, अचल, अरुज, अनंत, अक्षय, अव्याबाध एवं जहाँ से पुनरागमन न हो, ऐसी सिद्धगति नाम के स्थान को प्राप्त किए हुए परमात्मा को (मेरा नमस्कार हो।)

अब ये (सिद्ध हुए) अरिहंत भगवंत सिद्ध होने के बाद सदाकाल कैसे स्थान में रहते है, यह बताते हैं - अरिहंत परमात्मा सब कर्मों का क्षय करके जिस स्थान में जाते हैं, उस स्थान को सिद्धगति (मोक्ष) कहते हैं । व्यवहारनय की दृष्टि से अरिहंत भगवान सिद्ध होने के बाद सिद्धशिला के ऊपर रहते हैं एवं निश्चयनय (समभिरुढ़) की दृष्टि से सिद्ध की आत्मा अपनी आत्मा में ही रहती है अर्थात् वे स्वगुण में आनंद मानते हैं, इसलिए सिवमयलादि विशेषण अरिहंत परमात्मा में लागू पड़ते हैं ।

'सिव-मयल' आदि विशेषण सिद्ध हुए अरिहंत भगवंत के हैं, तो भी व्यवहारनय से स्थान एवं स्थानी का अभेद करके यहाँ ये विशेषण सिद्धिगति के बताये हैं । जैसे जिस नगर के लोग उदार, गंभीर आदि गुणों से युक्त होते हैं, वह नगरी गुणशाली कहलाती है । वैसे ही शिव, अचल आदि गुणयुक्त सिद्ध की आत्मा जिस स्थान में रहती है, उस स्थान को भी व्यवहार से शिवादि गुणयुक्त कहते हैं ।

अनंतकाल से संसारी जीव जो चार गतिरूप संसार में रहते हैं वह स्थान सिद्धगति की अपेक्षा से पूर्ण विरोधवाला अशिव-उपद्रवों से भरा हुआ है । इन दोनों स्थानों की तुलना करें, तो सिद्धगति के प्रति आदर अत्यंत बढ़ जाता है तथा उपद्रवादि से खिन्न होकर निरुपद्रवादि वाले स्थान को प्राप्त करने की अभिलाषा एवं प्रवृत्ति होती है ।

**शिवः** संपूर्ण संसार उपद्रवों से भरा है, जब कि सिद्धिगति में उपद्रवों का

नामोंनिशान भी नहीं है क्योंकि बाह्य अथवा अंतरंग किसी भी प्रकार का उपद्रव कर्म से ही आता है । सिद्धात्मा सर्वथा कर्म से रहित है, इसलिए उनका स्थान निरुपद्रव है ।

**अचलः** संसार में कोई स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ बाह्य या अंतरंग रीति से स्थिर रहा जा सकें, जब कि सिद्धिगति कभी चलायमान न होनेवाली अचल है।

**अरुजः** जहाँ शरीर है, वहाँ रोग होने की संभवाना है । सिद्धावस्था में (सड़न, पड़न आदि स्वभाववाला) शरीर ही नहीं होता, इसलिए वहाँ रोग भी नहीं होता । अतः सिद्धिगति निरोगी अवस्थावाली गति है ।

**अनंतः** अनादिकाल से संसार के सुख या दुःख सब भाव अंतवाले हैं, जब कि सिद्धिगति को पाए हुए सर्व आत्माओं के ज्ञानादि गुण अनंत हैं, उनको प्राप्त हुआ अव्याबाध सुख अनंत हैं एवं उनको अनंतकाल तक वहाँ ही रहना है, इसलिए सिद्धिगति अनंत है अर्थात् इस गति का कभी अंत नहीं होता ।

**अक्षयः** संसार के दिव्य सुख भी नश्वर हैं - नाशवंत हैं, सदास्थायी नहीं है, परन्तु सिद्धिगति आत्मा की शुद्ध अवस्था स्वरूप है । स्वभावभूत ऐसी अवस्था प्राप्त होने के बाद वह फिर कभी नाश नहीं होती, इसलिए वह अक्षय है ।

**अव्याबाधः** शरीर व कर्म के साथ आत्मा जहाँ तक जुड़ी हुई है, वहाँ तक कर्म के कारण शारीरिक व मानसिक अनेक प्रकार की पीडाएँ सतत होती रहती हैं, परन्तु सिद्धिगति में पीड़ा देनेवाले शरीर, मन या कर्म कुछ भी नहीं है, मात्र अमूर्त आत्मा है । अमूर्तत्व होने से ही वहाँ कोई बाधा नहीं होती ।

**अपुनरावृत्तिः** संसार में जितने स्थान है, उन स्थानों में पुनः पुनः जीव परिभ्रमण करते रहते हैं । मोक्ष में गए हुए जीवों को पुनः संसार में आना नहीं पड़ता, पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता, वे वहाँ ही अनंतकाल तक स्वगुण में ही आनन्द करते हैं, इसलिए, सिद्धिगति अपुनरावृत्ति गुणयुक्त है। ऐसी सिद्धिगति नाम के स्थान को परमात्मा प्राप्त करते हैं ।

इन पदों को बोलते हुए दुःखभरे संसार से अत्यंत विरोधी महासुख के स्थानभूत मोक्ष एवं वहाँ रहे हुए महासुख में रमण करते हुए परमात्मा को नज़र के समक्ष लाकर उनको प्रणाम करके प्रार्थना करें कि -

"हे नाथ ! आपको किया हुआ मेरा यह नमस्कार हमें शीघ्र ऐसे गुणों के स्थानभूत सिद्धिगति को प्राप्त करवाएँ ।"

**नमो जिणाणं जिअभयाणं -** भयों को जिन्होंने जीता है, वैसे जिनों को मेरा नमस्कार हो ।

जन्म-मरण एवं संयोग-वियोग से रचित इस संसार में ऐसा कोई स्थान नहीं है कि जहाँ भय न हो ! देवलोक में जन्म हुआ एवं उच्चत्तम भौतिक सुख की प्राप्ति हुई तो भी वहाँ मृत्यु का भय तो है ही । अच्छे से अच्छे व्यक्तियों का संयोग हुआ, खूब आनंद हुआ परन्तु वहाँ भी वियोग का दुःख तो निश्चित है । संसार के चारों ओर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट दीखता है कि, संपूर्ण संसार भय से भरा हुआ है । कोई स्थान ऐसा नहीं है, कि जहाँ सात भयों में से एक भी भय न हो। भगवान ने इस संपूर्ण संसार को अलविदा कहकर परम आनंददायक मोक्ष को प्राप्त किया है, इसी कारण अब उन्हें मरण का, वियोग का या अन्य किसी भी प्रकार का भय नहीं है; क्योंकि भय का मूल कारण कर्म संयोगवाला संसार है; भगवान उससे ही मुक्त हो गए हैं, इसलिए वे भयमुक्त हैं। इसके अलावा, राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के कारण वे जिन भी हैं। रागादि के विजेता एवं भयमुक्त भगवान को मेरा नमस्कार हो ।

यह पद बोलते हुए एक ओर भय से भरे संसार एवं भय के कारण विह्वल हुए अनंत जीवों को और दूसरी ओर भय से सर्वथा मुक्त हुए परमात्मा को नज़र के समक्ष लाकर नमस्कार करना चाहिए । सर्वथा निर्भय परमात्मा मेरे सामने हैं एवं भयावह ऐसे इस संसार से मुक्त हुए इन निर्भय परमात्मा का ही मुझे शरण है, ऐसे भावपूर्वक किया हुआ नमस्कार साधक आत्मा को तत्काल भय से मुक्त करवाकर निर्भय, स्वस्थ एवं शांत बनाता हैं, इसीलिए कोई भी आपत्ति आने पर इस पद का जाप किया जाता है ।

भावपूर्वक का यह जाप भय प्राप्त करवानेवाले पापकर्मों का नाश करवाकर निर्भयता के कारणभूत पुण्यकर्म के उदय में सहायक बनता है।

प्रथम पद 'नमोऽत्थु णं' में नमो शब्द दिया है एवं यहाँ भी नमो शब्द दिया है । इसका प्रयोजन यह है कि, आदि से अंत तक सर्व पदों में 'नमो' शब्द को जोड़ना है।

तैंतीस विशेषणों द्वारा भाव अरिहंतों को नमस्कार किया, उन अरिहंत भगवंतों के प्रति विशेष भक्ति से प्रेरित होकर उनकी विशेष उपस्थिति के लिए अब तीन काल के सर्व द्रव्य तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए कहते हैं कि-

[58]**जे अ अइया सिद्धा, जे अ भविस्संति णागए काले । संपइ अ वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि ।।** - जो (अरिहंत) भूतकाल में सिद्ध हुए हैं, जो भविष्यत् काल में सिद्ध होंगे एवं वर्तमान काल में जो (द्रव्य अरिहंत के रूप में) विद्यमान हैं, उन सब अरिहंतों को मैं त्रिविध योग से वंदन करता हूँ ।

तीनों काल के द्रव्य जिनों के वंदन की यह गाथा पहले अलग थी, मतलब कि पहले इस सूत्र के साथ जुडी हुई नहीं थी । धर्मसंग्रह ग्रंथ की वृत्ति में इस गाथा का अर्थ करते हुए कहा है कि,'अतीतकाल में जो सिद्ध हुए हैं, (वर्तमान में अन्य गति में रहे हुए) जो भविष्य में सिद्ध होंगे एवं जो वर्तमान में जन्म लेकर अभी छद्मस्थ अवस्था में विहर रहे हैं, उन तीनों कालों के द्रव्यजिनों को मैं त्रिविध योग से वंदन करता हूँ ।

आज तक भूतकाल में अनंत उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी हो चुकी हैं । उन सब उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में भरत-ऐरवत में अनंतबार २४-२४ तीर्थंकर एवं महाविदेह में अनंत तीर्थंकर हुए हैं । भूतकाल जैसे अनंत है,

58.ये पद 'ललितविस्तरादि' ग्रंथों में नहीं लिए है । इसलिए इन पदों का प्रक्षेप पीछे के सुविहित आचार्यों ने किया होगा एवं भाव वृद्धि के लिए बोला जाता होगा, वैसा अनुमान होता है ।

वैसे भविष्य काल भी अनंत है, उसका कोई अंत नहीं है । भूतकाल की तरह अनंत भविष्य में भी अनंत तीर्थंकर होनेवाले हैं । वर्तमान में भी पाँचों महाविदेह में हज़ारों तीर्थंकर आत्माएँ जन्म ले चुकी हैं एवं द्रव्यजिन के तौर पर अनेक अवस्थाओं में वे विद्यमान हैं । उन द्रव्यजिनों को इस पद द्वारा स्मृति में लाना है ।

यह पद बोलते हुए बीता हुआ भूतकाल, आनेवाला अनंत भविष्यत् काल एवं वर्तमानकाल, तीनों को उपस्थित करके उस काल में हुए, होते, एवं होनेवाले; चाहे कद में, उम्र में भिन्न-भिन्न होने पर भी (सत्ता स्वरूप से) गुणसंपत्ति से समान ऐसे अनंत अरिहंतों को याद करके, उनके गुणों से मन को उपरंजित करके, वाणी से ये शब्द बोलते हुए एवं काया से दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर नमस्कार करना है । इस तरह उपकारी को नमस्कार करके ही जीव मोक्ष में जाने की योग्यता संपादित कर सकते हैं ।

# जावंति चेईयाइं सूत्र

**सूत्र परिचय :**

इस सूत्र में सभी चैत्यों को वंदना की गई है, इसलिए इसका दूसरा नाम 'सव्व चेइयवंदन सूत्र' है ।

चैत्यवंदन के प्रारंभ में 'जं किंचि' सूत्र बोलकर सभी तारक तीर्थ और तीर्थ में रहे जिनबिंब को वंदना की जाती है। उसके बाद परमात्मा के सद्भूत गुणों के उत्कीर्तन के लिए नमोऽत्थुणं सूत्र बोला जाता है । उससे भगवान के प्रति अहोभाव अत्यंत वृद्धिमान होने से परमात्मा के सभी चैत्यों को वंदना करने की भी अभिलाषा जागृत होती है, इसीलिए चैत्यवंदन में नमोऽत्थुणं सूत्र बोलने के बाद यह सूत्र बोला जाता है ।

यह सूत्र श्राद्ध प्रतिक्रमण (वंदित्तु सूत्र) में भी ४४वीं गाथा स्वरूप है ।

**मूल सूत्र :**

**जावंति चेइयाइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ ।**
**सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ।।१।।**

**पद-४** **संपदा-४** **अक्षर-३५**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :**

**उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ जावंति चेइयाइं ।**

*ऊर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके च यावन्ति चैत्यानि ।*

ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिरछेलोक में जितने चैत्य हैं,

**इह संतो (अहं) तत्थ संताइं ताइं सव्वाइं वंदे ।**

*इह सन् (अहं) तत्र सन्ति तानि सर्वाणि वन्दे ।*

यहाँ रहा हुआ मैं वहाँ रहे उन सभी को वंदन करता हूँ ।

**विशेषार्थ :**

**जावंति चेइयाइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ** - ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिरछेलोक में जितने चैत्य[1] हैं ।

**ऊर्ध्वलोक में** - समभूतला पृथ्वी से ९०० योजन ऊपर के भाग को ऊर्ध्वलोक कहते हैं । मेरुपर्वत पर जो चैत्य हैं तथा वैमानिक देवों के आवासों में जो जिनचैत्य हैं, वे ऊर्ध्वलोक के चैत्य कहलाते हैं ।

**अधोलोक में** - समभूतला पृथ्वी से ९०० योजन नीचे के भाग को अधोलोक कहते हैं । अधोलोक में भवनपति देवों के आवासों में तथा महाविदेह क्षेत्र के अधोग्राम में जो-जो जिनचैत्य हैं, उनको अधोलोक के चैत्य कहते हैं।

**तिरछालोक में** - ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के बीच में रहे भाग को तिरछालोक कहा जाता है । तिरछेलोक में द्वीप, समुद्र, पर्वत, द्रह, नदियाँ, वृक्ष, वन, कुंड आदि में जितने जिनचैत्य हैं, उन्हें तिरछालोक के चैत्य कहा जाता है ।

---

1 **चैत्य जिनौकस्तद्बिंबं चैत्यं जिनसभातरुः** । चैत्य शब्द का अर्थ जिनमंदिर, जिनप्रतिमा और जिनराज की सभा का चौतरायुक्त वृक्ष होता है ।

**सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं** - यहाँ रहा हुआ (मैं) वहाँ रहे हुए उन सभी चैत्यों को वंदन करता हूँ ।

'उन सभी चैत्यों को मैं यहाँ से वंदन करता हूँ,' ऐसा कहने का कारण यह है कि सभी चैत्यों को वंदन करने की इच्छा तो है, परन्तु इतनी शक्ति नहीं है कि उन-उन स्थान पर जाकर सदेह वंदना कर सकूँ । इसलिए तीनों लोक में रहे सभी चैत्यों को स्मृतिपट पर लाकर, परमात्मा की अनुपस्थिति में 'ये चैत्य ही मेरे भवनिस्तार का कारण हैं, मुझमें शुभभाव पैदा करने के प्रबल निमित्त हैं, इन चैत्यों के दर्शन द्वारा ही मेरी आत्मा का दर्शन करके मैं अपनी आत्मा के हित के लिए कुछ कर सकूँगा। इसलिए परम उपकारी इन चैत्यों को, यहाँ रहकर भी मैं वंदना करके मेरी आत्मा को कृतार्थ करूँ।' ऐसे भाव के साथ, ऐसी शुभ संवेदनापूर्वक यह सूत्र बोला जाए तो आत्मा कुछ विशिष्ट भावों को प्राप्त करके, महान कर्मनिर्जरा कर सकती है ।

इस बात को प्रदर्शित करते हुए श्री ठाणांगसूत्र की टीका में लिखा है कि - **भत्तीए जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचिया कम्मा** । श्री जिनेश्वर भगवंत की भक्ति से भूतकाल के अनेक जन्मों में बंधे हुए कर्म नाश होते हैं । इसी कारण विशेष कर्मनिर्जरा के उपायरूप विरति को स्वीकारने में असमर्थ देवता आदि भी भगवद् भक्ति के माध्यम से ही बहुत कर्मों की निर्जरा करते हैं। उनके लिए परमात्म भक्ति सबसे सरल और आसान कर्मक्षय का साधन है ।

# जावंत के वि साहू सूत्र

## सूत्र परिचय :

इस सूत्र में भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में रहे, तीन दंड से विराम पाए हुए सभी साधु भगवंतों की वंदना की जाती है । इसी कारण इसका दूसरा नाम 'सव्वसाहुवंदण' सूत्र है ।

इस सूत्र का उपयोग मुख्य रूप से चैत्यवंदन की क्रिया में और वंदित्तु० सूत्र की ४५वीं गाथा के रूप में होता है ।

चैत्यवंदन की क्रिया में विशेष प्रकार से अरिहंत के गुणों की स्तवना स्वरूप नमोऽत्थुणं सूत्र बोलने के बाद प्रणिधान मुद्रा में यह सूत्र बोला जाता है ।

श्रेष्ठ कोटि के सभी साधु भगवंतों जैसी निष्कषाय भाव की भक्ति प्रतिपत्ति पूजा[1] आदि करते है वैसी भक्ति खुद में आए, वैसे भाव के साथ इस सूत्र से सभी साधु भगवंतों को वंदन किया जाता है ।

ऐसे भावपूर्वक इस सूत्र बोलने से साधक में उत्तम साधुओं की तरह सम्यग् चैत्यवंदन करने का महासामर्थ्य प्रकट होता है । हर एक क्रिया में भगवान की आज्ञा को प्राधान्य देने की वृत्ति बढ़ती है और मुनिभाव के प्रति

1 प्रतिपत्ति पूजा को विशेष समझ के लिए 'भूमिका' को देखे ।

पूज्य बुद्धि उत्पन्न होने से साधु बनने में प्रतिबंधक बननेवाले कर्म शिथिल होते हैं । यही भक्ति का तत्काल अपेक्षित फल है ।

**मूलसूत्र :**

**जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ ।**
**सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ।।**

**पद-४ संपदा-४ अक्षर-३८**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :**

**भरहेरवय-महाविदेहे अ जावंत के वि साहू ।**
*भरतैरवत-महाविदेहे च यावन्तः केऽपि साधवः ।*

भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में जो कोई साधु भगवंत हैं,

**तेसिं तिदंड-विरयाणं सव्वेसिं तिविहेण पणओ ।।**
*त्रिदण्ड-विरतेभ्यः तेभ्यः सर्वेभ्यः त्रिविधेन प्रणतः ।।*

उन सभी तीन दंड से विराम पाए हुए (साधु भगवंतों) को, (मन, वचन और काया : ऐसे) तीन प्रकार (के योग) से मैं नमस्कार करता हूँ ।

**विशेषार्थ :**

**जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ -** भरत क्षेत्र, ऐरवत क्षेत्र और महाविदेह क्षेत्र में जो कोई साधु भगवंत हैं ।

[2]४५ लाख योजन प्रमाण मनुष्य लोक है । उसमें भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र रूप १५ कर्मभूमियाँ हैं । इन कर्मभूमि में जन्मे हुए मनुष्यों

---

२ अढ़ाई द्वीप और दो समुद्र के बराबर मनुष्य क्षेत्र है । इस अढ़ाई द्वीप में सबसे मध्य में १ लाख योजन प्रमाण जंबूद्वीप हैं । उसको घूमता हुआ २ लाख योजन प्रमाण लवण समुद्र है। उसको घूमता हुआ ४ लाख योजन प्रमाण धातकी खंड है । उसको घूमता हुआ ८ लाख योजन प्रमाण कालोदधि समुद्र है और उसको घूमता हुआ १६ लाख योजन प्रमाण पुष्करावर्त नाम का द्वीप है कि जिस द्वीप के बराबर मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है, वहाँ तक ही मनुष्यों की बस्ती है । इसी

को ही साधु बननें के योग्य भाव हो सकते हैं । कर्मभूमि के सिवाय अन्य स्थान में जन्मे लोगों के लिए ऐसे परिणाम संभव नहीं हैं। इसीलिए कहा गया है - भरत, ऐरवत और महाविदेह क्षेत्र में जो कोई भी साधु भगवंत है।

**अ-(च)-**

यहाँ **"च"** शब्द **"अपि"** (भी) अर्थ में है । उससे यह कहना है कि कर्मभूमि में रहे साधु भगवंतों को तो वंदना है ही, परन्तु देव द्वारा संहरण करके अकर्मभूमि में लाए गए साधु भगवंत या तो नंदीश्वरादि तीर्थ की यात्रा के लिए गए हुए जंघाचरण, विद्याचरण आदि लब्धिसंपन्न मुनि भगवंतों को भी वंदना की गई है । ऐसे प्रयोग द्वारा शास्त्रकार की साधु मात्र को वंदन करने की भावना व्यक्त होती है ।

**सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं -** तीन दंड से विराम पाए हुए सबको तीन योग से मैं नमन करता हूँ ।

आत्मा को जो दंड दे - दुःखी करे, उसे दंड कहते हैं । पाप प्रवृत्ति में प्रवर्तते मन, वचन और काया के योग आत्मा को अशुभ कर्मबंध करवाकर, दुर्गतियों में भटकाकर दुःखी करते हैं, इसलिए उन्हें दंड कहते हैं ।

---

से वह द्वीप आधा गिना जाता है । उसके बाहर किसी भी मनुष्य का जन्म या मरण नहीं होता । इस प्रकार जंबूद्वीप की एक तरफ (२+४+८+८) कुल २२ लाख योजन प्रमाण क्षेत्र में मनुष्य की उत्पत्ति होती है और दूसरी तरफ भी २२ लाख योजन प्रमाण क्षेत्र में मनुष्य होते हैं । इस तरह जंबूद्वीप सहित (१+२२+२२) कुल-४५ लाख योजन प्रमाण मनुष्य लोक हैं । इस अढ़ाई द्वीप में १५ कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि और ५६ अंतर्द्वीप आए हुए हैं, जिसमें ३० अकर्मभूमि और ५६ अंतर्द्वीप में युगलिक मनुष्य उत्पन्न होते हैं, जो साधुता को प्राप्त नहीं कर सकते; मात्र १५ कर्मभूमि में उत्पन्न हुए मनुष्य ही इस साधुता को प्राप्त कर सकते हैं । ये १५ कर्मभूमि निम्नलिखित है -

| | | | |
|---|---|---|---|
| जंबूद्वीप में | १ भरत | १ ऐरवत और | १ महाविदेह |
| धातकीखंड में | + २ भरत | २ ऐरवत और | २ महाविदेह |
| अर्धपुष्करवरद्वीप में | + २ भरत | २ ऐरवत और | २ महाविदेह |
| कुल | ५ भरत | ५ ऐरवत | ५ महाविदेह = १५ कर्मभूमि |

सभी मनुष्यों को मन, वचन और काया रूप तीन शक्तियाँ तो मिलती हैं । पर ज्ञानी पुरुष इन तीन शक्तियों का सदुपयोग साधना क्षेत्र में करके आत्मा के अनंत आनंद को प्राप्त करते हैं जब कि, अज्ञानी जीव काल्पनिक सुखों के पीछे, इन्द्रियों की तृप्ति के लिए और आत्मा से भिन्न शरीर आदि के श्रृंगार के पीछे इन शक्तियों का दुरुपयोग करके, इन शक्तियों द्वारा दुरंत संसार का सृजन करते हैं। इस तरह महान पुण्योदय से प्राप्त हुए इन योगों को संसारी दंड स्वरूप बनाते हैं ।

अनंतकाल से अज्ञान के कारण हमें कैसे-कैसे दुःख भुगतने पड़े हैं, वह शास्त्र के माध्यम से मुनि भगवंत जानते हैं और इसी कारण वे संसार एवं संसार के सुखों के प्रति सदा उदासीन रहते हैं। वे समझते हैं कि मन, वचन और काया के स्वैच्छिक प्रवर्तन से खुद को ही दंडित होना पड़ेगा । इसलिए वे मन, वचन, काया का स्वैच्छिक प्रवर्तन रोककर उसे परमात्मा के वचनानुसार प्रवर्तित करते हैं । परमात्मा के वचनों को समझने के लिए शास्त्र का अध्ययन करते हैं । शास्त्र की पूरी जानकारी प्राप्त न हो, तब तक गीतार्थ गुरु भगवंत को परतंत्र होकर जीते हैं अर्थात् उनकी निश्रा में विचरण करते हैं क्योंकि, वे जानते हैं कि, भगवद् वचन के विरुद्ध लेश भी प्रवृत्ति हो जाए, तो अवश्य कर्मबंध होगा और कर्म को भुगतते समय भी दुःख भुगतना पड़ेगा। इसी कारण संसार से अत्यंत भयभीत हुए मुनि भगवंत जब तक गीतार्थ न बनें, तब तक शास्त्रज्ञ पुरुष की शरण में रहते हैं। उनके वचनानुसार समिति-गुप्ति में प्रयत्न करते हैं और शरीर के धर्म भी अनासक्त भाव से करते हैं । ऐसे मुनि तीन दंड से विराम पाए हुए कहलाते हैं।

यह सूत्र बोलते हुए तीन दंड से विराम पाए हुए, भगवान के वचन के अनुसार जीवन जीनेवाले मुनि भगवंतों को नज़र के समक्ष लाकर-गुणवान गुरु भगवंतों के प्रति पूज्य भाव धारण करके, ऐसे गुरु भगवंतों को मैं नमन करता हूँ; वैसे वचन बोलकर और काया को नमस्कार करने योग्य मुद्रा में स्थिर करके मैं इन साधु भगवंतों को नमस्कार करता हूँ, वैसा भाव व्यक्त करना है ।

ऐसे भावपूर्वक मुनि को नमस्कार करने से, मुनि भगवंत के प्रति पूज्यता के परिणाम अत्यंत उल्लसित होते हैं, जिसके द्वारा नमस्कार करनेवाले के संयम में बाधक कर्मों का विनाश होता है और साधुता के लिए सत्त्व खिलता हैं, जिससे मोक्षमार्ग में गमन वेगवान बनता है ।

**जिज्ञासा :** अरिहंत की वंदना स्वरूप चैत्यवंदन के अवसर पर साधु भगवंतों को वंदन करना क्या योग्य है ?

**तृप्ति :** साधक को अरिहंत की श्रेष्ठ कोटि की वंदना करने की तीव्र भावना होती है, पर उत्तम सामग्री से या सुंदर शब्दों से परमात्मा की स्तवना करनेवाले साधक का ऐसा सत्त्व नहीं होता कि, वह परमात्मा की आज्ञा का, उनके एक-एक वचन का पूर्ण पालन करने स्वरूप श्रेष्ठ कोटि की प्रतिपत्ति पूजा कर सकें । ऐसी पूजा का सामर्थ्य खुद में प्रगट हो, उसके लिए ही साधक भगवान की स्तवना करते हुए, श्रेष्ठ कोटि की प्रतिपत्ति पूजा करनेवाले मुनि भगवंतों को स्मृति पथ में लाकर उनकी वंदना करते हैं। अतः अच्छा चैत्यवंदन करने का सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिए चैत्यवंदन दौरान भी मुनि भगवंतों को वंदन करना उचित है ।

यह सूत्र बोलकर भगवान की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करनेवाले सभी साधु भगवंतों की वंदना करके साधक सोचता है,

*"धन्य हैं इन मुनि भगवंतों को, जो संपूर्णतया भगवान की आज्ञानुसार जीवन जीते हैं । आज्ञा पालनरूप श्रेष्ठ भक्ति तो वे ही करते हैं, मैं तो मात्र द्रव्य से ही भगवान की भक्ति करता हूँ, परन्तु इन मुनि भगवंतों को वंदन करने से मुझमें ऐसी शक्ति प्रकट हो, मेरा भी ऐसा सत्त्व खिलें कि मैं भी ऐसे श्रेष्ठ साधु भगवंतों की तरह परमात्मा के वचन पालनरूप प्रतिपत्ति पूजा करके, कर्मों का क्षय कर संसार सागर को पार कर सकूँ ।"*

# उवसग्गहरं सूत्र

## सूत्र परिचय :

उपसर्गों का हरण करनेवाला यह एक अति महिमावंत सूत्र है । जैन शास्त्रों की प्रथानुसार प्राकृत भाषा में बहुत श्लोकों से बने हुए मंत्रतुल्य सूत्रों को 'स्तोत्र'[1] कहा जाता है, अतः यह सूत्र भी एक स्तोत्र है ।

इस विषमकाल में धर्ममार्ग अनेक विघ्न और उपसर्ग से भरा हुआ है। विघ्न आए तब आर्त्तध्यानादि अशुभ ध्यान का निवारण करने एवं धर्ममार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए इस स्तोत्र का स्मरण, जाप, ध्यानादि श्रेष्ठ उपाय है । इसलिए 'उवसग्गहरं' उपसर्गों को हरण करनेवाला ऐसा इसका नाम 'यथा नाम तथा गुणाः' इस उक्ति के अनुसार सार्थक हुआ है ।

श्री पार्श्वनाथ भगवान की पुण्य प्रकृति विशिष्ट है। बीती हुई उत्सर्पिणी से उनकी पूजा-भक्ति चली आ रही है । उनके अधिष्ठायक देव आज भी जागृत हैं। इन सभी कारणों को ध्यान में लेकर इस स्तोत्र में विशेष प्रकार से पार्श्वनाथ भगवान की और उनके साथ-साथ उनके प्रति अत्यंत भक्ति भाववाले श्री धरणेंद्र और पद्मावती देवी की भक्ति - स्मृति की गई है ।

---

1. **स्तोत्रं तु बहुश्लोकमानं** - पंचाशक
   **पाययभासाबद्धं थोत्तं ।** - चैत्यवंदन महाभाष्य

भक्ति रस को वहन करनेवाले इस स्तोत्र द्वारा श्रद्धासंपन्न साधक आध्यात्मिक और भौतिक आपत्ति को टालकर, प्रभु के साथ नैकट्य पा सकते हैं एवं उसके द्वारा आत्मिक उन्नति के शिखरों को सर करके सिद्धिगति तक पहुँच सकते हैं ।

इस स्तोत्र की अनेकविध विशेषताओं में एक विशेषता यह है कि, इसमें अठारह अक्षर का **'नमिउण पास विसहर वसह जिण फुलिंग'** नाम का एक अत्यंत फलदायक मंत्र रखा गया है, जो धरणेंद्र और पद्मावती से अधिष्ठित है । आज भी एकाग्रचित्त से इस मंत्र का जाप करने से सभी आपत्तियाँ दूर होती हैं । जैसे यह मंत्र शक्तिदायक है, वैसे इस मंत्र से युक्त यह संपूर्ण स्तोत्र भी विशिष्ट शक्तियुक्त है । पूर्वकाल में यह स्तोत्र बोलने पर देवता साक्षात् हाजिर होते थे, परन्तु भौतिक सुख के इच्छुक जीवों द्वारा उसका दुरुपयोग होने से इस स्तोत्र की कुछ गाथाएँ लोप कर दी गई। आज भी कहीं कहीं ये गाथाएँ देखने को मिलती हैं, परन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा उनकी शक्ति का संहरण हो चुका है उस कारण तथा वर्तमान में अपना पुण्य अति अल्प होने के कारण आज हर वक्त देवता प्रत्यक्ष नहीं होते ।

इस स्तोत्र में रचनाकृत विशेषता यह है कि, इसकी प्रथम गाथा में श्री पार्श्वनाथ प्रभु की ८० प्रकार[2] से, दूसरी गाथा में ४० प्रकार से एवं तीसरी, चौथी और पाँचवी गाथा में दूसरे चार प्रकार से स्तुति होती है । इस तरह सब मिलाकर समग्र स्तोत्र द्वारा कुल (८० x ४० x ४) = १२८०० प्रकारों से श्री पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति होती है। जिस स्तोत्र में मात्र पाँच ही गाथाओं द्वारा इतने प्रकारों से स्तुति हो सकती है, वह स्तोत्र कितना महिमाशाली होगा, वह सामान्य बुद्धि से भी समझा जा सकता है ।

2. इस स्तोत्र की प्रथम गाथा में श्री पार्श्वनाथ प्रभु की ८० प्रकार से स्तुति किस तरह की गई है, उसे सामान्य से समझने के लिए इस तरह गिनती करें । सर्वप्रथम तो **'उवसग्गहरं पासं'** शब्द के पाँच अर्थ हैं, **'कम्मघणमुक्कं'** शब्द के दो अर्थ हैं । **'विसहरविसनिन्नासं'** शब्द के चार अर्थ हैं तथा **'मंगल कल्लाण आवासं'** शब्द के दो अर्थ हैं। इन सभी अर्थ इक्कट्ठा करने से ५x२x४x२=८० अर्थ प्राप्त होते हैं । इन सभी की विशेष विगत गुरुगम से समझें ।

इसके अलावा, इस स्तोत्र के अर्थ में थोडा परिवर्तन करके श्री पार्श्वयक्ष, धरणेन्द्र देव तथा पद्मावाती देवी को लक्ष्य में रखकर भी स्तवना हो सकती है । यह स्तोत्र श्री नमस्कार महामंत्र के बीज से भी वासित है। इसकी पाँचों गाथाओं के पहले पदों के पहले अक्षर 'उव', 'विस', 'चिट्ठ', 'तुह' और 'इअ' अनुक्रम से उपाध्याय, साधु, आचार्य, अरिहंत और सिद्ध पद के वाचक हैं।[3]

महामंगलकारी नवस्मरण में इस सूत्र का दूसरा स्थान है । प्राचीनता की अपेक्षा से सोचा जाए तो नवस्मरण में नवकार मंत्र शाश्वत है और बाकी के आठ स्तोत्रों में उवसग्गहरं स्तोत्र प्राचीनतम है ।

इस स्तोत्र की रचना कार्यवशात् हुई थी। जब श्रीसंघ में व्यंतरकृत उपद्रव हुआ था, तब अंतिम श्रुतकेवली चौदह पूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामीजी ने उसके निवारण के लिए इस सूत्र की रचना की थी । भद्रबाहुस्वामीजी के (सांसारिक) भाई वराहमिहिर जैनधर्म के कट्टर विरोधी थे । भद्रबाहुस्वामीजी की चारों ओर फैली कीर्ति को वे सह न सके। एक बार राजा के वहाँ पुत्ररत्न का जन्म हुआ । सभी लोग पुत्रजन्म के आनंद को व्यक्त करने आए, परन्तु जैन साधु का आचार न होने से, भद्रबाहुस्वामीजी वहाँ नहीं आए। इस बात का फायदा उठाकर वराहमिहिर ने राजा से कहा कि "आप के यहाँ पुत्रजन्म हुआ है, वह भद्रबाहुस्वामी को अच्छा नहीं लगा । इसीलिए वे पुत्र को आशिष देने भी नहीं आए ।" पू. भद्रबाहुस्वामीजी तक यह बात पहुँची । उन्होंने राजा को कहलवाया कि, जिस पुत्र की सातवें दिन बिल्ली से मृत्यु होनेवाली हो, उस पुत्र के जन्मोत्सव में आने का क्या प्रयोजन ? राजा ने पुत्र की सुरक्षा के लिए नगर में से सभी बिल्लियों को दूर करवा दिया, फिर भी बिल्ली के आकार के दरवाजे की कुंडी से बालक की मृत्यु हुई । आचार्य की बात सत्य हुई । उसके बाद लोक में वराहमिहिर की

---

3. उवसग्गहरं स्तोत्र - श्री अमृतलाल कालिदास

निंदा होने लगी और पू. भद्रबाहुजी की कीर्ति और भी फैलने लगी। इससे आवेश में आकर वराहमिहिर ने घोर तपश्चर्या का प्रारम्भ किया। नियाणा करके वह व्यंतर जाति में उत्पन्न हुआ एवं छल ढूंढकर जैन संघ पर अत्यंत उपद्रव करने लगा। इस उपद्रव का निवारण, उवसग्गहरं स्तोत्र की रचना का निमित्त बना।

इस स्तोत्र की गाथा के संबंध में बहुत मतभेद है, परन्तु हाल में इस स्तोत्र की पाँच गाथाएँ प्रचलित हैं। उसमें प्रथम गाथा में अलग-अलग विशेषणों द्वारा पार्श्वनाथ भगवान की स्तवना-वंदना की गई है। दूसरी गाथा में उनके नाम से अधिष्ठित 'विषहर फुलिंग' मंत्र के पाठ से कैसे-कैसे फल प्राप्त होते हैं, वह बताया गया है। तीसरी गाथा में मंत्र की बात तो दूर रही, पार्श्वनाथ भगवान को किया हुआ प्रणाम भी कितना विशिष्ट फल देता है, उसका वर्णन है। चौथी गाथा में उनके प्रभाव को प्राप्त हुआ सम्यग्दर्शन गुण कितना विशिष्ट है, उसका कथन है और पाँचवीं गाथा में पार्श्वनाथ भगवान की स्तवना करके अंत में हरेक भव में बोधि की प्राप्ति हो, वैसी प्रार्थना की है ।

**मूल सूत्र :**

**उवसग्गहरं पासं, पासं वंदामि कम्म-घण-मुक्कं ।**
**विसहर-विस-निन्नासं, मंगल-कल्लाण-आवासं ।।१।।**
**विसहर-फुलिंग-मंतं, कंठे धारेइ जो सया मणुओ ।**
**तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठजरा जंति उवसामं ।।२।।**
**चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ ।**
**नरतिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्ख-दोगच्चं ।।३।।**
**तुह सम्मत्ते लद्धे, चिंतामणि-कप्पपायवब्भहिए ।**
**पावंति अविग्घेणं, जीवा अयरामरं ठाणं ।।४।।**

**इअ संथुओ महायस ! भत्ति-भर-निब्भरेण हियएण ।**
**ता देव ! दिज्ज बोहिं, भवे भवे पास ! जिणचंद ।।५।।**

पद- संपदा - अक्षर-१८५

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थः**

**उवसग्गहरं-पासं, कम्म-घण-मुक्कं, विसहर-विस-निन्नासं ।**
**मंगल-कल्लाण-आवासं पासं वंदामि ।।१।।**
*उपसर्गहर-पार्श्वं, कर्म-घन-मुक्तं, विषधर-विष-निर्नाशम् ।*
*मंगल-कल्याण-आवासं पार्श्वं वन्दे ।।१।।*

जिनके पास उपसर्ग को दूर करनेवाले पार्श्व यक्ष हैं (अथवा जिनका सामीप्य उपसर्ग को दूर करता है), कर्मों के समूह से जो मुक्त हैं, सर्प के विष का जो अत्यंत नाश करनेवाले हैं (तथा) जो मंगल और कल्याण के स्थानभूत हैं, ऐसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं वंदन करता हूँ ।।१।।

**जो मणुओ विसहर-फुलिंग-मंतं सया कंठे धारेइ ।**
**तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठजरा उवसामं जंति ।।२।।**
*यो मनुजः 'विसहरफुलिंग' मन्त्रं सदा कण्ठे धारयति ।*
*तस्य ग्रहरोगमारी-दुष्टज्वरा उपशमं यान्ति ।।२।।*

जो मनुष्य विषहर फुलिंग मंत्र को हमेशा कंठ में धारण करता है, उसके ग्रह-रोग-मारी-दुष्टबुखार शांत हो जाते हैं ।।२।।

**मंतो दूरे चिट्ठउ, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होइ ।**
**जीवा नरतिरिएसु वि दुक्ख-दोगच्चं न पावंति ।।२।।**
*मन्त्रः दूरे तिष्ठतु, तव प्रणामोऽपि बहुफलो भवति ।*
*जीवा नरतिर्यक्ष्वपि दुःख-दौर्गत्यं न प्राप्नुवन्ति ।।३।।*

मंत्र तो दूर रहे, आपको किया हुआ प्रणाम भी बहुत फल देनेवाला है। उससे मनुष्यगति या तिर्यंचगति में भी जीव दुःख और दारिद्रय को प्राप्त नहीं करता ।।३।।

**चिंतामणि-कप्पपायवब्भहिए तुह सम्मत्ते लद्धे ।**
**जीवा अविग्घेणं अयरामरं ठाणं पावंति ।।४।।**
*चिन्तामणिकल्पपादपाभ्यधिके तव सम्यक्त्वे लब्धे ।*
*जीवाः अविघ्नेन अजरामरं स्थानं प्राप्नुवन्ति ।।४।।*

चिंतामणि (रत्न) और कल्पवृक्ष से अधिक ऐसा तुम्हारा सम्यक्त्व प्राप्त होने से जीव निर्विघ्नता से अजरामर स्थान को प्राप्त करते हैं ।।४।।

**महायस ! भत्ति-भर-निब्भरेण हियएण इअ संथुओ ।**
**ता देव ! जिणचंद ! पास ! भवे भवे बोहिं दिज्ज ।।५।।**
*(हे) महायशः ! भक्ति-भर-निर्भरेण हृदयेन इति (मया) संस्तुतः ।*
*तस्मात् (हे) देव ! जिनचन्द्र ! पार्श्व ! भवे भवे बोधिं देहि ।।५।।*

हे महायशस्वी ! मैने संपूर्ण भक्ति भाव से भरे हृदय द्वारा आपकी स्तुति की है, इसलिए हे देव ! जिनों में चंद्र समान श्री पार्श्वनाथ भगवंत! (मुझे) जन्मोजन्म जिनधर्म की प्राप्ति रूप बोधि दें।।५।।

## विशेषार्थ :

**उवसग्गहरं पासं पासं वंदामि-** उपसर्ग का नाश करनेवाला पार्श्व नाम का यक्ष जिनके पास है, वैसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं वंदन करता हूँ।

देव, मनुष्य या तिर्यंच संबंधी उपद्रव उपसर्ग कहलाते हैं। उपसर्ग को जो दूर करे, उसे 'उवसग्गहर' कहते हैं । "उवसग्गहरं" शब्द "पासं" शब्द का विशेषण है। पार्श्वनाथ भगवान के अधिष्ठायक पार्श्वयक्ष पार्श्वनाथ भगवान के प्रति अनन्य भक्तिभाववाले हैं । इसलिए 'ये प्रभु दुनिया में सर्वश्रेष्ठ हैं, वे ही मेरे सुख के कारण हैं' - ऐसा मानकर जो लोग पार्श्व प्रभु की भक्ति, आदर, सत्कार करते हैं, उनके देवादि कृत उपसर्गों को दूर करने का कार्य पार्श्वयक्ष करते हैं, इसलिए पार्श्वयक्ष को 'उवसग्गहरं' - उपसर्गों को नाश करनेवाले कहा गया है ।

"उवसग्गहरं पासं" यह सामासिक पद 'पासं' अर्थात् पार्श्वनाथ भगवान का विशेषण है । पूरे पद का 'उपसर्ग को हरनेवाले ऐसे पार्श्व यक्ष जिनकी

सेवा में हैं, ऐसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ' ऐसा अर्थ प्राप्त होता है अथवा पहले पासं शब्द का अर्थ समीपम् करें तो उपसर्ग को दूर करनेवाला सामीप्य-सान्निध्य है जिनका ऐसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ उपसर्गहर यह विशेषण पार्श्वनाथ भगवान के लिए प्रयोग न कर पार्श्वयक्ष के लिए प्रयोग किया गया है। उससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि, जिनके भक्त में भी ऐसी शक्ति है, उन भगवान में कितनी शक्ति होगी! इसके अतिरिक्त, देव भी परमात्मा के भक्त हैं, ऐसे उल्लेख द्वारा परमात्मा का पूजा-अतिशय सूचित किया गया है।

कल्याणार्थी आत्माएँ समझती हैं कि - **"श्रेयांसि हि बहु विघ्नानि भवन्ति"** - कल्याणकारी धर्म की साधना में सैंकडों विघ्न आने की संभावना रहती है और अपना ऐसा सत्त्व नहीं है कि, उपसर्ग या परिषह रूप विघ्न के तूफान के बीच में भी हम धर्म में स्थिर रह सकें, इसीलिए स्थिरतापूर्वक धर्म के मार्ग में आगे बढ़ना हो, तो धर्म में आनेवाले विघ्न को रोकने के लिए पार्श्वनाथ परमात्मा की असीम भक्ति करनी चाहिए क्योंकि, पार्श्वनाथ भगवान की अत्यंत भक्ति करने से उनके प्रति भक्ति भाववाले पार्श्वयक्ष विघ्नों का जरूर निवारण करते हैं । ऐसे विचार से वे आत्माएँ पार्श्वनाथ भगवान के प्रति अत्यंत भक्तिवाली बनती हैं। इस तरह पार्श्वयक्ष के लिए प्रयोग किया हुआ, यह विशेषण सार्थक ही है ।

**कम्मघणमुक्कं**[4] - घनकर्म से मुक्त हुए (पार्श्वनाथ) भगवान को ।

4. पहली व्युत्पत्ति में कर्मों को मेघ की उपमा दी गई है और यहाँ पार्श्वनाथ भगवान की आत्मा को चन्द्र की उपमा देकर इन कर्मों ने उनको आच्छादित किया था । परन्तु अब उनसे भगवान मुक्त हो गए है, ऐसा बताया गया है ।

**कर्माणि ज्ञानावरणीयाद्यष्ट तानि जीवचन्द्रमसो ज्ञानांशुमण्डलाच्छादकत्वात् घना इव जलदा इव कर्मघनाः ।**

दूसरी व्युत्पत्ति में 'घन' का अर्थ दीर्घकाल पर्यंत रहनेवाले अथवा ज्यादा प्रदेश वाले ऐसा करके घातिकर्मों को 'घन' शब्द से अभिप्रेत किया है ।

**घनानि दीर्घकालस्थितिकानि बहुप्रदेशाग्राणि वा यानि घातिकर्माणि तैर्मुक्तं त्यक्तम् ।**

घनकर्म अर्थात् घातिकर्म । पार्श्वनाथ भगवान ज्ञानावरणीयादि घातिकर्म का नाश करके अनंत ज्ञानादि गुणसंपत्ति के स्वामी बने हैं। अनंत आनंदमय लोकोत्तर स्वरूप को उन्होंने प्राप्त किया है । ऐसे स्वरुप वाले परमात्मा को स्मरण में लाने से, पार्श्वनाथ भगवान के प्रति पूज्यभाव बढ़ता है । **"मेरा भी यही स्वरूप है और इस परमात्मा की भक्ति करके मुझे भी अपने इस स्वरूप को प्राप्त करना है ।"** वैसी भावना की वृद्धि होती है । यह विशेषण परमात्मा की आंतरिक संपत्ति का सूचक है और वह हमें अपनी आंतरिक संपत्ति प्राप्त करवाने के लिए आदर्शभूत है। ज्ञानावरणीयादि कर्म से रहित ऐसे परमात्मा की उपस्थिति करवाने द्वारा उनका **ज्ञानातिशय** बताया है ।

**विसहर-विस-निन्नासं** - विषधरों के विष का संपूर्ण नाश करनेवाले को,

श्रद्धा और बहुमानपूर्वक पार्श्वनाथ भगवान का नामस्मरण, नाम का जाप या उनके अभिषेक का न्हवणजल विषधर-जहरीले सर्प या नाग के जहर का या जहरीले जंतु से चढ़े ज़हर का अवश्य नाश करता है। जिस ज़हर से तत्काल प्राण का वियोग होता है, वैसा ज़हर भी पार्श्वनाथ प्रभु के नामस्मरण मात्र से नाश होता है, इसलिए प्रभु विषधर के विष का निर्मूल-नाश करनेवाले कहलाते हैं ।

साधना करने की इच्छावाले कितने साधकों का इतना सत्त्व नहीं होता कि, बाह्य विघ्नों में उनका मन टिक सके, जब उन्हें पता चलता है कि इन भगवान का स्मरणादि सर्पादि का जहर भी उतार सकता है और जब उन्हें दृढ़ विश्वास होता है कि सामान्य विघ्न तो उनके नाम मात्र से भी जरूर नष्ट हो जाएँगे, तब वे पार्श्वनाथ भगवान की भक्ति में विशेष रूप से जुड़ते हैं । इस विशेषण द्वारा परमात्मा का बाह्य प्रभाव भी कितना विशिष्ट है वह बताया है तथा विघ्नों के नाशक के रुप में परमात्मा का **अपायापगम** अतिशय बताया है ।

**मंगल-कल्लाण-आवासं** - मंगल और कल्याण के स्थानभूत (परमात्मा को),

शुभ को लाए और अशुभ को खत्म करें, वह मंगल है और सुख को जो लाए - सुख को जो दें, वह कल्याण है ।

मंगल अर्थात् विपत्तियों का उपशमन और कल्याण का तात्पर्य है संपत्तियों का उत्कर्ष । पार्श्वनाथ भगवान ऐसे मंगल और कल्याण के आधारस्थम्भ हैं, इसलिए उनके दर्शन, वंदन या उनकी सेवा करनेवाली आत्माएँ भी मंगल और कल्याण का पात्र बनती हैं । परमात्मा के वचनानुसार जीवन जीने से ही जीव का कल्याण होता है । इस शब्द से प्रभु का वचनातिशय भी प्रदर्शित होता है । इस विशेषण द्वारा बताया गया है कि, जिन्हें ज़हर आदि का बाह्य उपद्रव नहीं है, उनके लिए भी ये भगवान मंगल और कल्याण करनेवाले हैं, इसलिए मंगल और कल्याण की कामना करनेवालों को भी इस भगवान की भक्ति अवश्य करनी चाहिए ।

**पासं वंदामि** - ऐसे पार्श्वनाथ भगवान को मैं वंदन करता हूँ ।

यह शब्द बोलते समय साधक आत्मा को चार विशेषणों से युक्त परमात्मा नजर के समक्ष आने चाहिए और होना चाहिए कि

*"मोक्ष की साधना आसान नहीं है, विघ्नों से भरी हुई है, तो भी पार्श्वनाथ भगवान की भक्ति करने से संतुष्ट हुए पार्श्वयक्ष अवश्य मेरे विघ्नों का विनाश करेंगे, इसलिए उनकी भक्ति में तो जुड़ना ही है और जैसे भगवान संपूर्ण कर्म से मुक्त हुए हैं, उनका ध्यान करके मुझे भी उनकी तरह सब कर्मों से मुक्त होना है । यही मेरा साध्य है । इस साध्य को सिद्ध करते हुए बाह्य-आभ्यंतर अनेक विघ्न आनेवाले हैं, परन्तु जिनके स्मरण मात्र से विषधर के विष का नाश होता है, ऐसे अचिंत्य सामर्थ्यवाले तथा मंगल और कल्याण के स्थानभूत पार्श्वनाथ भगवान ही मेरे सभी विघ्नों का विनाश करके मुझे सर्व कल्याण की प्राप्ति करवानेवाले हैं ।*

इस प्रकार पार्श्वप्रभु के दर्शन करने से उनके प्रति भक्ति अत्यंत उल्लसित होती है, बहुमान भाव बढ़ता है और बहुमानपूर्वक बार-बार की गई भक्ति आत्मिक सुख में विघ्न करनेवाले कर्मों का विनाश करके पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन करवाती है । उससे उत्तरोत्तर चित्त की निर्मलता होने से भक्ति के लिए अनुकूल संयोगों की विशेष प्राप्ति होती है। उससे विशेष भक्ति करके आत्मा सद्गति की परंपरा द्वारा परमपद को प्राप्त कर सकती है ।

पार्श्वनाथ भगवान की स्तवना करके, अब उनके नामपूर्वक मंत्र का प्रभाव कैसा है, यह बताते हैं -

**विसहर-फुलिंग मंतं कंठे धारेइ जो सया मणुओ, तस्स गह-रोग-मारी-दुट्ठजरा जंति उवसामं -** जो मनुष्य हमेशा विषहर फुलिंग मंत्र को कंठ में धारण करते हैं, उनके ग्रह, रोग, मारी, दुष्टज्वर आदि शांत हो जाते हैं ।

देव से अधिष्ठित हो और पाठ से जो सिद्ध हो, उसे मंत्र कहते हैं । मनन करनेवाली आत्मा का सदा रक्षण करे, वह मंत्र[5] है। 'विसहर फुलिंग' नामक पार्श्वनाथ भगवान का यह मंत्र, धरणेन्द्र और पद्मावती से अधिष्ठित है । इस गाथा में मंत्र का मात्र नाम दिया गया है । पूरा मंत्र नहीं है। यह पूरा मंत्र **"ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमिऊण पास विसहर वसह जिण फुलिंग ह्रीं श्रीं नमः"** स्वरूप सत्ताइस अक्षर का बना है । यह संपूर्ण मंत्र तथा उसकी विधि वास्तव में तो गुरु से जाननी चाहिए क्योंकि गुरु भगवंत जीव की योग्यता का निश्चय करके, उनकी योग्यता के अनुसार मंत्र के सेवन की विधि वगैरह बता सकते हैं । मंत्रों की शक्ति महान होती है। योग्य-आत्माएँ विधिवत् उनकी उपासना करें, तो उनके तन-मन-धन का रक्षण तो होता ही है, परन्तु उसके उपरांत समाधि सहित अनेक इच्छित संपत्ति की प्राप्ति भी होती है और अयोग्य आत्मा के हाथ में गया हुआ मंत्र बहुत बार स्व-पर के महान अनर्थ का कारण भी बनता है ।

5. मननात् त्रायत इति मन्त्रः ।

'विसहर-फुलिंग' नाम के इस मंत्र को जो मनुष्य कंठ में सदा धारण करता है अर्थात् इस मंत्र को जो कंठस्थ करके दिन-प्रति उसका जाप करता है, उसका स्मरण करता है, उसकी ग्रहकृत पीड़ाएँ, प्लेग जैसे रोग, दुष्ट बुखार आदि शांत हो जाते हैं ।

यहाँ 'मनुज' शब्द लेने का एक कारण यह है कि - मंत्र साधना मनुष्य ही कर सकते हैं और दूसरा कारण यह है कि - मंत्र साधना भी सभी मनुष्य नहीं कर सकते, परन्तु 'मनु' अर्थात् मंत्र और 'ज' अर्थात् मंत्र साधना की विधि को जाननेवाले मंत्रज्ञ । मंत्र की विधि को जाननेवाले अगर मंत्र की साधना करें, तो तत्काल फल मिलता है और विधि से अज्ञात आत्मा मंत्र-जाप करे, तो विशेष फल की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए मूल में 'मनुज' शब्द ग्रहण किया है ।

मंत्र को बताकर अब मंत्र का फल बताते हैं -

जो साधक इस मंत्र का सदा जाप करते हैं, उन्हें शनि, मंगल आदि ग्रहकृत कोई तकलीफ हो अथवा वात, पित्त और कफ़ के वैषम्य से कोई रोगादिकृत पीड़ा हो अथवा प्लेग, मारी जैसे रोग हुए हों या दुट्ठजरा=दुष्ट बुखार=ऐकांतरिय वगैरह बुखार आता हो, तो वह शांत हो जाता हैं ।

अगर **'दुट्ठजरा'** शब्द में **दुट्ठ** और **जरा** दो शब्द को अलग करें, तो दुट्ठ का अर्थ दुष्ट लोगों द्वारा दी गई पीड़ा और जरा का अर्थ किसी भी प्रकार का बुखार, ऐसा भी अर्थ हो सकता है ।

यह गाथा बोलते हुए ऐसी संवेदना होती है कि, पार्श्वनाथ भगवान का कैसा अद्‌भुत माहात्म्य है । उनके नाम से अंकित मंत्र का जाप करने से भी बाह्य उपद्रवों से साधक का रक्षण होता है । आधि, व्याधि, उपद्रव सभी शांत हो जाते हैं।

मंत्र बताने का मतबल ऐसा नहीं है, कि रोगादि को दूर करने के लिए सदा इस मंत्र का जाप करना ही चाहिए, परन्तु ऐसा कहने के द्वारा तो मंत्र

का सामर्थ्य कैसा विशिष्ट है, वह बताया है । रोगादि के समय में अगर समाधि न टिकती हो तो असमाधिकारक इन रोगादि के निवारण के लिए मंत्र जाप की इच्छा रखनी भी गलत नहीं है क्योंकि, रोग सहन करने मात्र से कर्म का क्षय नहीं होता, कर्म का क्षय तो समाधिपूर्वक रोग सहन करने से होता है । यहाँ साधक का लक्ष्य मंत्र द्वारा सिर्फ रोग को दूर करने का नहीं होता, पर समाधि पाने का होता है ।

मंत्र साधना का फल बताया, परन्तु जो मंत्र साधना करने में समर्थ नहीं है, उसे क्या करना चाहिए ? इसलिए अब सर्वजन के लिए यथा सम्भव प्रणाम का क्या महत्त्व है, वह बताते हैं ।

**चिट्ठउ दूरे मंतो तुज्झ पणामोऽवि बहुफलो होइ -** (वह) मंत्र तो दूर रहा, आपको किया हुआ प्रणाम भी महान फलवाला है ।

पूर्व गाथा में मंत्र का माहात्म्य बताया; परन्तु मंत्र की साधना हर एक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है । मंत्र की साधना तो महासात्त्विक और धैर्ययुक्त पुरुष ही कर सकता है और यह मंत्र साधना सब को फल दे, वैसा भी एकांत नहीं है । मंत्र की विधिपूर्वक आराधना करने वाली पुण्यवान आत्मा को मंत्र के अधिष्ठायक देव तत्काल फल देते हैं, जब कि अन्य को प्रयत्न से और विलंब से फल मिलता है । ऐसी मंत्र साधना के लिए विशेष सामर्थ्यवान आत्मा ही योग्य है, अन्य नहीं । तो फिर सर्वजन समुदाय के लिए पार्श्वनाथ भगवान किस प्रकार फलदायक हैं, यह बताते हुए स्तोत्रकार कहते हैं - 'मंत्र की बात तो दूर रही, इस पार्श्वनाथ भगवान को सहृदय से किया गया प्रणाम मात्र भी सामान्य नहीं, परन्तु बहुत फलों को देनेवाला है ।'

**नरतिरिएसु वि जीवा, पावंति न दुक्ख-दोगच्चं -** (आपको प्रणाम करनेवाले) जीव, मनुष्य और तिर्यंच योनि में भी दुःख और दारिद्रय को प्राप्त नहीं करते ।'

जो आत्माएँ पार्श्वनाथ भगवान को विशिष्ट भावपूर्वक प्रणाम करती हैं, वैसी लघुकर्मी आत्माएँ तो उस भव में ही मोक्ष के सुख को प्राप्त करती हैं, कर्म की बहुलता के कारण कदाचित् उन आत्माओं को, उसी भव में मोक्ष न मिले, तो भी पार्श्वनाथ प्रभु को भावपूर्वक प्रणाम करने मात्र से उन्हें ऐसा विशिष्ट पुण्य बंध होता है, जिसके कारण महाऋद्धि, समृद्धि से युक्त देवादि भवों की प्राप्ति होती है और प्रभु कृपा से मिली रिद्धि-सिद्धि में भी उन्हें ऐसी आसक्ति नहीं होती, जिससे भव की परंपरा बढ़े ।

कदाचित् परमात्मा को प्रणाम करने के पूर्व यदि किसी जीव ने मनुष्य या तिर्यंच का आयुष्य बांधा हो, तो उसे मनुष्य या तिर्यंच के भव में उत्पन्न तो होना ही पड़ता है, परन्तु उस भव में भी उसको अन्य मनुष्य-तिर्यंच जैसे दुःख सहन नहीं करने पड़ते । सामान्य से तो मनुष्य या तिर्यंच का भव दुःख बहुल होने की संभावना है, फिर भी पार्श्वनाथ भगवान को प्रणाम करने के द्वारा पुण्य की प्राप्ति और पाप के अनुबंध शिथिल होने से उसे मनुष्य-तिर्यंच के भव में भी दुःख या दरिद्रता नहीं आती ।

**नर तिरिएसु वि** में जो **वि=अपि** है, उससे यह अर्थ निकलता है कि ऐसे तो मनुष्य या तिर्यंच का भव दुःख से भरपूर है, उसमें दुःख न आए, वह संभव नहीं है फिर भी पार्श्वनाथ भगवान के प्रणाम का प्रभाव ऐसा है कि वहाँ भी जीव को दुःख या दौर्गत्य (दारिद्रता-निर्धनतादि) की प्राप्ति नहीं होती ।

**जिज्ञासा : नर तिरिएसु** शब्द द्वारा मनुष्य और तिर्यंच गति में दुःख-दौर्गत्य प्राप्त नहीं होता, ऐसा कहा, परन्तु नरकगति में दुःख नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं कहा ?

**तृप्ति :** मनुष्य-तिर्यंच के भव ऐसे हैं, जहाँ दुःख न हो ऐसा भी हो सकता है । जन्म लेने के बाद शालिभद्र जैसे भाग्यवान पुरुष आजीवन सुखी हो सकते हैं । तिर्यंच में भी राजभवन में रहनेवाले हाथी, घोड़े आदि के भव में सुख की संभावना है, परन्तु नरक का भव तो संपूर्ण दुःखमय है,

वहाँ सुख की कल्पना मात्र भी सम्भव नहीं है, इसलिए यहाँ नरक गति नहीं ली होगी, ऐसा लगता है ।

यह गाथा बोलते हुए साधक को होता है कि,

*"मन की एकाग्रतापूर्वक मंत्र जाप न हो सके, तो भी कोई चिंता नहीं । भावपूर्वक इस परमात्मा को प्रणाम करूँगा, तो भी मुझे दुःख या दुर्गति तो नहीं मिलेगी । इसलिए भावपूर्वक प्रणाम करने का सतत प्रयत्न करूँ ।"*

प्रणाम का फल बताने के बाद अब पार्श्वनाथ प्रभु से प्राप्त हुआ सम्यक्त्व कैसा है ? वह बताते हैं -

**तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणि-कप्पपायवब्भहिए -** चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभाव वाला तुम्हारा सम्यक्त्व-सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से

सम्यक्त्व[6] आत्मा का गुण है, परन्तु मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के आवरणों से आत्मा का यह गुण आच्छादित रहता है । वास्तविक तरीके से भगवान के दर्शन करने से अर्थात् 'परमात्मा गुणवान, सर्वोत्तम हैं', ऐसे भावपूर्वक दर्शन करने से अथवा भगवान के वचनों को सुनने या समझने से मिथ्यात्व के आवरण विलीन होते हैं और आत्मा का सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है । यह गुण प्रगट होने पर आत्मा परम विवेकी बनती है । जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों की उसमें श्रद्धा प्रगट होती है, इसीसे वह हेय को हेय रूप में और उपादेय को उपादेय के रूप में स्वीकार सकती है ।

यह गुण भगवान के निमित्त से प्रगट होता है, इसीलिए यहाँ 'तेरा सम्यग्दर्शन' अर्थात् 'भगवान का सम्यग्दर्शन' ऐसा कहा है ।

विशुद्ध श्रद्धा स्वरूप सम्यग्दर्शन को जगत् में सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले चिंतामणि रत्न या कल्पवृक्ष से भी अधिक प्रभाव वाला कहा है । उसका कारण यह है कि, चिंतामणि रत्न या कल्पवृक्ष पुण्यवान आत्मा को भौतिक

6. सम्यक्त्व की विशेष व्याख्या के लिए देखें 'नमुत्थुणं सूत्र' का 'बोहिदयाणं' पद ।

इष्ट सुख दे सकते हैं । जब कि सम्यग्दर्शन तो पुण्यानुबंधी पुण्य के सृजन द्वारा जब तक मोक्ष सुख प्राप्त न हो, तब तक अनेक भवों में भव्यात्मा को उत्तम भोग की सामग्री तो प्राप्त करवाता ही है । साथ ही साथ श्रेष्ठ सामग्री में भी आसक्ति वगैरह संक्लिष्ट भावों से जीव को दूर रखता है तथा उज्ज्वल परिणाम प्रगट करता है और औदार्यादि गुणों की वृद्धि करके अंत में मोक्ष तक पहुँचाने में सहायक बनता है ।

**पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं -** जीव निर्विघ्नता से अजरामर स्थान को प्राप्त करता है ।

चिंतामणि रत्न और कल्पवृक्ष से भी अधिक महिमा वाला सम्यग्दर्शन आत्मा को जब प्राप्त होता है, तब वह किसी भी प्रकार के विघ्न के बिना अजर-अमर स्थान को अर्थात् जहाँ वृद्धावस्था या मृत्यु नहीं है, ऐसे मुक्तिरूपी स्थान को प्राप्त करता है ।

एक बार यह सम्यग्दर्शन गुण प्राप्त होने के बाद उसे टिकाकर रखनेवाले को मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होती । मोक्षमार्ग में विघ्न करनेवाला मिथ्यात्व मोहनीय कर्म है। सम्यग्दर्शन के काल में इस कर्म का उदय हो नहीं सकता । अतः सम्यग्दृष्टि साधक जब तक मुक्ति को प्राप्त नहीं करते, तब तक संसार में भी उनको देव या मनुष्य के भव में जिनधर्म की प्राप्ति, सद्गुरु का योग, धर्मश्रवणेच्छा तथा धर्मकार्य करने के लिए आवश्यक अनुकूलताएँ मिलती ही रहती हैं । मुक्ति की प्राप्ति में विघ्नकारक कोई संयोग उन्हें प्राप्त नहीं होता। फलतः मोक्षमार्ग पर उनका अविरत प्रयाण चालू ही रहता है ।

**जिज्ञासा :** सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद भी उससे पतन और चौदहपूर्वी का निगोदगमन तो शास्त्र में सुना है, तो सम्यक्त्व को अविघ्न से मोक्ष का कारण किस प्रकार कहा जाता है ?

**तृप्ति :** सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद सामान्य से ऐसा नियम है कि सम्यग्दृष्टि जीव को कोई विघ्न नहीं आता; फिर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति के बाद विघ्न आएँ, ऐसा जो सुनने को मिलता है, वह सम्यक्त्व प्राप्त होने से

पहले बंधे हुए गाढ़ कुकर्म के कारण होता है । ये कर्म ही सम्यक्त्व से जीव को दुर्गति में भ्रमण करवाते हैं। ऐसे कर्म अगर पूर्व में न बंधे होते, तो सम्यक्त्व गुण ही ऐसा है, जो किसी भी प्रवृत्ति को करते हुए जीव को मोक्ष मार्ग के अनुकूल परिणाम ही पैदा करवाता है ।

संसार में रही हुए सम्यग्दृष्टि आत्माएँ रागादि दोषों की वृद्धि का कारण बनें वैसी भोग, युद्ध वगैरह की प्रवृत्ति करती हैं, ऐसा बहुतबार देखने को मिलता है। वैसी प्रवृत्ति प्रायः निकाचित् कर्म के उदय के कारण होती है । परन्तु तब भी इन आत्माओं की मनोदशा जगत् के जीवों से न्यारी ही होती है । वे भोग को रोग मानती हैं । युद्धादि की क्रिया भी वे औचित्य के पालन के लिए ही करते हैं । इसलिए ऐसी क्रिया करते हुए भी वे भव्यात्माएँ कर्म तो नहीं बांधती, परन्तु पूर्व में बांधे हुए निकाचित कर्मों का नाश करती हैं । इसलिए ही महामहोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने अध्यात्मसार नाम के ग्रंथरत्न में कहा है कि,

विषयाणां ततो बंध-जनने नियमोऽस्ति न ।
अज्ञानिनां ततो बन्धो-ज्ञानिनां तु न कर्हिचित् ।
सेवते सेवमानोऽपि, सेवमानो न सेवते । अध्यात्मसार-५:२४-२५

विषयों के भोग से कर्मबंध की प्राप्ति हो ही वैसा कोई एकांत[7] नियम नहीं है; क्योंकि अज्ञानी आत्माएँ जिन विषयों के भोग से कर्मबंध करती हैं, उन्हीं विषयों के भोग से ज्ञानी पुरुष कर्मनाश करते हैं ।

7. ये बात निश्चयनय की अपेक्षा से है । निश्चयनय पाँचों इन्द्रियों के विषय को कर्मबंध का कारण नहीं मानता, परन्तु विषय के उपभोग काल में होनेवाले रागादि के परिणाम कर्मबंध का कारण है, ऐसा मानता है । जड़ पदार्थों को अपने से भिन्न माननेवाले परम विवेकी ज्ञानी पुरुष कर्मोदय से कदाचित् विषयों में प्रवृत्ति करें, तो भी उससे रंजित नहीं होते । इसीलिए ऐसे अनासक्त पुरुष के लिए विषयों का भोग कर्मबंध का कारण नहीं बनता ।
जब कि व्यवहार नय की अपेक्षा से पाँचों इन्द्रिय के विषय कर्मबंध का कारण बनते हैं क्योंकि, ज्यादातर विवेक विहीन अज्ञानी पुरुष ही विषय के उपभोग में रागादि भाव करते हैं और उससे उसे कर्मबंध भी होता है । इसीलिए बहुलता को नज़र में रखते हुए व्यवहार नय से विषयों को भी कर्मबंध का कारण माना गया हैं ।

इसीलिए कहा गया है कि विषयों पर आसक्ति वाला जीव विषयों का सेवन न करते हुए भी सेवन करता है और ज्ञानी पुरुष विषयों को अनासक्त भाव से सेवते हुए भी नहीं सेवते। यह बात स्पष्ट करते हुए पू. रूपविजयजी महाराज पंचकल्याणक की पूजा में कहते हैं कि - सम्यग्दर्शन गुण से अलंकृत ऐसी तीर्थंकर की आत्माएँ...

भोग करम फल रोग तणी परे, भोगवे रामा निवारी रे,
परवाला परे बाह्य रंग धरे, पण अंतर अविकारी रे... श्री जिनराज

यह गाथा बोलते हुए साधक को लगता है कि,

*"प्रभु ! इस जगत् में सर्वश्रेष्ठ वस्तु आपका सम्यग्दर्शन है । आपकी भक्ति के प्रभाव से एक बार भी यदि यह गुण मुझे प्राप्त हो जाए, तो मेरी मोक्षप्राप्ति निश्चित हो जाए ।"*

ऐसी संवेदना के साथ, भावपूर्वक अगर यह गाथा बोली जाए, तो साधक आत्मा इस गुण को सहजता से प्राप्त कर सकती है ।

सम्यक्त्व का महत्त्व बताकर अब उसकी प्रार्थना करते हैं ।

**इअ संथुओ महायस ! भत्तिभर-निब्भरेण हियएण, ता देव ! दिज्ज बोहिं भवे भवे पास जिणचंद !** हे महायशस्वी ! भक्ति से भरे हुए हृदय से इस प्रकार (पूर्व की गाथा में बताई गई रीति से) मैंने आपकी स्तुति की है, इसलिए हे देव ! हे जिनों में चंद्र समान पार्श्वनाथ भगवान ! (आप मुझे) जन्मोजन्म बोधि प्रदान करें ।

इस गाथा में तीन विशेषणों से युक्त पार्श्वनाथ भगवान के पास साधक अपनी स्तवना के फलरूप बोधि की याचना करता है ।

यहाँ पार्श्वनाथ भगवान को महायशस्वी, देव तथा जिनचंद्र-ऐसे तीन विशेषणों से वर्णित किया गया है ।

**'महायस'** अर्थात् महा-यशस्वी । सभी दिशा में फैलनेवाली प्रशंसा को यश कहते हैं । तीर्थंकर परमात्मा महासत्त्ववाले होते हैं । वे स्वयं संसार

सागर से पार हुए होते हैं और अन्य को पार उतारने में प्रबल निमित्त बनते हैं। ऐसे लोकोत्तर पुरुष का यश तीनों लोक में और दसों दिशाओं में फैला हुआ होता है । इसी से महान यशवाले उन्हें महायशस्वी कहा जाता है ।

**'देव'** शब्द यहाँ देवाधिदेव के लिए प्रयोग किया गया है । जगत् में सुख-संपत्ति की अपेक्षा से देव महान गिने गए हैं, परन्तु परमात्मा तो ऐसे देवों के भी देव हैं, क्योंकि वे अनंत सुख के स्वामी हैं । अनंत ज्ञानादि संपत्ति के मालिक हैं, इसलिए वे ही वास्तविक अर्थ में देवों के देव है।

**'जिणचंद'** - जो जिनों में चंद्र हैं, वे 'जिनचंद्र' हैं। रागादि शत्रु को जीतनेवाले को जिन कहते हैं । 'जिन' से सामान्य केवलि भगवंतों आदि का भी समावेश होता है । ऐसे जिनों में भी विशिष्ट गुण और विशेष प्रकार के पुण्य के कारण पार्श्वनाथ भगवान चंद्र तुल्य हैं, इसलिए वे जिनचंद्र कहलाते हैं ।

इस तरह पार्श्वनाथ भगवान को विविध विशेषणों से संबोधित करके, साधक अपने भक्ति भरे हृदय से प्रभु के पास प्रार्थना करता है -

*"हे देव ! पूर्व की गाथा में जिन शब्दों द्वारा आपके मंत्र या प्रणाम का माहात्म्य बताया है, उन शब्दों से मैंने भक्ति भरे हृदय से सम्यग् प्रकार से आपकी स्तुति की है । उस कारण से और जिस कारण से आपका सम्यक्त्व मोक्ष सुख देता है, उस कारण से आप मुझे भवोभव सम्यक्त्व प्रदान करें ।"*

भक्ति से भरे हृदय से जब भक्त भगवान के पास कुछ याचना करता है, तब वह अंतरंग बहुमान के परिणाम से ऐसी भावना करता है -

"हे महायशस्वी प्रभु ! आप अचिंत्य शक्ति से युक्त हैं, आपका नाम या मंत्रजाप भी महाप्रभाववाला है, आपको किया गया प्रणाम भी अत्यंत फलदायी है और आपका सम्यक्त्व तो अंत में मोक्ष तक पहुँचाता ही है, इसलिए आप ही मेरे लिए आराध्य देव हैं, आप ही मेरे सुख के साधन हैं,

आप ही मेरे कल्याण को करनेवाले हैं, अपार संसार से तारनेवाले भी आप ही हैं, आप ही प्राण हैं, त्राण हैं, शरण्य हैं। आप सम्यग्दर्शन आदि गुणों के स्वामी होने से वह देने में समर्थ हैं; इसलिए हे देवाधिदेव ! मुझे आप से और कुछ नहीं चाहिए केवल भवोभव सन्मार्ग में सहायक बनें, ऐसा सम्यग्दर्शन मुझे दीजिए ।"

मोक्ष का स्वरूप जिन्होंने जाना है और मोक्ष का अनन्य कारण सम्यक्त्व है, वैसा जिन्हें प्रतीत हुआ है, वैसी आत्माओं के मन में इस जगत् में बोधि-सम्यक्त्व से बढ़कर और कुछ नहीं है । वे समझते हैं कि, एक बार भी अगर यह सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाएगा, तो इस जगत की नाशवंत श्रेष्ठ चीज़ या भौतिक सुख तो क्या, आत्मा का शाश्वत सुख भी मुझे मिले बिना नहीं रहेगा, इसलिए वे परमात्मा को संबोधित करते हुए कहते हैं - "इस भक्ति के बदले मुझे और कुछ नहीं चाहिए, जब तक मुक्ति न मिले, तब तक हर एक भव में मुझे बोधि-सम्यक्त्व दीजिए ।

मुमुक्षु आत्मा समझती है कि - यह बोधि आसानी से मिल जाए, वैसी चीज़ नहीं है। लोकोत्तर पुरुष के पास भावपूर्ण हृदय से पुनः पुनः प्रार्थना करने से ही यह मुझे मिल सकेगी।

यद्यपि, पार्श्वनाथ भगवान तो वीतराग हैं । वीतराग कभी किसी को कुछ नहीं देते, तो भी भावपूर्ण हृदय से की गई परमात्मा की प्रार्थना ही उस प्रकार के कर्म का क्षयोपशम करवाकर, उन गुणों को प्राप्त करवाती है । 'हाँ' प्रार्थना सच्चे हृदय से होनी चाहिए, शब्द मात्र से नहीं; और इस प्रार्थना के अनुरूप जीवन में यत्न भी होना चाहिए । भाव से की गई प्रार्थना के साथ स्वशक्ति के अनुसार तत्त्वमार्ग को समझने का और आचरण करने का प्रयत्न ही साधक के लिए सम्यक्त्व प्राप्ति का कारण बनता है ।

# जयवीयराय सूत्र (प्रार्थना सूत्र)

**सूत्र परिचय :**

इस सूत्र में मोक्षमार्ग के लिए अत्यंत उपयोगी भवनिर्वेद आदि आठ वस्तुओं की भगवान से माँग की गई है, इसलिए इसका दूसरा नाम **प्रार्थना सूत्र** है । यह प्रार्थना मन की एकाग्रता और दृढ़ निश्चय के साथ करनी होती है, इसलिए इसे **प्रणिधान सूत्र** भी कहते हैं ।

यह सूत्र बोलने से पहले इतना ख्याल में होना चाहिए कि, (१) हमें क्या माँगना है ? (२) किससे माँगना है ? और (३) याचक के रूप में हमें कैसा होना चाहिए ? इस सूत्र में जो चीजें माँगनी है, वे संसार रसिकों के लिए व्यर्थ है; परन्तु जिन्हें संसार से छूटने की साधना करनी हो, वैसे अपुनर्बंधकादि जीवों के लिए ही ये चीजें उपयोगी हैं। इसलिए यह सूत्र बोलने से पहले साधक को अपने आप से पूछना चाहिए कि, क्या संसार से जी ऊब गया है ? मुझे मोक्ष अच्छा लगता है ? मुझमें मोक्ष की इच्छा जगी है ? यदि इन तीनों प्रश्नों का जवाब "हां" है, तो ही मैं इस प्रार्थना का अधिकारी हूँ ।

मुझे यह माँग ऐसे-वैसों के पास नहीं करनी है, परन्तु अचिंत्य शक्तियुक्त, परहित में रत, भव से अलिप्त ऐसे अरिहंत परमात्मा के पास

करनी है तथा ऐसी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए कि, 'ऐसे नाथ से माँगने से मुझे ये चीजें ज़रूर मिलेंगी। जो माँगना है, वो भी उत्तम गुणसंपत्ति का कारण बने ऐसी श्रेष्ठ चीज है । जगत् में इससे उत्तम अन्य कुछ नहीं है इतना ध्यान में रहे, तो यह सूत्र बोलते हुए हृदय में अलौकिक भाव प्रकट हुए बिना नहीं रहता।

जयवीयराय सूत्र अर्थात् परमात्मा के साथ अंतर की बात करके, आंतरिक प्रीति और मनोरथों को शब्ददेह देने का सूत्र । इस सूत्र के पहले दो पदों द्वारा साधक परमात्मा को अपने हृदय मंदिर में स्थापित करता है। उसके बाद अपने नज़दीक में ही रहे हुए परमात्मा को संबोधित करते हुए कहता है कि, "हे नाथ ! मेरा सामर्थ्य नहीं है कि मोक्ष की साधना के लिए ज़रूरी भवनिर्वेद आदि गुण मैं स्वयं प्राप्त कर सकूँ, इसलिए आप से बिनती करता हूँ कि, आपके प्रभाव से मुझे ये गुण प्राप्त हों!"

इस सूत्र का उपयोग मध्यम या उत्कृष्ट चैत्यवंदन करते समय होता है। 'नमोऽत्थु णं' आदि सूत्र के माध्यम से भगवान की भक्ति करने से भगवान के प्रति बहुमानभाव, भक्तिभाव, पूज्यभाव अत्यंत उल्लसित होता है । तब लगता है कि - "इस जगत् में इनसे विशेष सामर्थ्य वाला दूसरा कोई नहीं है। सर्व गुणों के धारक, सर्व सुख के कारक ये परमात्मा ही हैं। इसलिए वास्तविक सुख के साधन भी मुझे वहीं से मिलेंगे" । ऐसे बहुमानपूर्वक इस सूत्र द्वारा साधक परमात्मा को प्रार्थना करें -

१. भव का निर्वेद=संसार से ऊब
२. मोक्षमार्ग का अनुसरण
३. इष्टफल की सिद्धि
४. लोकविरुद्ध का त्याग
५. गुरुजन की पूजा
६. परोपकार का करण
७. सुगुरु का योग
८. सुगुरु के वचन का हमेशा पालन ।

ये आठ वस्तुएँ मिलें ।

मोक्षांग जैसी इन आठ माँगों को बतानेवाले इस सूत्र की पहली दो गाथाओं के ऊपर याकिनी महात्तरासूनु आचार्य श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी

महाराज ने ललित विस्तरा ग्रंथ में विवरण किया है । ये दो गाथाएँ गणधरकृत हैं और बाकी की गाथाएँ पूर्वाचार्यकृत है, जो उचित लगने से इस सूत्र में जोड़ी गई हैं। उनमें पाँच मांग हैं । जिससे कुल-१३ गुणों की प्रार्थना इसमें होती है ।

अंतिम संस्कृत श्लोक लघुशांति-स्तवना तथा बृहच्छांति स्तवन के अंत में भी बोला जाता है तथा मांगलिक प्रसंगों की पूर्णाहूति में भी उसका उपयोग होता है।

**मूल सूत्र :**

**जय वीयराय ! जग-गुरु !, होउ ममं तुह पभावओ भयवं ! ।**
**भव-निव्वेओ, मग्गाणुसारिआ, इट्ठफल-सिद्धी ।।१।।**
**लोग-विरुद्ध-च्चाओ, गुरुजण-पूआ परत्थकरणं च ।**
**सुहगुरु-जोगो, तव्वयण-सेवणा आभवमखंडा ।।२।।**
**वारिज्जइ जइ वि नियाणबंधणं वीयराय ! तुह समये ।**
**तह वि मम हुज्ज सेवा, भवे भवे तुम्ह चलणाणं ।।३।।**
**दुक्ख-क्खओ, कम्म-क्खओ, समाहिमरणं च बोहि-लाभो अ ।**
**संपज्जउ मह एअं, तुह नाह ! पणामकरणेणं ।।४।।**
**सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।**
**प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।५।।**

**पद-२०** **संपदा-२०** **अक्षर-१११**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और अर्थ :**

**जय वीयराय ! जग-गुरु !, भयवं ! तुह पभावओ ममं भव-निव्वेओ, मग्गाणुसारिआ, इट्ठफल-सिद्धि, लोग-विरूद्धच्चाओ, गुरुजण-पूआ, परत्थकरणं सुहगुरु-जोगो आभवमखण्डा तव्वयणसेवणा च होउ ।।१-२।।**

*जय वीतराग ! जगद्गुरो ! भगवन् ! तव प्रभावतः मम भव-निर्वेदः, मार्गानुसारिता,*

*इष्टफल-सिद्धिः, लोकविरुद्ध-त्यागः, गुरुजन-पूजा, परार्थकरणं, शुभगुरु-योगः, आभवम् अखण्डा तद्वचन-सेवना च भवतु ।।१-२।।*

हे वीतराग ! हे जगत् के गुरु ! आपकी जय हो ।

हे भगवंत ! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता, इष्टफल की प्राप्ति, लोकविरुद्ध कार्य का त्याग, गुरुजन की पूजा, परार्थकरण, सुगुरु का योग और उनके वचन की सेवा मोक्ष न मिलें, तब तक अखंडित प्राप्त हों ।।१-२।।

**वीयराय ! जइ वि तुह समये नियाण-बंधणं वारिज्जइ ।**
**तह वि मम भवे भवे तुम्ह चलणाणं सेवा हुज्ज ।।३।।**
*वीतराग ! यद्यपि तव समये निदान-बन्धनं वार्यते ।*
*तथापि मम भवे भवे तव चरणयोः सेवा भवतु ।।३।।*

हे वीतराग ! यद्यपि आपके शास्त्र में नियाणा करने का निषेध किया गया है, फिर भी मुझे भवोभव आपके चरणों की सेवा प्राप्त हो ।।३।।

**नाह ! तुह पणाम-करणेणं मह दुक्ख-क्खओ, कम्मक्खओ ।**
**समाहि-मरणं च बोहि-लाभो अ एअं संपज्जउ ।।४।।**
*नाथ ! तव प्रणाम-करणेन मम दुःख-क्षयः, कर्म-क्षयः ।*
*समाधिमरणं च बोधि-लाभश्च एतद् सम्पद्यताम् ।।४।।*

हे नाथ ! आपको प्रणाम करने से मुझे दुःख का क्षय, कर्म का क्षय, समाधिमरण और बोधि का लाभ प्राप्त हो ।।४।।

**सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।**
**प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं शासनं जयति ।।५।।**

सभी मंगलों में मांगल्यभूत, सभी कल्याणों के कारणभूत, सभी धर्मों में प्रधानभूत ऐसा जैनशासन जय प्राप्त करें ।।५।।

**विशेषार्थ :**

**जय वीयराय ! -** हे वीतराग[1] ! आपकी जय हो !

हे वीतराग ! इस शब्द द्वारा भगवान को संबोधन किया है । संबोधन दूरस्थ व्यक्ति को नज़दीक बुलाने के लिए या नज़दीक में रहे व्यक्ति का ध्यान खींचने के लिए किया जाता है । भगवान तो अपने से सात राजलोक दूर हैं, तो भी भक्ति भाव से और ज्ञान के उपयोग से भगवान को हृदय मंदिर में स्थापित करने के लिए प्रभु को संबोधन करके भक्त कहता है, "हे वीतराग ! आपकी जय हो !"

यद्यपि वीतराग परमात्मा ने रागादि शत्रु के ऊपर स्वयं विजय प्राप्त की हुई ही है तो भी, जैसे विजयवंत राजा के पास जानेवाला प्रजावर्ग जब राजा से कहता है, 'हे राजन् ! आपकी जय हो ! आपकी विजय हो !' तब यह शब्द राजा के जय को प्राप्त करवाने के लिए नहीं बोले जाते, परन्तु राजा के प्रति आदर और बहुमानपूर्वक राजा के राज्य विस्तार की इच्छा से बोले जाते हैं, उसी प्रकार भगवान के लिए बोले गए ये शब्द भगवान के प्रति आदर और बहुमान भाव को व्यक्त करनेवाले हैं तथा इन शब्दों द्वारा साधक ऐसी इच्छा व्यक्त करता है कि, भगवान का शासन इस जगत् में विस्तार को प्राप्त करें! अर्थात् बहुत सारे जीव भगवान के इस शासन को स्वीकार करके अनंतकालीन सुख की प्राप्ति करें ।

अथवा इन शब्दों द्वारा साधक परमात्मा को बिनती करता है - "हे नाथ! आप मेरे हृदय मंदिर में बिराजमान रहें ! अपनी आज्ञा को मेरे चित्त में प्रवर्तित करें कि, जिससे अनंतकाल से अड्डा जमाकर बैठे मोहमातंग (मातंग = जंगली हाथी) का मुझे कोई भय न रहे । आज तक मेरे ऊपर आक्रमण करके उसने मुझे बहुत प्रकार से पीड़ा दी है। आज तक हमलें में सदैव उसकी ही विजय हुई है । हे नाथ ! अगर आप मेरे साथ रहें, मेरे मन

---

1. *वीतराग : वीतोऽपेतो रागो यस्य स वीतरागः -*
*अर्थात् जिसका राग चला गया है वह वीतराग ।*

मंदिर में बिराजमान रहे तो मोह की ताकात नहीं है कि मुझे हरा सके । आपके सांनिध्य में मेरी विजय निश्चित है।" इसी भाव में पूज्य महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने कहा है -

*तुझ बिना में बहु दुःख लह्यां तुझ मिले ते केम होय रे ?*
*तुं मुज हृदयगिरिमां वसे सिंह जो परम निरीह रे.*
*कुमत मातंगना जूथथी तो किशी प्रभु मुझ बिह रे... ?*

*- सीमंधरस्वामी के १२५ गाथा के स्तवन की ११वीं ढाल*

ऐसे भावपूर्वक साधक वास्तव में तो प्रभु के जय द्वारा मोह के सामने युद्ध में अपनी ही जय चाहता है । अपनी चित्तभूमि के ऊपर मोह तथा वीतराग के वचन के बीच के युद्ध में वीतराग के वचनों की जय चाहता है।

**जगगुरु** - हे जगत् के गुरु ! (आप की जय हो ।)

तत्त्व को यथार्थ स्वरुप में जो कहे, वह गुरु[2] है । धर्मास्तिकाय आदि पाँच द्रव्य जहाँ हैं, उसे जगत् कहते हैं । पंचास्तिकाय स्वरूप जगत् जिस स्वरूप में रहा है, उसी स्वरूप में उसे देखकर, जो लोगों के आगे उसका यथार्थ कथन करते हैं, उन्हें जगत् के गुरु कहते हैं ।

भगवान केवलज्ञान द्वारा जगत् के पदार्थों को यथार्थ रुप में देखते हैं और जैसा देखते हैं, वैसा ही जगत् के आगे वचनातिशय द्वारा कथन भी करते हैं । इसलिए परमात्मा को जगत् गुरु कहा गया है । परमात्मा को गुरु के रूप में संबोधित करने से उनके केवलज्ञान और मार्गदेशकता नाम के दो महान गुण सूचित होते हैं । पूर्व वाक्य द्वारा जैसे रागादि शत्रु पर विजय की आशंसा व्यक्त की गई है, वैसे 'हे जगत् के गुरु आपकी जय हो', ऐसा कहने से, अज्ञानता आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशंसा व्यक्त की गई है ।

ये दोनों पद बोलते हुए साधक वीतराग परमात्मा को संबोधन करता है और संबोधित किए गए भगवान उसके हृदय कमल में पधारे हैं, ऐसा अनुभव करता है ।

---

2. गृणाति-उपदिशति तत्त्वं इति गुरुः ।

**होउ ममं तुह पभावओ भयवं !** - "हे भगवान ! मुझे आपके प्रभाव से (भवनिर्वेद आदि की) प्राप्ति हो !"

**भयवं**[3] शब्द भगवान् का वाचक है । 'भगवान्' शब्द में भग शब्द के चौदह अर्थ होते हैं । उसमें सूर्य और योनि छोड़कर बारह प्रकार के अर्थ जिनमें घटित होते हों, उन्हें भगवान कहते हैं ।

**'भयवं'** संबोधनवाचक शब्द है । हृदय मंदिर में बिराजमान भगवान को संबोधन कर प्रार्थना करते हुए साधक कहता है -

"हे भगवान ! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद आदि गुणों की प्राप्ति हो! भवनिर्वेद आदि जिन आठ वस्तुओं की प्रार्थना करनी है, वे मुख्यतया आंतरिक भाव हैं । अनादिकाल से टेढी चाल चलनेवाली आत्मा की पौद्गलिक सुखों की तरफ की चाल को बदलकर, उसे वहाँ से उन्मुख कर आत्माभिमुख करना, यह आसान कार्य नहीं है । यह कार्य अपने सामर्थ्य से संभव भी नहीं है । इसलिए साधक ऐसा कार्य करने के लिए अनंत शक्ति के स्वामी परमात्मा को 'भयवं' कहकर संबोधन करता है । प्रभु के साथ इस तरह भक्ति के तंतु से जुड़कर मन के उपयोग द्वारा सात राजलोक दूर रहे प्रभु को अपने हृदय सिंहासन पर स्थापित करता है और इस तरह निकट आए हुए प्रभु से बिनती करता है कि, *'हे भगवान ! आप गुणों के भंडार हैं, करुणा के सागर हैं, अचिंत्य शक्ति से युक्त हैं, इसलिए हे प्रभु ! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद आदि की प्राप्ति अवश्य होगी, ऐसा मुझे विश्वास है ।'*

**प्रभाव** का अर्थ है प्रसाद-कृपा । उपास्य तत्त्व के प्रति अत्यंत बहुमान का भाव, अंतरंग भक्ति का भाव, वहीं वास्तव में प्रसाद है, वहीं उनकी

---

3. भयवं - भगोऽर्क-ज्ञान माहात्म्य-यशो वैराग्य-मुक्तिषु ।
रूप-वीर्य-प्रयत्नेच्छाश्री-धर्मैश्वर-योनिषु ।।
'भग' शब्द सूर्य, ज्ञान, माहात्म्य, यश, वैराग्य, मुक्ति, रूप, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, लक्ष्मी, धर्म, ईश्वर और योनि अर्थ में प्रयुक्त होता है।

कृपा है यह बहुमान भावरूप कृपा गुणों की प्राप्ति में विघ्न करनेवाले कर्मों का विनाश करके, गुणों की प्राप्ति करवाकर साधक को साधना मार्ग में आगे बढ़ा सकती है ।

द्रोणाचार्य के प्रति बहुमान और अंतरंग भक्ति के कारण जैसे एकलव्य द्रोणाचार्य की धनुर्विद्या को प्राप्त कर सका, वैसे भगवान के प्रति भक्ति का भाव, साधक को जरूर इन गुणों में आगे बढ़ा सकता है ।

आपके प्रभाव से मुझे यह प्राप्त हो, ऐसा कहने से मानादि कषाय को भी स्थान नहीं मिलता । करोडों की संपत्ति स्व प्रयत्न से प्राप्त करनेवाला कुलवान पुत्र कभी नहीं कहता कि, 'यह मेरा है' या 'यह मैंने प्राप्त किया है,' बल्कि कहता है कि, 'यह बुजुर्गों का है, उनकी कृपा से मिला है ।' ऐसा कहने से मानकषाय घटता है, नम्रतादि गुणों का विकास होता है, गुणप्राप्ति का यहीं मार्ग है ।

भगवान तो वीतराग है। रागी पुरुष की तरह वे किसी को देने की इच्छा वाले भी नहीं होते और किसी को देते भी नहीं हैं । सिद्धांत को जानने वाली आत्मा यह बात जरूर समझती है, साथ में यह भी समझती है कि, 'चाहे भगवान न दे तो भी भगवान के निमित्त के बिना जीव शुभ भाव में प्रयत्न नहीं कर सकता और शुभ भाव के बिना अशुभ भाव से बंधे कर्म का विनाश नहीं होता । इस तरह इन गुणों की प्राप्ति में भगवान ही निमित्त है और गुणों की प्रार्थना गुणवान के पास ही की जाती है । इसलिए 'भगवान से मुझे ये सभी प्राप्त हों।' यह कहना योग्य ही है ।

यह पद बोलते हुए श्रेष्ठ कोटि के रूपवाले, परम ऐश्वर्यवाले और केवलज्ञानादि गुणों वाले भगवान मेरे सामने हैं, मेरे हृदय में बिराजमान हैं। ऐसी कल्पना करके उनके प्रभाव से ही इन गुणों की प्राप्ति होगी, ऐसे दृढ़ विश्वास और श्रद्धापूर्वक प्रार्थना करें कि,

*"हे भगवंत ! मुझे सुखी होना है । सच्चा सुख मोक्ष में है । मोक्षमार्ग पर चलने के लिए गुणों की प्राप्ति अनिवार्य है, इसलिए*

*मोक्ष के लिए जरूरी गुणों की प्रगति के लिए मैं सहृदय प्रार्थना करता हूँ । हृदयपूर्वक की गई मेरी इस प्रार्थना को आप सुनें ! और हे कृपानिधान ! कृपा करके मुझे इन गुणों का दान करें ।"*

अब साधना के लिए सबसे पहले जिसकी जरूरत है, उस गुण की प्रार्थना करते हुए कहते हैं

**भवनिव्वेओ** - भव से उद्विग्न ।

"हे भगवान ! आपके प्रभाव से मुझे भवनिर्वेद की प्राप्ति हो ।"

भवनिर्वेद अर्थात् संसार से उद्वेग, संसार के प्रति अरुचि , संसार से भाग जाने की इच्छा, संसार का अबहुमान ।

भव अर्थात् संसार । जब तक आत्मा संसार में है, तब तक उसे एक भव से दूसरे भव में जाना ही पड़ता है । जन्म लेते ही जीव का शरीर के साथ संबंध होता है । शरीर के कारण उसे अनेक ज़रूरतें खड़ी होती हैं । उन ज़रुरतों को पूरी करने के लिए उसे अथग प्रयत्न करना पड़ता है। विवेकहीन जीव उस प्रयत्न से पुनः नए कर्म बाँधते हैं और कर्म बाँधकर अनंत दुःखों का भाजन बनते हैं। दुःखों को सहन करते करते कहीं थोड़ा पुण्य बंध होता है और उससे थोड़ा सुख भी मिलता है, परन्तु वह सुख काल्पनिक और दुःख से राहत (अल्पकालीन दुःख का प्रतिकार) मात्र होता है ।

यही वास्तविकता है, इसके बावजूद भी मिथ्यात्व के कारण जिसकी बुद्धि भ्रमित हो गई है, पाँच इन्द्रियों के विषयजन्य सुख से अलग आत्मा का सुख जिसने कभी देखा ही नहीं है, उसे दुःख से राहत रूप भौतिक सुख ही सारभूत लगते हैं । उस सुख में पराधीनता, भय, श्रम आदि अनेक दुःख होने के बावजूद उस तरफ उसकी दृष्टि भी नहीं जाती । भौतिक सुख सामग्री की प्राप्ति में ही उसे आनंद आता है और उसकी अप्राप्ति में दुःख होता है।

इस प्रकार अनंतकाल से परिभ्रमण करते करते जब कर्ममल का नाश होता है और पुण्योदय से साधक को किसी महापुरुष का सुयोग होता है और जब उनके मुख से धर्मशास्त्र का श्रवण करने को मिलता है, तब उसे इस संसार की वास्तविकता का ख्याल आता है । संसार के पराधीन सुखों की तुलना में आत्मा के स्वाधीन सुख ही सच्चे हैं, धन-संपत्ति आदि के भय-युक्त सुख की तुलना में गुणसंपत्ति का निर्भय सुख उत्तम है । रागादिजन्य स्त्री के सुख की तुलना में उपशम भाव का आत्मीय सुख ज्यादा आनंददायक है, ऐसा उसे समझ में आता है।

ऐसे भौतिक सुख में आसक्त होने से नरक-तिर्यंच गति के अनंत दुःख भुगतने पड़ते हैं। आज मिले हुए ये सुख भी आत्मा की दुर्दशा, करनेवाले हैं, कर्मबंध करवाकर अनेक भवों की परंपरा का सृजन करनेवाले हैं, ऐसा समझने के कारण उन सुखों से छूटने की कुछ इच्छा भी होती है ।

इसके बावजूद अनादिकाल के कुसंस्कार, विषयों से ही सुख पाने की बुरी आदत और कषायों को ही सुख के साधनभूत मानने की वृत्ति के कारण साधक पुनः उसमें प्रवृत्त होकर वहाँ आसक्त हो जाता है। इस सुख का त्याग करने की उसकी भावना नष्ट हो जाती है। संसार के मोह से मुक्ति पाने की उसकी इच्छा नामशेष हो जाती है और फिर से वह दुःखी होता है । अपनी यह अवस्था देखकर उसे लज्जा आती है । परन्तु स्वयं इस परिस्थिति से निकलने का अपना सामर्थ्य न देखकर, वह यह पद बोलते हुए भगवान से प्रार्थना करता है -

*"हे नाथ ! मुझ पर कृपा करें और विषय-कषाय से भरे इस संसार पर मुझे उद्वेग पैदा करवाएँ जिससे मैं मोक्ष और उसके अनंत सुखों के लिए कुछ यत्न कर सकूँ । जब तक मेरा इस संसार का राग कम नहीं होंगा, उसकी आसक्ति कम नहीं होगी, तब तक मुझे धर्म में रस नहीं पड़ेगा, उसमें रुचि नहीं बढ़ेगी और*

*मेरे कर्म का अंत नहीं आएगा। इसलिए हे प्रभु ! सबसे पहले आप मुझे भव का वैराग्य प्राप्त करवाए। जिससे वास्तविक अर्थ में मैं धर्म की शुरुआत कर सकूँ ।"*

**जिज्ञासा :** संसार के रागी आत्माओं के लिए यह प्रार्थना योग्य है, परन्तु जो संसार से विरक्त हैं और मोक्षमार्ग के लिए सतत प्रयत्न भी करते हैं, वैसी आत्माओं के लिए यह प्रार्थना क्या योग्य है ?

**तृप्ति :** संसार से विरक्त हुई आत्मा के लिए भी यह प्रार्थना योग्य है क्योंकि भवनिर्वेद का परिणाम तरतमता के भेद से अनेक प्रकार का है । इस प्रार्थना द्वारा जिस स्तर का भवनिर्वेद प्राप्त हुआ हो, उससे ऊपर के स्तर का भव-वैराग्य प्राप्त करने के लिए यह प्रार्थना योग्य ही है ।

और, विषय एवं कषाय भी संसार (भव) ही है, इसलिए विषय-कषाय संपूर्ण नष्ट न हों, तब तक यह प्रार्थना की जाती है ।

संक्षेप में भवनिर्वेद की यह प्रार्थना भवनिर्वेद जिसे प्राप्त नहीं हुआ उसे प्राप्त करने के लिए और जिसे प्राप्त हो गया है, उसे उससे ऊँचे स्तर का भवनिर्वेद प्राप्त करने के लिए योग्य ही है ।

भवनिर्वेद आने के बाद मोक्षमार्ग के ऊपर चलने की योग्यता प्राप्त होती है, इसलिए अब मार्ग के अनुसरण की दूसरी प्रार्थना करते हुए कहते हैं -

**मग्गाऽणुसारिया -** (मोक्ष) मार्ग का अनुसरण[4] करना ।

---

4. मार्ग चेतसोऽवक्रगमनं, मुञ्जङ्गमगमननलिकायामतुल्य । विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः ।

'मार्ग' की ऐसी व्याख्या 'नमोऽत्थुणं' सूत्र में की गई है । सामान्यतः साँप टेढा चलने के स्वभाववाला है, परन्तु नली (पाईप) में प्रवेश करते समय सीधा चलता है, उसी तरह अनादिकाल से जीव विषय-कषायरूप टेढे मार्ग पर चलने के स्वभाववाला है; परन्तु ऐसा जीव भी जब कर्म की लघुता प्राप्त करता है, तब वह मोक्षमार्ग प्राप्त करवानेवाली शास्त्रानुसारी सीधी चाल चलता है । उसकी इस सीधी चाल को ही 'मार्ग' कहते हैं। अपने गुणों को प्रकट करवानेवाला उसका यह सीधा गमन मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होता है, इसलिए उसे 'क्षयोपशम विशेष' कहा जाता है । यहाँ साधक भगवान के पास स्वयं ऐसे मार्ग का अनुसरण करे, ऐसी प्रार्थना करता है ।

*"हे भगवंत ! आपके प्रभाव से मुझे मोक्षमार्ग का अनुसरण प्राप्त हो !"*

कर्म और कषाय रहित आत्मा की शुद्ध अवस्था मोक्ष है और उसे प्राप्त करने का तप-संयम आदि रूप उपाय ही मोक्षमार्ग है । इस मोक्षमार्ग का अनुसरण करना, मार्गानुसारिता है ।

मोह की पराधीनता के कारण अनादिकाल से जीव अनंत सुख को देनेवाले मोक्षमार्ग की उपेक्षा करके विषय और कषाय रूप संसार के मार्ग पर चलता है। यही जीव की वक्रता है, यही जीव की अनादि की टेढ़ी चाल है ।

मोहनीय कर्म मंद होने के बाद किसी उत्तम पुरुष का योग होता है, तब उसके वचन से कुमार्ग-सुमार्ग का बोध होता है और कुमार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर चलने की भावना होती है। फिर भी अनादिकालीन संस्कारों से उत्पन्न होने वाला भौतिक सुख का आकर्षण उसे मोक्षमार्ग में टिकने नहीं देता। इसीलिए यह पद बोलते साधक प्रभु के पास प्रार्थना करते हुए कहता है -

*"हे नाथ ! अनादिकाल से मेरा जो कुमार्गगमन है, अनादिकाल की जो मेरी टेढ़ी चाल है, उसे रोककर आप मुझे मोक्षमार्ग की तरफ गमन करवाएँ। आप मेरी वृत्ति और प्रवृत्ति को मोक्षमार्ग की तरफ मोड़ें ।"*

*'हे प्रभु ! मैंने धर्म तो बहुत बार किया है, परन्तु वह भी इस लोक या परलोक के सुख के लिए ही । तप-त्याग भी बहुत किया है, परन्तु वह भी मानादि कषाय के लिए। पर धर्म करके मुझे कषायों का त्याग करना है, मुझे आत्मा का आनंद प्राप्त करना है, ऐसी भावना से मैंने कभी धर्म नहीं किया होगा। इसलिए हे विभु ! सबसे पहले मुझे आप आत्माभिमुख बनाएँ ! आत्मा के आनंद के लिए तप-त्याग में प्रयत्न करवाएँ, तो ही मुझमें मार्गानुसारिता नाम का गुण प्रकट होगा ।'*

**जिज्ञासा :** मार्गानुसारिता नाम का यह गुण जिसे प्राप्त हो गया हो, उसके लिए यह प्रार्थना क्या योग्य है ?

**तृप्ति :** यह मार्गानुसारिता भी तरतमता के भेद से अनेक प्रकार की है। जिसे सामान्य स्तर की मार्गानुसारिता प्राप्त हुई हो, वह उससे विशेष प्रकार की मार्गानुसारिता के लिए प्रार्थना करें, तो वह योग्य ही है। जब तक मोक्ष की प्राप्ति न हो, तब तक हर एक भव में इससे अधिक से अधिक स्तर की मार्गानुसारिता मुझे मिलें! ऐसी प्रार्थना ही उन भावों को निष्पन्न करने के लिए अत्यंत प्रयत्न करवाती है, उसके प्रति प्रीति को बढ़ाती है और उन भावों के संस्कारों को ज्यादा सुदृढ़ बनाती है । जिससे इस भव में तो वह वस्तु मिलती है, परन्तु जन्म जन्मांतर में भी उसकी प्राप्ति सुलभ बनती है ।

मिथ्यात्व-मोहनीय-कर्म मंद होने पर जब जीव अपुनर्बंधक दशा को प्राप्त करता है, तब इस गुण का प्रारम्भ होता है और सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति, निरतिचार संयम और निर्विकल्प अवस्था में उत्तरोत्तर इस गुण की वृद्धि होने से जब यह जीव अयोगी अवस्था में सर्व संवरभाव का संयम प्राप्त करता है, तब इस गुण की पराकाष्ठा प्राप्त होती है। इस गुण की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिए हर एक भूमिका के साधक के लिए यह प्रार्थना योग्य है ।

मोक्षमार्ग में सहायक सामग्री मिले, तो ही साधक मोक्षमार्ग पर निर्विघ्न आगे बढ़ सकता है, इसलिए मोक्षमार्ग में अनुकूल सामग्री रूप अब तीसरी इष्टफल सिद्धि की प्रार्थना की जाती है ।

**इट्ठफलसिद्धि -** इष्टफल की सिद्धि, मनोवांछित फल की प्राप्ति ।

*"हे भगवंत! मुझे आपके प्रभाव से इष्टफल की प्राप्ति हों ।"*

साधु या श्रावक के लिए सर्वोत्कृष्ट इष्ट वस्तु मोक्ष ही है । यह अंतिम फल ही उसे इच्छित होता है। इस मोक्ष की प्राप्ति में अंतरायभूत कर्मों के उदय में अगर समाधि न टिके, तो साधक को समाधि में बाधक ऐसे विघ्नों को दूर करने की इच्छा भी होती है। यह इच्छा उसके लिए आनुषांगिक इष्ट है, इस प्रकार मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में जो उपयोगी बने, जिसका परिणाम

सुंदर हो, जिससे मोक्षमार्ग में आगे बढ़ा जा सके, उसमें कोई अवरोध खड़ा न हो, वैसी चीज़ की प्राप्ति ही यहाँ इष्टफल सिद्धि है।

जो चीज मिलने के बाद मोक्षमार्ग में निर्विघ्न आगे बढ़ा जा सके और यदि वह न मिले, तो मोक्षमार्ग का प्रयाण अटक जाए, वैसी कोई भी चीज़ हो वह यहाँ 'इष्टफल'[5] अर्थात् मनोवांछित फल के रूप में ग्रहण करनी है। ऐसी 'इष्टफल की सिद्धि' की प्रार्थना इस पद से की गई है ।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्यजी महाराज इष्टफल की सिद्धि की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि, इष्टफलसिद्धि[6] अर्थात् आलोक के अभिमत (इष्ट) अर्थ की प्राप्ति जिससे चित्त स्वस्थ रहे - निराकुल रहे और उस चित्त की स्वस्थता से उपादेय धर्म में प्रवृत्ति हो सके, इस तरह धर्म की वृद्धि में विघ्नभूत न बने, परन्तु उपकारक बने ऐसे इहलौकिक फल की प्राप्ति ही इष्टफल की सिद्धि कहलाती है ।

जिसका परिणाम इष्ट (मोक्षरूप अंतिम इष्ट) आनेवाला हो, वह इष्ट और जिसका परिणाम अनिष्ट - खराब आनेवाला हो, वह अनिष्ट । दूसरे तरीके से सोचें तो भवनिर्वेद, मार्गानुसारिता अकबंध टिकी रहे, मोक्षमार्ग में आगे बढ़ सकें, उसमें आनेवाले अवरोध दूर हों, उसकी प्रार्थना 'इष्टफल सिद्धि' की प्रार्थना बनती है ।

---

5. इहलौकिक सामग्रियाँ इष्ट या अनिष्ट दोनों तरीके से प्राप्त हो सकती हैं। जिस वस्तु की प्राप्ति से रागादि की वृद्धि हो, विषयों का आकर्षण बढ़े वह अनिष्ट वस्तु है और जिसकी प्राप्ति से दान, शील, और वैराग्यादि भावों की वृद्धि हो, मोक्षमार्ग के प्रयत्न में वृद्धि हो, वह इष्ट वस्तु है ।

6. इष्टफलसिद्धि- इष्टफलसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिः ऐहलौकिकी, यथोपगृहीतस्य चित्तस्वास्थ्यं भवति तस्माच्चोपादेयप्रवृत्तिः । - योगशास्त्र

तथा इष्टफलसिद्धिः = अविरोधिफलनिष्पत्तिः, अतो हीच्छाविधाताभावेन सौमनस्यं, तत उपादेयादरः न त्वयमन्यत्रानिवृत्तौत्सुक्यस्य, इत्ययमपि विद्वज्जनवादः = धर्म की वृद्धि में अविरोधी ऐसे सांसारिक फल की निष्पत्ति इष्टफलसिद्धि है ।

- ललितविस्तरा

संसार छोड़ना ही है, मोक्षमार्ग पर चलना ही है; परन्तु पुण्य की कमी है, अनुकूलता नहीं है, अनुकूलता मिले तो जल्दी छोड़ सकूँ, ऐसी कामना 'इष्टफलसिद्धि' है।

भव से विरक्त आत्मा को सांसारिक पदार्थो से ज्यादा, महत्त्व धर्म का होता है। इसलिए अपनी भूमिका के अनुसार उसे यथाशक्ति धर्म करने की इच्छा होती है। फिर भी सत्त्वहीनता के कारण हर परिस्थिति में उसका मन स्वस्थ नहीं रहता। कभी जीवन के लिए जरूरी धन का अभाव, तो कभी विषयों की आसक्ति वगैरह उसके मन को व्यथित करती है । चिंताओं की वजह से उसका मन धर्म में स्थिर नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में अपने मन को स्वस्थ और समाधि में रखकर धर्ममार्ग में आगे बढ़ाने के लिए साधक यह पद बोलकर परमात्मा से प्रार्थना करता है -

*"हे नाथ ! मैं पामर हूँ । जिससे संयम स्वीकार नहीं कर सकता और संसार में संपत्ति या स्त्री वगैरह के बिना भी नहीं, चलता इसलिए कमनसीबी से कमाने तो जाना ही पड़ता है, धनादि भाग्यानुसार ही मिलनेवाले हैं । तो भी हे नाथ ! आप की कृपा से संपत्ति ऐसी मिले, कि जिससे धर्मसाधना में कोई अवरोध न आए । हे नाथ ! आपकी कृपा से न्याय-नीतिपूर्वक उतना धन मिले कि, जिससे मैं सामायिक आदि धर्मक्रिया स्वस्थ चित्त से कर सकूँ तथा दूसरे अनेक अनर्थ से बचने के लिए मुझे शादी तो करनी ही पड़ेगी - किसी न किसी पात्र के साथ तो जुड़ना ही पड़ेगा । तो भी हे प्रभु ! आपके प्रभाव से मुझे ऐसे पात्र का संयोग हो कि - जिससे मेरा मन मोक्षमार्ग से लेश मात्र भी न हटें ।"*

इस प्रकार श्रावक मोक्षमार्ग में मन को टिकाने के लिए स्त्री, धन या निरोगी शरीर आदि की माँग करे और साधु मोक्षमार्ग की साधना में साधनभूत शरीर को टिकाने के लिए निर्दोष भिक्षा या योग्य स्वास्थ्य आदि की माँग करे, तो उसे भी 'इष्टफलसिद्धि'[5] के रूप में गिना जा सकता है

क्योंकि भवविरक्त आत्मा को लौकिक पदार्थों की अपेक्षा धर्म प्रगति की इच्छा ज्यादा होती है । इसीलिए धर्म में सहायक बननेवाले लौकिक पदार्थ की माँग 'इष्टफलसिद्धि' के रूप में की जाती है ।

इस तरह अंतःकरणपूर्वक परमात्मा के पास प्रार्थना करने से विशिष्ट क्षयोपशम होता है और कर्म निकाचित न हो, तो इष्ट की प्राप्ति हो भी सकती है। इष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर चित्त स्वस्थ बनता है और निराकुलता से मोक्ष के कारणभूत धर्ममार्ग में आगे बढ़ा जा सकता है ।

श्री जैनशासन में दुःखादि को दूर करने के लिए मंत्र, तंत्र, यंत्र एवं स्तोत्र आदि सब है। परन्तु वह मुक्ति के अर्थी के लिए है, क्योंकि मुक्ति का अर्थी जो कुछ करता है, वह मुक्ति के लिए या मुक्ति प्राप्त करने की साधना में आनेवाले अवरोध को टालने के लिए करता है । जिसमें मुक्ति की कामना न हो, जिसे भववैराग्य अच्छा नहीं लगता हो ऐसे मिथ्यादृष्टि को यह मंत्र, तंत्र या यंत्र दिया जाए तो, अनंतलब्धिनिधान श्री गौतमस्वामी ने ऋषिमंडल स्तोत्र में लिखा है कि, **"मिथ्यात्ववासिने दत्ते बालहत्या पदे पदे ।"** मिथ्यात्व से वासित जिसकी बुद्धि है, उसे मंत्रादि देने से एक-एक पद के प्रति बालहत्या का पाप लगता है ।

**जिज्ञासा :** वीतराग परमात्मा के पास रागवर्धक स्त्री, धन या निरोगी शरीर आदि की प्रार्थना करना क्या योग्य है ?

**तृप्ति :** सांसारिक सुख को भुगतने या मौज़ करने के लिए स्त्री, धनादि को भगवान के पास माँगना योग्य नहीं है, परन्तु जिसको मोक्ष की साधना करनी है और ऐसा सत्त्व नहीं है कि सर्वसंग का त्याग कर सके, इस कारण जिसे संसार में रहना पड़ता है, उसे संसार चलाने के लिए धनादि की जरूरत पड़ती है, ये चीजें जब तक न मिलें, तब तक उनके अभाव में मन की स्वस्थता टिक सके, ऐसी स्थिति नहीं हो और जिसके कारण मन संक्लेश से घिरा हुआ रहता हो, आधि-व्याधि-उपाधियों के कारण मन आर्त-रौद्रध्यान से ग्रस्त हो

जाता हो, तब ऐसे साधकों द्वारा अपनी साधना को जीवंत रखने या आगे बढाने के लिए तथा अशुभ ध्यान से बचने के लिए मात्र मन की स्वस्थता टिकाने की यह माँग की जाए, तो वह अयोग्य नहीं हैं, क्योंकि साधक इन सामग्रियों की माँग संसार को पुष्ट करने के लिए नहीं, बल्कि साधना क्षेत्र में आगे बढने के लिए करता है । भव से विरक्त और मोक्षमार्ग की साधना करने की इच्छावाले साधक को मन की स्वस्थता भी दिव्य सुख भुगतने के लिए नहीं चाहिए, परन्तु मन की व्यग्रता में धर्म की आराधना सुंदर तरीके से हो सके ऐसी इच्छा से धर्ममार्ग में आगे बढ़ने और स्थिरतापूर्वक आराधना करने के लिए, उसकी यह माँग है।

जिस श्रावक या साधु को वर्तमान में कोई भी प्रतिकूलता नहीं है, तो भी वह भविष्य में मोक्षमार्ग की वृद्धि में विघ्न करनेवाली किसी अप्रतिकूलता की इच्छा से यह माँग करे, तो वह भी योग्य है, क्योंकि भक्तिपूर्वक ऐसी प्रार्थना इष्ट पदार्थ की प्राप्ति का कारण बनती है ।

मोक्षमार्ग में चलते साधक को भी अनादिकालीन दोष - कुसंस्कार कभी-कभी लोकविरुद्ध कार्य करवाते हैं और धर्मीजन यदि लोकविरुद्ध कार्य करें, तो धर्म का लाघव होता (लघुता होती) है, इसलिए साधक प्रभु के पास चौथी माँग 'लोकविरुद्ध के त्याग' की करता है ।

**लोगविरुद्धच्चाओ** - लोक में जो विरुद्ध है, उसका त्याग ।

*'हे वीतराग ! आपके प्रभाव से शिष्टजन जिसे विरुद्ध मानते हों, वैसे लोकविरुद्ध कार्य का मैं त्याग करपाऊँ ।'*

लोक शब्द से यहाँ सामान्य लोक नहीं, बल्कि शिष्टलोक-सज्जनलोक समझना है। सज्जनलोक में जो कार्य निंदनीय गिना जाता हो, सज्जन लोग जिस कार्य का विरोध करते हों और इस लोक और परलोक में जो खराब फल देनेवाला हो, वैसे हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार आदि कार्यों को लोकविरुद्ध कार्य कहते हैं।

तदुपरांत सामान्यजन जिसे बहुत खराब नहीं मानते, वैसे निंदा, हास्य, मज़ाक आदि कार्य भी सज्जनलोक में निषिद्ध माने जाते हैं, इसलिए धर्मात्मा को ऐसे कार्य का भी त्याग करना चाहिए।

धर्मात्मा धर्म के साथ जुड़े होते हैं, वे जब लोकविरुद्ध कार्य करते हैं, तब लोगों को लगता है कि इन लोगों का धर्म ही ऐसा होगा, उसमें ऐसा करने की छूट होगी। इसलिए लोकविरुद्ध कार्य करने से मात्र अपनी ही कीमत नहीं घटती, परन्तु अपने निमित्त से उत्तम जिनधर्म की भी कीमत घटती है और धर्म का लाघव करनेवाली प्रवृत्ति से धर्मात्मा को भी अत्यंत क्लिष्ट कर्म का बंध होता है । इसलिए धर्म में प्रवृत्ति करने से पहले लोकविरुद्ध कार्य का त्याग करना अत्यंत जरूरी है ।

**लोकविरुद्ध कार्य[7] :**

**१. सर्वजन की निंदा :** किसी का भी बुरा बोलना, निंदा है। दो जन मिलकर जिसकी बात कर रहे हैं, उसी समय उस व्यक्ति के आने पर बात बदलनी पड़े, तो समझना चाहिए कि, वह निंदा है । निंदा सबको अप्रिय है। निंदक को ज्ञानियों ने 'पीठ का माँस खाने वाला'[8] कहा है। सामान्य जन में भी कहावत है - 'करशे पारकी तो जशे नारकी'; ऐसे कड़े शब्दों से निंदा को बुरा कहने के बावजूद भी अनादिकाल की आदत के कारण निमित्त मिलने पर, अपना उत्कर्ष बताने के लिए, अन्य को नीचा दिखाने के लिए, सहनशक्ति के अभाव के कारण अथवा एक बुरी आदत के कारण कभी-कभी तो धर्मात्मा भी दूसरों की निंदा करने लगते हैं ।

---

7. लोक विरुद्ध कार्य : *सव्वस्स चेव निंदा, विसेसओ तह य गुणसमिद्धाणं ।*
*उजुधम्मकरणहसणं, रीढा जणपूयणिज्जाणं ।।८।।*
*बहुजणविरुद्धसंगो, देसाचारलंघणं चेव ।*
*उव्वणभोगो अ तहा, दाणाइ वियऽणं अन्नेउ ।।९।।*
*साहुवसणंमि तोसो, सइ सामत्थंमि अपडिआरो य ।*
*एमाइआइँ इत्थं लोगविरुद्धाइं णेआइं ।।१०।। - पंचाशक०-२*

8. *पिट्ठिमंसं न खाइज्ज़ा ..... ।।४७।। - अध्ययन-८*
*तथा 'पृष्ठिमांसं' परोक्षदोषकीर्तनरूपं 'न खादेत' न भाषेत - श्री दशवैकालिक सूत्र (हारिभद्रीय टीका)*

सामान्यजन की निंदा भी लोकविरुद्ध है, तो जो बहुत लोगों को मान्य हैं, अनेकों के पूजनीय और आदरणीय हैं, ऐसे गुणसंपन्न उत्तम पुरुषों की निंदा तो अत्यंत लोक विरुद्ध कहलाती है । ऐसे व्यक्ति की निंदा करने से बहुत बड़ा वर्ग निंदक का विरोधी बनता है। हृदय की कठोरता के बिना निंदा जैसा लोकविरुद्ध कार्य हो नहीं सकता । कठोर हृदय वाला धर्म के लिए अयोग्य है।

**निंदा का फल :** निंदा से कभी फायदा तो नहीं होता, ऊपर से अत्याधिक नुकशान भुगतना पड़ता है । निंदक को कोई नहीं चाहता, वह सबको अप्रिय लगता है, उस पर किसी को विश्वास नहीं होता। निंदक को उपकारियों की निंदा करने में भी कोई संकोच नहीं होता, क्योंकि वह खुद को महान मानता है, यह अभिमान उससे सब पाप करवाता है। परिणाम स्वरूप वह कर्म से भारी बनता है । सब जगह वह अपयश का भागी बनता है । उसकी उज्ज्वल कीर्ति नष्ट होती है। स्वजन, परजन, लोकजन सब उससे दूर-दूर हो जाते हैं। इस कारण वह अकेलापन अनुभव करता हुआ हताश हो जाता है और कभी इससे आत्महत्या के पथ पर प्रयाण कर सकता है, इसलिए साधक को कभी निंदा के मार्ग पर नहीं जाना चाहिए। निंदा के इस कुसंस्कारों को निकालने के लिए साधक, यह पद बोलते हुए परमात्मा को प्रार्थना करता है -

*"हे नाथ ! आपके प्रभाव से मेरा निंदा का रस खत्म हो जाए !"*

**२. ऋजुधर्मकरण हसँन :** मंद बुद्धिवाले जीवों की स्वबुद्धि के अनुसार की जानेवाली धर्मक्रिया के ऊपर हँसना - हँसी-मजाक करना । सज्जन पुरुष कभी भी किसी की भूल देखें, तो आत्मीयता से (वात्सल्य से) उसकी भूल सुधारने का यत्न करते हैं। यत्न करने के बाद भी अगर वह व्यक्ति न सुधरे, तो माध्यस्थ्य भाव से उसकी उपेक्षा करते हैं, परन्तु हँसी-मजाक या उसका उपहास तो नहीं ही करते । धर्मविषयक जिन जीवों की पूर्ण समझ नहीं है, वैसे नूतन धर्मात्मा की कोई अयोग्य प्रवृत्ति देखकर उपहास करना, उस पर टूट पड़ना, लोकविरुद्ध कार्य है ।

**३. लोकमान्य का अपमान :** लोकपूज्य राजा, मंत्री, सेठ, उनके गुरु वगैरह का तिरस्कार करना-मज़ाक वगैरह करना; लोकविरुद्ध कार्य है।

**४. बहुजनविरुद्ध संग :** जिसने अपनी निंदनीय प्रवृत्ति द्वारा बहुत लोगों को विरुद्ध बनाया हो, वैसे लोगों की संगति करने से धर्म की लघुता होती है और खुद भी कई बार मुसीबत में आ जाते हैं । इससे ऐसे लोगों के संगस्वरूप लोकविरुद्ध का धर्मात्मा को त्याग करना चाहिए ।

**५. देशाचारलंघन :** धर्मात्मा जिस देश में रहता हो, उस देश के अनुरूप उसका आचरण होना चाहिए । उस देश-गाँव, कुल वगैरह में प्रसिद्ध आचारों का उल्लंघन करना, लोकविरुद्ध है। इसलिए विवेकी को उसका भी त्याग करना चाहिए ।

**६. उल्बण भोग :** गृहस्थ जीवन में सर्वथा भोग का त्याग शायद न हो सके, तो भी धर्मीजन के लिए इन्द्रियों के विषयों में अंध बनकर निर्लज्जता से भोग में प्रवृत्ति करना या निम्न स्तरीय वस्त्र वगैरह से शरीर की शोभा बढ़ाना लोकविरुद्ध कार्य है, इसलिए विवेकी को उससे दूर रहना चाहिए ।

**७. स्वयं के दानादि सत्कार्यों का गुणगान करना :** खुद ने किए हुए सत्कार्यों की स्वयं ही प्रशंसा करना, लोकविरुद्ध कार्य तो है ही, इसके अलावा खुद की प्रशंसा करने से सत्कार्य से प्राप्त हुआ पुण्य खर्च हो जाता है । बोने के बाद जैसे आम की गुठली को भूला दिया जाता है, उसी तरह दान करनेवाले को अपना सुकृत भूल जाना चाहिए, तो ही यह दान उसके लिए कल्याणवृक्ष देनेवाला बनता है।

**८. सज्जन के संकट में संतोष :** कोई भी सज्जन आपत्ति में आए, ऐसा प्रायः धर्मी आत्मा नहीं सोचती । राजा आदि की तरफ से सज्जनों पर आई आपत्तियों में आनंद मानना भी लोकविरुद्ध कार्य है ।

**९. सामार्थ्य होने के बावजूद अप्रतिकार :** सज्जनों पर आई आपत्तियों का शक्ति होने के बावजूद प्रतिकार न करना, लोकविरुद्ध कार्य है ।

इन हर एक प्रकार के लोकविरुद्ध कार्य को नज़र के समक्ष रखकर किसी भी प्रकार का लोकविरुद्ध कार्य अपने जीवन में न हो जाए, उसके लिए साधक परमात्मा को यह पद बोलते हुए प्रार्थना करता है -

*"हे नाथ ! अनादिकालीन कुसंस्कारों के कारण स्वयं तो शक्ति नहीं है कि इस निंदा आदि लोकविरुद्ध कार्यों से बच सकूँ, तो भी हे परमात्मा ! आपके प्रभाव से मुझमें ऐसा सामार्थ्य प्रगट हो कि जिससे मैं लोकविरुद्ध कार्य का त्याग कर सकूँ ।"*

आसन्न उपकारी माता-पिता या बुजुर्ग वर्ग की भक्ति किए बिना मोक्ष मार्ग में आगे नहीं बढ़ा जा सकता । इसलिए अब 'गुरुजनपूजा' की पाँचवीं माँग प्रभु से की जाती है ।

**गुरुजनपूआ -** गुरुजनों की पूजा ।

*"हे वीतराग ! आपके प्रभाव से मुझे गुरुजनों की पूजा प्राप्त हो !"*

'गुरुजन'[9] से यहाँ माता, पिता और विद्यागुरु, इन तीनों के संबंधी, वृद्धों और धर्मोपदेशक आदि का बोध होता है । मोक्षमार्ग की साधना में जैसे लोकविरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग जरूरी है, वैसे नज़दीक के उपकारी माता, पिता, कलाचार्य आदि का विनय, बहुमान और भक्ति भी आवश्यक है क्योंकि, बुजुर्गो की पूजा से विनय गुण का विकास होता है, मान-कषाय का विनाश होता है, स्वार्थवृत्ति टूटती है, कृतज्ञता गुण की वृद्धि होती है और लोकोत्तर धर्म की आराधना की भूमिका भी इस लौकिक धर्म से संपन्न होती है । इस प्रकार बुजुर्ग वर्ग के सम्मान का ध्यान रखकर किया हुआ धर्म गौरव को प्राप्त करता है । लोग भी ऐसी धर्मी आत्मा के धर्म की प्रशंसा करते हैं ।

---

9. *गुरुजन - गुरवश्च यद्यपि धर्माचार्य्या एवोच्यन्ते, तथापीह माता-पिताऽऽदयोऽपि गृह्यन्ते ।*
*- यो.स्वो.वृ.प्र. ३*

*माता-पिता कलाऽऽचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा वृद्धा । धर्मोपदेष्टारो, गुरूवर्गः सतां मतः ।*
*- योगबिंदु-श्लो. ११०*

गुरुजन की पूजा का वर्णन करते हुए योगबिंदु ग्रंथ में बताया गया है कि, 'गुरु वर्ग को तीन संध्याओं में नमन करना चाहिए, वे आए तब खड़े होना चाहिए, उनके सामने अत्यंत नम्र होकर बैठना चाहिए, अस्थान पर उनके नाम का उच्चारण भी नहीं करना चाहिए, उनमें कोई दोष हो तो बोलना या सुनना भी नहीं चाहिए, श्रेष्ठ वस्त्र, पात्र उनको प्रदान करने चाहिए, उनकी संपत्ति का अपने स्वार्थ के लिए उपयोग नहीं करना चाहिए, उनको जो पसंद हो वही कार्य करना चाहिए, धर्म को छोड़कर उनको जो अनिष्ट हो उसका त्याग करना चाहिए ।'

बुजुर्गों के प्रति औचित्य पालनपूर्वक ही धर्म किया जाता हो और फिर भी बुजुर्गो को धर्म पसंद न हो, धर्म करने में रुकावट करते हो, तो धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म ही स्व-पर का हित करने में समर्थ है।

यह गुरुजन की पूजा भी कषायों की मंदता के बिना नहीं हो सकती और कषायों की मंदता भगवान की कृपा के बिना प्राप्त नहीं होती। इसीलिए संसार से विरक्त हुई आत्मा भगवान से प्रार्थना करती है,

*"हे परमेश्वर ! आपकी कृपा से मेरे मानादि कषाय नष्ट हों और मुझे गुरुजन की पूजा प्राप्त हो !"*

स्वार्थी-संकुचित मनोवृत्ति वाला व्यक्ति लोकोत्तर मार्ग के ऊपर चल नहीं सकता, इसलिए ऐसी वृत्ति का त्यागकर हृदय को विशाल बनाने के लिए और औदार्यादि गुणों को प्राप्त करने के लिए अब परार्थकरण की छट्ठी माँग की जाती है ।

**परत्थकरणं च** - परोपकार करना

*"हे वीतराग ! आपके प्रभाव से मुझमें परोपकार करने की वृत्ति प्रकट हो, ऐसी कृपा करो ।"*

पर अर्थात् अन्य । अर्थ अर्थात् प्रयोजन और करण अर्थात् करना । ऐसे अन्य का कार्य करना 'परार्थकरण' अथवा परोपकार कहलाता है। दूसरों

को उपयोगी होना, दूसरों को सहायक होना, अपने तन, मन और धन की शक्ति दूसरों के काम लगाना, परार्थकरण[10] है ।

परार्थकरण नाम का यह गुण जीवन का सार है । जिनमें परार्थकरण नहीं है, वैसी आत्माएँ कभी भी लोकोत्तर धर्म को प्राप्त नहीं कर सकती क्योंकि - **स्वार्थ या संकुचित वृत्ति का त्याग करने से पहले धर्म की शुरुआत ही नहीं होती । धर्म करनेवाली आत्मा में हमेशा हृदय की कोमलता और विशालता अति ज़रूरी है ।** ये दोनों गुण परार्थकरण गुणवाली आत्मा में ही हो सकते हैं । ललित विस्तरा में पू. हरिभद्र-सूरीश्वरजी महाराज ने तो इस गुण को 'पौरुषचिह्न'[11] कहा है अर्थात् पुरुषार्थ की निशानी कहा है । जिनमें परार्थकरण नहीं, वे आत्माएँ सच्चे अर्थ में पुरुषार्थवाली ही नहीं हैं, क्योंकि उनका पुरुषार्थ उनकी ही आत्मा का हित नहीं कर सकता इसलिए जिसे आत्मा का हित करना है, वैसी आत्मा को परोपकार नाम के इस गुण का अवश्य विकास करना चाहिए ।

मोक्ष प्रकृष्ट कोटि के पुरुषार्थ से प्राप्त होता है और सत्पुरुषार्थ की वृद्धि परार्थकरण से होती है । जब तक स्वार्थ का त्याग कर परार्थ के लिए प्रयत्न प्रारंभ न किया जाए, तब तक मोक्षमार्ग में उपयोगी एवं आत्मा का हित कर सके, वैसा पुरुषार्थ नहीं हो सकता, इसलिए शास्त्रकार ने उसे सच्चे अर्थ में पुरुषार्थ ही नहीं कहा; इसलिए स्व-पुरुषार्थ की सफलता की इच्छावाले साधक को परार्थकरण करना ही चाहिए ।

यह परार्थकरण भी द्रव्य-भाव या लौकिक-लोकोत्तर भेद से दो प्रकार का होता है । बाह्य से वस्त्र, पात्र, धन आदि की आवश्यकता वाली आत्माओं को वे वस्तुएँ देकर जो परोपकार किया जाता है, उसे द्रव्य परार्थकरण कहते हैं और किसी भी आत्मा को निःस्वार्थ भाव से धर्म में जोड़ना, उसके ज्ञानादि गुणों के विकास के लिए प्रयत्न करना, भाव

10.'परार्थकरणं च परप्रयोजनकारिता च' - ललित विस्तर टीका

11. परार्थकरणं च सत्त्वार्थकरणं च जीवलोकसारं, पौरुषचिह्नमेतद् । - ललित विस्तर।

परार्थकरण है। प्रारंभिक कक्षा में साधक आत्मा मर्यादित क्षेत्र में अर्थात् खुद से संबंधित स्वजन, स्वज्ञाति जनों को जीवन उपयोगी वस्तु देकर धर्ममार्ग में सहायक बनकर परोपकार करता है और इसी परोपकर की पराकाष्ठा को प्राप्त अरिहंत की आत्माएँ निःस्वार्थ भाव से जगत् के जीव मात्र का हित करने के लिए धर्ममार्ग का उपदेश देती हैं, यह भाव-परार्थकरण है । इस 'परार्थकरण' गुण के बिना कभी भी लोकोत्तर धर्म की आराधना नहीं हो सकती ।

यह पद बोलते समय साधक परमात्मा को प्रार्थना करता है,

*'हे नाथ ! अनादिकाल से आत्मा में स्थित यह स्वार्थ या संकुचित वृत्ति मुझे परोपकार में उत्साहित नहीं होने देती, उदारता गुण को प्रकट नहीं होने देती। हे प्रभु ! आप कृपा करके मुझे ऐसे आशीर्वाद दीजिए कि आपके प्रभाव से मेरी स्वार्थवृत्ति का विनाश हो और मैं परोपकार में रत बनूँ ।'*

**जिज्ञासा :** परार्थकरण करने से कैसे फायदे होते हैं ?

**तृप्ति :** परार्थकरण से उदारता आती है, सद्वीर्य की उत्कटता प्राप्त होती है, संकुचित या स्वार्थवृत्ति का त्याग होता है, परोपकारी पुरुषों का यश सर्वत्र फैलता है, उनका वचन और व्यवहार सर्वत्र ग्राह्य बनता है, परोपकारी पुरुष अनेकों के लिए धर्मप्राप्ति का कारण बनते हैं, निराशंस भाव से परार्थ करनेवाली आत्मा को पुण्यानुबंधी पुण्य का बंध होता है, जो भवांतर में उसे उत्तम संयोगों की प्राप्ति करवाता है ।

उपरोक्त छः माँग लौकिक सौंदर्य स्वरूप हैं क्योंकि लोग भी ऐसा मानते हैं कि धर्मी आत्मा में ये छः गुण अवश्य होने चाहिए और धर्म की आराधना मोक्ष के लिए ही की जाती है, वैसा सभी आस्तिक दर्शनकार भी मानते हैं । मोक्ष के प्रति लगाव भव की विरक्ति के बिना संभव नहीं है, इसलिए भवनिर्वेद आदि छः गुण लोकोत्तर धर्म की आराधना के लिए तो जरूरी हैं

ही, लौकिक धर्म की आराधना के लिए भी अत्यंत जरूरी हैं। ये छः गुण जिसमें नहीं दिखते, वैसी आत्माएँ शायद बाह्य से धर्म करें, तो भी उनका वह धर्म, धर्मस्वरूप न बनकर, अधर्म स्वरूप ही बन जाता है ।

लौकिक सौंदर्य स्वरूप ये छः माँगें भगवान के पास कीं । अब लोकोत्तर धर्म की आराधना के लिए जिसकी अत्यंत जरुरत है, वैसे 'शुभ गुरु का योग' आदि की माँग करते हुए कहते हैं -

**सुहगुरुजोगो** - सद्गुरु के साथ का योग । (विशिष्ट चारित्रसंपन्न आत्मा के साथ खुद को जोड़ना।)

*"हे वीतराग ! आपके प्रभाव से मुझे सद्गुरु का सुयोग प्राप्त हो !"*

जो कंचन-कामिनी के सर्वथा त्यागी हैं, अहिंसा आदि महाव्रतों का सुविशुद्ध पालन करते हैं, निर्दोष आहार-पानी से जीवन का निर्वाह करते हैं, उत्सर्ग-अपवादमय भगवान के शास्त्रों को जानकर उनके अनुरुप जीवन जीते हैं, वैसे विशिष्ट चारित्रसंपन्न व्यक्ति ही सुगुरु कहलाते हैं। ऐसे गुरु के साथ का योगावंचक भाव से योग ही सुगुरु का योग है ।

इस माँग में दो शर्तें हैं । (१) गुरु तो सुगुरु चाहिए और (२) सुगुरु के साथ भी सुयोग चाहिए । ऐसा कहने का कारण यह है कि इस जगत् में गुरु भी दो प्रकार के हैं और गुरु के साथ संबंध भी दो प्रकार से होता है । ऊपर वर्णन किए हुए गुरु के गुणों से जो युक्त हैं, वे सुगुरु कहलाते हैं परन्तु जो मात्र वेषधारी हैं, गुरु बनने योग्य गुण जिनमें नहीं होते, वे कुगुरु कहलाते हैं। ऐसे कुगुरु स्वयं कल्याण के मार्ग पर प्रयत्नशील नहीं होते, इसलिए वे अन्य को भी कल्याण के मार्ग पर प्रवृत्त नहीं कर सकते । कई बार उपदेश देकर किसी से सत्कार्य करवाए, तो भी स्वयं में वैसे भाव नहीं होने के कारण उनके उपदेश का भी वैसा असर नहीं होता । कल्याणकामी आत्मा का सुगुरु के साथ योग-संबंध होना चाहिए क्योंकि '**भावात् भावः प्रसूयते**' भाव से भाव की उत्पत्ति होती है ।

सुगुरु के साथ का संबंध भी दो प्रकार से हो सकता है । एक सुयोग और दूसरा कुयोग, गुणवान गुरु के साथ गुणप्राप्ति की इच्छा से या आत्महित की इच्छा से जो संबंध होता है, उसे सुयोग कहते हैं और सुगुरु के साथ मानादि की इच्छा से, सुख-सुविधा की इच्छा से या अन्य किसी संसारी आशंसा से योग हो, तो उसे कुयोग-वंचक योग कहते हैं । आत्मा को ठगनेवाला, आत्मा का अहित करनेवाला संबंध अर्थात् वंचक योग गुणवान आत्मा के साथ भी स्वार्थ से, अनुकूलता के लिए या रोग के निवारण के लिए, मानादि कषायों के पोषण के लिए जो संबंध बांधा जाता है, वह आत्मा का अहित करनेवाला होने से, उसे वंचक योग कहते है । अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए अनंत बार तीर्थंकर जैसे श्रेष्ठ गुरु हमें मिले होंगे, परन्तु उनके साथ भी तुच्छ आशयों से संबंध बांधने के कारण, ऐसे वंचक-योग के कारण श्रेष्ठ गुरु मिलने पर भी अपना उद्धार नहीं हुआ । कई बार तो ऐसे संबंध के कारण भवभ्रमण अटकने के बदले बढ़ भी जाता है । जैसे कोई अज्ञानी सोने के बदले पीतल या रत्न के बदले काँच के टुकड़े खरीदकर ठगा जाता है, वैसे ऐसे संबंध बाँधने वाला जीव भी आत्महितकर सद्गुरु का योग होने के बावजूद सांसारिक भावों से ठगा जाता है । गुण रत्नों की प्राप्ति हो, वैसे स्थान से भी स्व इच्छा की तुच्छ पूर्ति करके संतोष मानता है । इसी कारण उसके लिए यह योग वंचकयोग बनता है।

जो संबंध आत्मा का हित करनेवाला, सन्मार्ग में प्रेरक और पूरक बननेवाला, रागादि भावों से दूर रखकर वैराग्यादि भावों की वृद्धि करनेवाला होता है, उसे सुयोग अथवा **अवंचक योग** कहा जाता है ।

गुणवान गुरु के साथ ऐसा संबंध जुड़ जाए तो जरूर आत्मा का हित होता है। उत्तरोत्तर गुणवृद्धि द्वारा आत्मविकास होता है। सुगुरु के साथ ऐसा सुयोग्य संबंध ही मोक्ष तक पहुँचा सकता है, अन्य कोई संबंध नहीं। जैसे अत्यंत रोगी को पथ्य वस्तु भी गुणकारी नहीं होती, वैसे संसार के

अतिरसिक भारी कर्मी जीवों को सद्गुरु का योग भी गुणकारी नहीं होता। इसलिए सुगुरु के साथ सुयोग करने के लिए भवनिर्वेद आदि गुण प्राप्त करना खास ज़रूरी है ।

जैसे-जैसे आत्मा में भवनिर्वेद आदि गुणों का विकास होता है, वैसे-वैसे आत्मा को हित मार्ग में जोड़नेवाले गुरु की सच्ची पहचान होती है, आत्महित का मार्ग बतानेवाले गुरु उपकारक लगते हैं, उनके मोक्षसाधक वचनों को सुनने का मन होता है, उनके वचनों पर विश्वास होता है । 'यही परमहित को करनेवाले हैं, यही सन्मार्ग दर्शक गुरु हैं,' वैसा बुद्धि में स्थिर होता है, उनके एक-एक वचन को साधक तीव्र जिज्ञासा के साथ सुनता है, सुनकर उसी प्रकार जीवन जीने का यत्न भी करता है, परन्तु अभी तक ऐसी शक्ति पैदा नहीं हुई कि पूर्णतया उनके वचनानुसार जीवन जी सके। इसीलिए उन वचनों को कार्यान्वित करने की पुनः पुनः परमात्मा से प्रार्थना करता है । ऐसी आत्मा को हुआ सुगुरु का योग योगावंचक योग कहलाता है ।

सुगुरु के साथ ऐसा योग साधने के लिए भव का योग कम करना पड़ता है, माना-मायादि कषायों की मात्रा मंद करनी पड़ती है, मन को समझाना पड़ता है कि, 'ये ही मेरे लिए सर्वस्व हैं, ये ही मुझे सन्मार्ग प्राप्त करवानेवाले हैं। मैं तो अज्ञानी और अबुध हूँ, इस गुणवान व्यक्ति की अनुकूलता ही मेरी अनुकूलता है, उनकी प्रसन्नता ही मेरी प्रसन्नता है, उनका संतोष ही मेरा संतोष है, ऐसी भावना हो तो सुगुरु का योग सफल होता है।

पाप के उदय से बहुत बार ऐसे सुगुरु की प्राप्ति नहीं होती और कदाचित् पुण्योदय से सुगुरु प्राप्त हों तो भी विषयों की आसक्ति, मानादि कषायों की प्रबलता, ऐसे गुरु के साथ सुयोग होने नहीं देती । शरीर से उनके साथ रहने के बावजूद उनके प्रति श्रद्धा और समर्पण का भाव प्रगट नहीं होने देती। मुमुक्षु आत्मा समझती है कि यह श्रद्धा का भाव खुद के सामर्थ्य से सम्भव नहीं है । उसी कारण यह पद बोलते हुए वह भगवान को बिनती करता है,

*"हे वीतराग ! आपके सामर्थ्य से मेरे पुण्य का उदय हो, जिससे मुझे सुगुरु की प्राप्ति हो। हे देवाधिदेव ! आपके प्रभाव से मेरे मानादि कषाय मंद हों । जिससे प्राप्त हुए सुगुरु के साथ मेरा योग, सफल बने । उनके प्रति मेरा नम्रता भरा विनयपूर्ण व्यवहार हो। उनके प्रति मेरी श्रद्धा और समर्पण का भाव दिन-प्रतिदिन बढ़े ।"*

हृदय के सद्भाव पूर्वक की गई यह प्रार्थना अमुक प्रकार के कर्म का ह्रास करवाकर, आत्मा को लघुकर्मी बनाकर अंत में तीर्थंकर जैसे गुरु के साथ सुयोग करवाती है । ऐसे सुगुरु के सुयोग से अनुभव ज्ञान की प्राप्ति होती है, भूलों का एहसास होता है, अहंकार का नाश होता है और सुंदर जीवन की सतत प्रेरणा मिलती रहती है ।

शुभ गुरु का योग होने के बाद भी उनके वचन का पालन करना अत्यंत दुष्कर है और उनके वचन के पालन के बिना दुष्कर संसार सागर को तैरना सम्भव नहीं है। इसलिए साधक अब परमात्मा तद्वचन-सेवना रुप आठवीं माँग करता है ।

**तव्वयणसेवणा -** सेवन करना अर्थात् चारित्रसंपन्न सुगुरु के वचनों का अनुसरण करना ।

*"हे वीतराग ! मुझे आपके प्रभाव से सद्गुरु भगवंतों के वचनों का, उनकी आज्ञा का पालन करने का सामर्थ्य प्राप्त हो !"*

विशिष्ट चारित्रसंपन्न आत्माएँ सत्यव्रत से युक्त होती हैं, इसलिए वे कभी असत्य नहीं बोलती हैं, तथा करुणायुक्त होने से वे कभी किसी का अहित हो वैसा सत्य भी नहीं बोलते। ऐसे महापुरुष के वचन की उपासना उल्लसित हृदय से हो तो ही आत्मकल्याण होता है, ऐसा मुमुक्षु समझते हैं । इसीलिए वे सदा गुरु के वचन की चाहना करते है, गुरु का आदेश होते ही अपना अहोभाग्य मानते हैं। भूखे को भोजन की तरह गुरु का अनुशासन

उन्हें अतिप्रिय लगता है । गुरु जब भी उनकी आत्मा के हित की बात करें, तब मुमुक्षु उसे अपना सद्भाग्य मानते हैं और उन्हें लगता है कि, "मैं आज धन्य बना, आज में कृतपुण्य हुआ, गुरु की मेरे उपर कितनी कृपा है कि आज वे अपने श्रीमुख से मेरे आत्महित की बात कर रहे हैं । इन वचनों को मुझे तुरंत अमल में लाना चाहिए। महान निधान तुल्य इन वचनों का मुझे संरक्षण करना चाहिए, उनको जीवन का मंत्र बनाना चाहिए" ऐसी इच्छा होने के बावजूद सद्वीर्य के अभाव के कारण वह गुरुवचन का अमल नहीं कर पाता । इसलिए यह पद बोलते वह परमात्मा से प्रार्थना करता है -

*"हे नाथ ! सद्गुरु मिलें, उनके वचन सुनने मिलें, परन्तु ऐसी शक्ति नहीं कि, उनका पूर्ण पालन कर सकूँ । इसलिए हे वीतराग ! आपकी कृपा से मेरे में ऐसा बल प्रगट हो कि इन गुरु भगवंतों के वचन की मैं पूर्ण उपासना कर सकूँ । उनकी हितशिक्षानुसार अपने जीवन को सुधार सकूँ। उनकी आज्ञा का पूर्ण पालन कर अपने मोहनीय आदि कर्मों का विनाश कर सकूँ ।"*

आंतरिक संवेदना के साथ बोले गए ये वचन कर्म का विनाश कर सद्वीर्य की वृद्धि का कारण बनते हैं और वर्द्धमान यह वीर्य (उत्साह) गुरु के वचनपालन में सहायक बनता है ।

**आभवमखंडा -** 'हे वीतराग ! जब तक भव में (संसार में) हूँ, तब तक (आप के प्रभाव से भवनिर्वेद आदि भाव) मुझे अखंडित प्राप्त हों ।'

साधक आत्मा समझती है कि भवनिर्वेद आदि आठ भाव जब तक प्राप्त नहीं होंगे, तब तक इस भयावह संसार का किसी भी प्रकार से अंत नहीं होगा और ये उत्तम भाव एक बार प्राप्त हों इतना ही पर्याप्त नहीं है। जब तक मोक्ष न मिले, तब तक उस-उस भूमिका में, उन-उन भावों की आवश्यकता है ही। इसीलिए परमपदेच्छु साधक यह पद बोलते हुए परमात्मा से प्रार्थना करता है -

*"हे नाथ ! ये आठ अमूल्य गुण मुझे मात्र इस भव में ही नहीं चाहिए, बल्कि जब तक मेरा मोक्ष न हो, तब तक मुझे जितने भव करने पड़े, उन तमाम भवों में मुझे इन विशिष्ट आठ वस्तुओं की प्राप्ति हो । अब मेरा कोई भव ऐसा नहीं होना चाहिए कि जिसमें मेरे पास ये आठ गुण न हों !"*

इन पदों द्वारा जिन्हें ये आठ गुण प्राप्त नहीं हुए, वे उन गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं और जिन्हें आंशिक रूप से भी ये गुण प्राप्त हुए हैं, वे उससे ऊपर के स्तर के गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार पुनः पुनः प्रार्थना करने से उन-उन गुणों के प्रति आदर प्रगट होता है, उन गुणों को प्राप्त करने की तीव्र लालसा जागृत होती है, गुणों के प्रति आदर ही दोष के राग को घटाता है और दोष के पक्षपात से बंधे हुए कर्मों का विनाश होता है। प्रार्थना के बल से कर्मों का विनाश होने से ऊपर की भूमिका के इन गुणों का प्रगटीकरण होता है ।

इसलिए बार-बार इस प्रकार प्रार्थना करना योग्य ही है । इस प्रकार प्रार्थना करते हुए भी इतना खास याद रखना चाहिए कि, शब्द प्रयोग करने मात्र से ये चीजें मिल जाएँ, ऐसा नियम नहीं है, ये शब्द प्रयोग करते हुए भगवान और भगवान के गुणों के प्रति प्रार्थक की रुचि बढ़ती जाएँ, प्रार्थनीय चीजें प्राप्त करने की लालसा जागें और उससे ही अपना आत्मिक विकास मानकर गद्‌गद हृदय से भक्ति के तीव्र भाव से अगर ये शब्दप्रयोग किए जाएँ, तो ऐसे कर्म का क्षयोपशम होता है कि, जिससे साधक को ये चीजें मिलती हैं । जिनको ऐसे शुभ परिणाम न होते हों, प्रार्थनीय चीजों का विशेष महत्व जो न जानते हों, बल्कि प्रकृति से भद्रक परिणामी होने से 'यह चैत्यवंदन संसार का नाश कर मोक्ष को प्राप्त करवानेवाला है', वैसा भगवान ने कहा है इसलिए मुझे चैत्यवंदन करना चाहिए, ऐसे सामान्य भाववाले और संयोग मिलें तो अपनी बुद्धि के अनुसार विशेष को जानने की इच्छावाले साधक को यह चैत्यवंदन सामान्य लाभ का कारण होता है ।

ऐसे चैत्यवंदन से उसे सामान्य पुण्यबंध और कर्मनिर्जरा भी होती है। जिसके कारण भविष्य में सभी संयोग प्राप्त करके वह अवश्य विशेष लाभ को प्राप्त कर सकता है ।

जिनमें ऐसे सामान्य भाव भी नहीं होते मात्र कुल मर्यादा से या गतानुगतिक की तरह ही जो चैत्यवंदन की क्रिया करते हैं और अर्थ के विचार के बिना ही प्रार्थनारूप इन शब्दों को बोलते हैं, उनके लिए यह प्रार्थना सफल नहीं होती।

ये दोनों गाथाएँ गणधरकृत हैं और इसके बाद की तीन गाथाएँ गीतार्थ गुरु भगवंतों की बनाई हुई हैं । भाववृद्धि का कारण होने से बाद में उनको यहाँ जोडा गया है ।

**वारिज्जइ जइवि नियाणबंधणं वीयराय ! तुह समए तहवि मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुम्ह चलणाणं -** हे वीतराग ! यद्यपि आपके सिद्धांत में नियाणा करने का निषेध किया गया है, तो भी भवोभव आपके चरणों की सेवा मुझे प्राप्त हो !

धर्म के बदले में इहलोक या परलोक संबंधी किसी भी वस्तु की आकांक्षा-इच्छा रखना या उसकी माँग करना, निदान[12] कहलाता है ।

जैन सिद्धांत के अनुसार सभी धर्मक्रियाएँ निराकांक्ष भाव से करनी चाहिए, इसलिए उपर्युक्त प्रार्थना प्रथम नज़र से देखने पर तो निदान स्वरूप

12. **निदान :** धर्म के बदले में इस लोक या परलोक संबंधी भौतिक सुख की माँग करना निदान है। उसके तीन प्रकार हैं १. रागगर्भित, २. द्वेषगर्भित, ३. मोहगर्भित।

**१. रागगर्भित :** 'मेरे तप के प्रभाव से मुझे चक्रवर्ती की स्त्री जैसा स्त्रीरत्न मिलें ।' राग के कारण किया गया संभूति मुनि का यह नियाणा रागगर्भित निदान कहलाता है ।

**२. द्वेषगर्भित :** 'मेरे तप का कोई फल हो तो मैं भवोभव गुणसेन को मारनेवाला होऊँ ।' ऐसे द्वेष से किया गया अग्निशर्मा के नियाणा को द्वेषगर्भित नियाणा कहा जाता है ।

**३. मोहगर्भित :** धर्म से ही भौतिक सुख मिलता है, वैसा सुना हो, इसलिए मुझे भवोभव धर्म मिले, जिससे दिव्य सुख मिले और अच्छी तरह से मौज किया जा सके ऐसा नियणा किया जाय, तो मोह गर्भित नियाणा है ।

ही लगती है, फिर भी वास्तविक दृष्टि से सोचें, तो वह नियाणा स्वरूप नहीं है, क्योंकि **शास्त्र में भौतिक आकांक्षा को नियाणुं कहा गया है, परन्तु आध्यात्मिक सुख के लिए उपयोगी वस्तु की आकांक्षा को नियाणुं नहीं कहा गया ।**

मोक्ष अनिच्छा स्वरुप है । इसलिए किसी भी प्रकार की इच्छा या माँग मुमुक्षु के लिए योग्य नहीं है । फिर भी जब तक आत्मा पर मोह का अस्तित्व है, तब तक कोई न कोई इच्छा होने ही वाली है। अप्रशस्त इच्छाएँ साधक आत्मा को भी कर्म बंधवाकर भव में भटकाती हैं। इसलिए ऐसी अप्रशस्त इच्छाओं का अंत लाने के लिए और प्रशस्त गुणों को प्रकट करने के लिए कुछ भूमिका तक यह माँग भी आत्मा के लिए उपकारक है । ऐसी प्रशस्त माँग द्वारा ही साधक मोह का नाश करके, गुण प्राप्ति के लिए निश्चित प्रकार का प्रयत्न कर सकता है । इसलिए जब तक मोह का साम्राज्य है, तब तक ऐसी माँग करना साधक के लिए योग्य ही है ।

अतः साधक कहता है - "सिद्धांत में नियाणुं करने का निषेध। होने के कारण मुझे कोई आकांक्षा ही नहीं रखनी चाहिए । इसके बावजूद "आपके चरण की सेवा मुझे प्राप्त हो" ऐसी आकांक्षा मैं नहीं छोड़ सकता क्योंकि, उसके बिना मेरा कल्याण संभव नहीं है ।"

चरण की सेवा अर्थात् मात्र काया की सेवा की ही यहाँ माँग नहीं की गई है अपितु परमात्मा के चरण अर्थात् चारित्र की अथवा चरण अर्थात् आपने जो तत्त्वमार्ग का (आज्ञा का) निरुपण किया है, उस आज्ञा का यथार्थ पालन करने रूप तत्त्वकाय की सेवा मुझे प्राप्त हो, वैसी यहाँ माँग की गई है ।

यद्यपि सद्गुरु के वचन सच्चारित्र के पालन स्वरूप ही हैं । इसलिए उनके वचन सेवन की माँग में यह माँग आ ही जाती है, तो भी "भगवान के चरणों की सेवा मुझे भवोभव मिले" यह माँग अत्यंत भाववृद्धि का कारण बने ऐसी है । इसलिए इस प्रकार पुनः की गई प्रार्थना दोषस्वरूप नहीं है ।

भगवान के चरण की सेवा सत्ज्ञान और सत्क्रिया स्वरूप मोक्षमार्ग के आसेवन रूप है । इसलिए पुनः पुनः की गई यह माँग वर्तमान में भी ज्ञान के अनुरूप उत्तम आचरण में यथाशक्ति यत्न करवाती है, इसलिए भी ऐसी माँग योग्य है ।

इन प्रत्येक पद को बोलते हुए उन-उन शब्दों में रहे उत्तम भावों का ज्ञान और उन-उन भावों के प्रति अत्यंत आदर होना चाहिए । सर्वश्रेष्ठ कोटि के ये गुण जिसमें हैं, वैसे परमात्मा के पास नतमस्तक से, विनम्र भावपूर्वक ये चीजें मुझे माँगनी हैं और प्रार्थना के बाद मुझे ये गुण प्राप्त करने के लिए आज्ञा के अनुसार यत्न भी करना है । ऐसा माननेवाले साधक को इन पदों द्वारा अवश्य उन-उन गुणों का लाभ होता है ।

जो ये शब्द बोलते हैं, परन्तु शब्द में रहे उत्तम भावों को समझते नहीं, उन भावों के प्रति जिनको आदर नहीं है और यथाशक्ति उनके लिए प्रयत्न भी नहीं है, उनको इन चीजों की प्राप्ति संभव नहीं है ।

भगवान से चरण सेवा की माँग करने के बाद स्व इष्ट की सिद्धि के लिए कुछ विशेष माँग करते हुए साधक जो कहता है, वह अब बताते हैं -

**दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, समाहिमरणं च बोहिलाभो अ ।**
**संपज्जउ मह एअं, तुह नाह ! पणामकरणेणम् ।।** - हे नाथ ! आपको प्रणाम करने से मेरे दुःख का नाश हो, मेरे कर्मों का नाश हो (और) मुझे समाधिमरण तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो ।

**दुक्खक्खओ** - दुःख का नाश ।

*"हे नाथ ! आपको प्रणाम करने से मेरे दुःख का क्षय हो ।"*

जगत् के जीवमात्र को दुःख इष्ट नहीं है, इसलिए सभी जीव दुःख के नाश की इच्छा करते ही हैं, परन्तु धर्मात्मा जिस दुःख के नाश की इच्छा

करते हैं, वह जगत् के जीवों से भिन्न प्रकार का है । जगत् के जीवों को किसी भी प्रकार का दुःख नहीं चाहिए, जबकि मुमुक्षु आत्मा को मोक्षमार्ग में बाधक बने, स्वसमाधि को हानि पहुँचाए, वैसा ही दुःख नहीं चाहिए। इसीलिए यह पद बोलते हुए साधक परमात्मा से प्रार्थना करता है,

*"हे प्रभु ! मैं निःसत्त्व हूँ । मुझे साधना ही करनी है, परन्तु साधना के मार्ग में विघ्न आते ही मैं व्याकुल हो जाता हूँ, मेरा मन अनेक संकल्प-विकल्प में उलझ जाता है, जिससे साधना में अब तक स्थिरता नहीं आती, अतः हे नाथ ! साधना के मार्ग में विघ्न करनेवाले मेरे दुःखों का नाश हो तथा उसके सामने लड़ने की शक्ति मुझे प्राप्त हों ।"*

यहाँ दुःख के डर से दुःख टालने की माँग नहीं है, परन्तु धर्ममार्ग में आते हुए विघ्नों का भय है और वैसे विघ्नकारक दुःख को ही टालने की यहाँ बात है इसीलिए साधक कहता है -

*"हे नाथ ! जब तक प्राप्त दुःखों को मैं पूरी समाधि और स्वस्थता से सहन न कर सकूँ, दुःख की हाज़िरी में मोक्षमार्ग की साधना करने का सामर्थ्य मुझ में न आए, तब तक मेरे वैसे दुःखों का नाश हो, ऐसी मेरी प्रार्थना है ।"*

इस प्रार्थना को इस तरह भी सोचा जा सकता है -

मोक्ष की साधना करनेवाला साधक विवेकी होता है, इसीलिए संसारी जीव जिस तरह दुःख से डरते हैं और उसके नाश के लिए प्रयत्न करते हैं, वैसा प्रयत्न साधक नहीं करता एवं उसके लिए भगवान से प्रार्थना भी नहीं करता; परन्तु समाधि में बाधक बने वैसे बाह्य दुःख और विषय की विह्वलता एवं कषाय की पराधीनता के आभ्यंतर दुःखों को टालने की ही उसकी भावना होती है क्योंकि वह समझता है कि वैषयिक-काषायिक भाव कर्मबंध का कारण है । कर्म का संबंध आत्मा को संसार में जकड़कर रखता है एवं संसार में रहे हुए जीवों को बार-बार जन्म लेना पड़ता है,

जन्म होने पर शरीर के साथ संबंध होता है, शरीर के कारण सैकडों ज़रूरतें खड़ी होती हैं, शरीर के कारण स्वजनों के साथ, समाज के साथ संबंध रखना पड़ता है । ये सब संबंध बनाए रखने के लिए भी अनेक प्रकार के दुःखों को सहना पड़ता है । इसलिए विवेकी आत्मा को विषय-कषाय और उन्हें उत्पन्न करनेवाले संसार की सभी सामग्री दुःख रूप लगती है । पुण्य के उदय से सुंदर शरीर मिला हो, बेशुमार संपत्ति मिली हो या विवेकसंपन्न स्त्री, पुत्रादि परिवार मिले हों, तो भी वह संयोग अंत में दुःखरूप ही होने से, विवेकी साधक भगवान से प्रार्थना करता है, 'हे नाथ ! दुःख को उत्पन्न करनेवाले ये सभी वैषयिक-काषायिक भाव नष्ट हो जाएँ।'

दुःख का क्षय कर्म के क्षय के बिना संभव नहीं है। इसलिए अब ग्यारहवीं प्रार्थना स्वरूप साधक कहता है कि -

**कम्मक्खओ** - कर्म का क्षय -

*"हे नाथ ! आपको प्रणाम करने से मेरे कर्म का नाश हो !"*

साधक अच्छी तरह समझता है कि जब तक ये कर्म हैं, तब तक दुःख तो आनेवाले ही हैं, अतः दुःख के नाश के लिए कर्म का नाश अत्यंत जरूरी है, इसलिए भगवान से प्रार्थना करता है कि - "हे नाथ ! आपको किए गए प्रणाम से दुःख के कारणभूत मेरे कर्मों का नाश हो !"

**जिज्ञासाः**- कर्म के क्षय से दुःख का क्षय तो होनेवाला ही था, तो फिर दुःखक्षय की प्रार्थना अलग से क्यों की गई है ?

**तृप्ति :** कर्म के क्षय से दुःख का नाश होनेवाला है, यह सही है, परन्तु कर्म का क्षय साधना किए बिना नहीं हो सकता और साधना मन की स्वस्थता के बिना नहीं होती । अल्पसत्त्व वाले साधक प्रत्येक संयोग में मन की स्वस्थता नहीं टिका सकते, अतः यहाँ दुःख के क्षय से साधना में विघ्न करनेवाले दुःखं के नाश की याचना की गई है, सभी दुःख की नहीं । विघ्न

करनेवाले दुःख के क्षय से मन की स्वस्थता प्राप्त होगी, जिससे साधना होगी तथा कर्म का क्षय होगा, इसलिए यह माँग योग्य ही है ।

कर्म का क्षय, समाधि और बोधि से होता है, इसलिए अब साधक उसकी प्रार्थना करता है।

**समाधिमरणं च** - और समाधिपूर्वक मरण ।

*"हे नाथ ! आपको प्रणाम करने से मुझे 'समाधि मरण' प्राप्त हो !"*

समाधि = दुःख एवं सुख के संयोग में समान बुद्धि, चित्त की स्वस्थता। सुख के संयोग में रागकृत चित्त की विह्वलता का नहीं होना और दुःख के समय में द्वेष, अरुचि या नापसंदगी कृत चित्त की विह्वलता का नहीं होना। विशेष प्रकार के सुख-दुःख में मन को स्वस्थ रखना, समाधि में रखना मुश्किल है और उसमें भी मरण के समय जब मानसिक एवं शारीरिक वेदनाएँ असह्य होती हैं, तब उन वेदनाओं के बीच मन को समाधि में रखना तो बहुत ही कठिन होता है । अंत समय अगर मन समाधि में न रहे तो गति अच्छी नहीं होती और सद्गति के बिना धर्मसाधना सुंदर प्रकार से नहीं हो सकती। आधि, व्याधि, उपाधि से घिरे हुए इस संसार में समाधि सुदुर्लभ है । समाधि के अखंड भंडार तुल्य अरिहंत परमात्मा से उसकी प्रार्थना करने से वह अवश्य प्राप्त होती है। खुद जिनके पास समाधि न हो, ऐसे अन्य देव या मनुष्यों के पास समाधि की प्रार्थना सफल नहीं होती। इसीलिए यह पद बोलते हुए साधक कहता है -

*"हे भगवान ! आपको किए गए प्रणाम से मुझे समाधि मरण की प्राप्ति हो... जिससे मुझे पुनः पुनः संसार में भटकना न पड़े ।*

**जिज्ञासाः**-यहाँ समाधिमय जीवन न माँगते हुए समाधि मरण माँगा, उसका क्या कारण है ?

**तृप्तिः**-प्राणीमात्र के लिए मरण का दुःख असह्य होता है । मरण के समय प्रायः वही आत्मा समाधि रख सकती है, जिसने जीवन में समाधि के

लिए प्रयत्न किया हो । अतः समाधि मरण माँगकर साधक समग्र जीवन काल की समाधि भी माँगता है। समाधि जीवन के लिए ज़रूरी दुःख क्षय एवं कर्म-क्षय की प्रार्थना तो पूर्व में कर ली है, अब इन सब प्रार्थनाओं का फल पाना है, इसलिए समाधि मरण की माँग की है क्योंकि जिसका अंत सुधरे उसका सब सुधरता है ।

आत्मोन्नति में सम्यग्दर्शन गुण एक नींव की तरह है । नींव के बिना इमारत नहीं बन सकती । इसलिए नींव के गुण रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं ।

**बोहिलाभो अ -** और बोधिलाभ ।

*"हे नाथ ! आपको किए गए प्रणाम से मुझे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हों ।"*

बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन अथवा ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रयी एवं लाभ अर्थात् प्राप्ति ।

साधना का मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद ही ज्ञान और क्रिया मोक्ष का कारण बनते हैं । जब तक मिथ्यात्वरूप मल का नाश नहीं होता और जीव को सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होता, तब तक कितनी भी अच्छी धर्मक्रिया करें या कितना भी शास्त्रज्ञान प्राप्त करें, तो भी वह ज्ञान और क्रिया मोक्ष का कारण नहीं बन सकती । इसीलिए साधक यह पद बोलते हुए परमात्मा से प्रार्थना करता है -

*"हे प्रभु ! जब तक मिथ्यात्वरुपी विष का वमन नहीं होगा और सम्यक्त्व रूप अमृत का सिंचन नहीं होगा तब तक आपके शासन की, आपकी आज्ञा की सच्ची पहचान नहीं होगी शासन की पहचान के बिना उसका यथार्थ पालन नहीं होगा, आज्ञा के पालन के बिना कर्म का नाश नहीं होगा और कर्मनाश के बिना मुक्ति नहीं मिलेगी; **इसलिए हे नाथ ! आप मेरे मिथ्यात्व का नाश करवाकर मुझे बोधि की प्राप्ति करवाँए ।"***

अब जिस परमात्मा के शासन से यह सब प्राप्त होता है, उस परमात्मा के शासन के प्रति सद्भाव व्यक्त करते हुए साधक कहता है -

**सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् । प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्** - सर्व मंगलों में मंगलरूप, सब कल्याणों का कारण तथा सभी धर्मों में प्रधान ऐसा श्री जिनशासन तीनों लोक में विजयवंत है ।

जैन धर्म सभी मंगल में श्रेष्ठ मंगल[13] है क्योंकि, जगत के लौकिक मंगल जीव के लिए कुछ अंश तक ही मंगलरूप बनते हैं । जब कि जैनशासन अर्थात् भगवान की आज्ञारूप लोकोत्तर-भावमंगल सर्व अंश से जीवों के लिए मंगलरूप है । जिस कार्य में भगवान की आज्ञा जुडती है, वह कार्य मंगलरूप बने बिना नहीं रहता और अच्छा भी काम आज्ञा के अभाव में मंगलरूप नहीं बन सकता ।

जैन धर्म सब कल्याण का कारण है । कल्य = सुख; जो सुख दे, वह कल्याण । संसार के सर्वश्रेष्ठ सुख पुण्यानुबंधी पुण्य के उदय से मिलते हैं और यह पुण्य का बंध परमात्मा की आज्ञा के पालन से होता है । इसलिए अनुत्तर या ग्रैवेयक में प्राप्त होनेवाले दैविक सुख या शालिभद्र जैसे मानवीय सुख और अंत में मोक्ष रूप महासुख की प्राप्ति भी जैनशासन की आराधना से ही होती है, इसलिए जैनशासन सर्वकल्याण का कारण है।

जैन धर्म सभी धर्मों में प्रधान धर्म है क्योंकि - दुनिया में धर्म तो बहुत हैं और वे सभी धर्म दुःखनाश और सुखप्राप्ति के उपाय तो बताते हैं, परन्तु अत्यंत सूक्ष्म तरीके से परिपूर्ण सुख का मार्ग तो जैनशासन ही बता सकता है तथा जैनशासन स्याद्वाद को स्वीकार करता है, इसीलिए सभी धर्मों का समावेश अपने में कर सकता है । जब कि अन्य धर्म वस्तुतत्त्व को एकांत से स्वीकार करते हैं, इसलिए उन धर्मों में दूसरे धर्म का समावेश नहीं हो सकता, अतः जैनधर्म ही सबसे श्रेष्ठ है ।

---

13. मंगल की व्याख्या 'नवकार सूत्र' में से देखना ।

ऐसा जैनशासन जयवंत रहे ! अर्थात् उसकी जय जयकार हो । जैनशासन के प्रति अत्यंत भक्ति को व्यक्त करते हुए अंत में कहते हैं, "ऐसा जैनशासन अत्यंत विस्तार को प्राप्त करें ! अनेक आत्माओं में यह जैनशासन प्रतिष्ठित हो ! अथवा जिनेश्वर की आज्ञा हमेशा मेरे हृदय में रहें ।" खुद की आत्मा में इस शासन के प्रति राग पैदा हुआ हो, शासन की कल्याणकारिता प्रतिष्ठित हुई हो, वैसी आत्मा ही दूसरे की आत्मा में भी उसकी प्रतिष्ठा चाहती है, तथा जगत् में उसका विस्तार चाहती है ।

# अरिहंत चेइयाणं सूत्र

**सूत्र परिचय :**

इस सूत्र द्वारा अरिहंत के चैत्य को वंदना करने स्वरूप चैत्यवंदन किया जाता है, इसलिए इसे **'चैत्यस्तव'** कहते हैं ।

शास्त्र में शुभ भाव की प्राप्ति और वृद्धि के अनेक उपाय बताए गये हैं। उसमें सर्वश्रेष्ठ उपाय है, अरिहंत परमात्मा की भक्ति । साक्षात् विहरते अरिहंत परमात्मा की भक्ति जैसे उत्तम फल देती है, वैसे ही उनकी मूर्ति, मंदिर या स्तूप आदि की भक्ति भी शुभभावों को प्रगट करके साधक को अंत में मोक्ष तक पहुँचा सकती है । इसलिए इस सूत्र में अरिहंत के चैत्य के वंदन, पूजन, सत्कार आदि और उनके फलरूप बोधि और बोधि के फलरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रणिधान पूर्वक काउस्सग्ग में रहने का संकल्प किया जाता है ।

अपेक्षा से सोचें तो **मन-वचन-काया के एकाग्रतापूर्वक शुभध्यान में लीन होने के प्रयत्न रूप यह कायोत्सर्ग की क्रिया ही चैत्यवंदन है क्योंकि मन-वचन-काया की गुप्तिवाली आत्मा ही वीतराग भाव के अत्यंत नज़दीक जा सकती है,** पर इस शुभध्यान का कारण 'नमोऽत्थु णं' आदि सूत्र हैं, इसलिए उसे भी चैत्यवंदन कहते हैं ।

चैत्यवंदन की क्रिया कोई सामान्य क्रिया नहीं है, वह मोक्ष के महान आनंद की अनुभूति करवानेवाली क्रिया है । इस क्रिया द्वारा साधक अपनी सभी चित्तवृत्तियों को शांत करके, मन को एकाग्र करके, परमात्मा के ध्यान में लीन हो सकता है । परमात्मा के ध्यान में एकाकार कैसे बना जा सकता है, उसकी समुचित विधि इस सूत्र में बताई गई है ।

नाटक करने से पहले जैसे कोई अच्छा अभिनेता उसकी प्रेक्टिस करता है, जिससे उन भावों से वह भावित बनकर प्रेक्षक को भी भावमय बना सके। उसी प्रकार चैत्यवंदन जैसी दुष्कर क्रिया करने से पहले साधक भी चैत्यवंदन के अनुरूप अपने चित्त को तैयार करने के लिए 'नमोऽत्थु णं' आदि सूत्रों के एक-एक पदों को यथायोग्य प्रकार से बोलता है और अरिहंत के गुणों से हृदय को भावित करता है । इस प्रकार भावित होने के बाद वह खड़ा होकर, पैर को जिनमुद्रा में, हाथ को योगमुद्रा में और दृष्टि को जिनप्रतिमा के ऊपर स्थित करके, यह सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा करता है ।

कायोत्सर्ग में स्थिर रहकर परमात्मामय बनने रूप याने परमात्मा के साथ एकमेक होनेरूप चैत्यवंदन करना अति दुष्कर है। इस सूत्र में इस दुष्कर कार्य की सिद्धि के लिए अत्यंत सहायक बने, वैसे पाँच सचोट साधन बताए हैं। उसके प्रयोगपूर्वक कायोत्सर्ग किया जाए, तो एक कुशल धनुर्धर की तरह लक्ष्य को सिद्ध किया जा सकता है । वे पाँच साधन सतत बढते हुए श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षा के परिणाम (भाव) हैं । ऐसे भावपूर्वक किया गया काउस्सग्ग, क्रमशः वीतराग भाव की प्राप्ति करवाता है।

सामान्य से देखें, तो इस सूत्र में मात्र कायोत्सर्ग की विधि बताई गई है; परन्तु उसके माध्यम से मोक्षाभिलाषी, विचारक और जिज्ञासु आत्मा को धर्म की प्रत्येक क्रिया किस प्रकार करनी चाहिए, उसका सुंदर मार्गदर्शन मिलता है ।

इस छोटे से सूत्र में भरे गहरे रहस्य को जानकर यदि भावपूर्वक यह सूत्र बोला जाए और श्रद्धा मेधा आदि भाव जीव के लिए सहज बन जाएँ, तो जीव कायोत्सर्ग और अन्य क्रियाओं द्वारा भी आत्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है ।

**मूलसूत्र :**

**अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं ।**
**वंदण-वत्तियाए पूअण-वत्तियाए सक्कार-वत्तियाए**
**सम्माण-वत्तियाए बोहिलाभ-वत्तियाए निरुवसग्ग-वत्तियाए**
**सद्धाए मेहाए धीइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए,**
**ठामि काउस्सग्गं ।**

**पद-१५ संपदा-३ अक्षर-८९**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :**

**अरिहंतचेइयाणं वंदण-वत्तियाए, पूअण-वत्तियाए, सक्कार-वत्तियाए,**
**सम्माण-वत्तियाए, बोहिलाभ-वत्तियाए, निरुवसग्ग-वत्तियाए ।**
*अर्हत्चैत्यानां वंदन-प्रत्ययं, पूजन-प्रत्ययं, सत्कार-प्रत्ययं,*
*सन्मान-प्रत्ययं, बोधिलाभ-प्रत्ययं, निरुपसर्ग-प्रत्ययं ।*

अरिहंत चैत्यों के वंदन के निमित्त से, पूजन के निमित्त से, सत्कार के निमित्त से, सम्मान के निमित्त से, बोधिलाभ के निमित्त से, मोक्ष के निमित्त से ।

**काउस्सग्गं करेमि ।**
*कायोत्सर्गम् करोमि ।*

मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

(अब कार्योत्सर्ग किस प्रकार करते हैं, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं।)

**वड्ढमाणीए सद्धाए, मेहाए, धीइए, धारणाए, अणुप्पेहाए काउस्सग्गं ठामि ।**
*वर्धमानया श्रद्धया, मेधया, धृत्या, धारणया, अनुप्रेक्षया कायोत्सर्गं तिष्ठामि ।*

बढती हुई श्रद्धा से, मेधा से, धृति से, धारणा से और अनुप्रेक्षा से मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ ।

**संपदाओं के नाम तथा हेतु :**

**(१) अभ्युपगम संपदा :**

अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं ।

इन पदों द्वारा काउस्सग्ग करने की प्रतिज्ञा का स्वीकार किया जाता है, इसलिए इसे अभ्युपगम संपदा कही जाती है ।

**(२) निमित्त संपदा :**

वंदणवत्तियाए... निरूवसग्गवत्तियाए ।

इस संपदा के पद काउस्सग्ग के निमित्त सूचित करते हैं, इसलिए इसे निमित्त संपदा कही जाती है ।

**(३) हेतु संपदा :**

सद्धाए... ठामि काउस्सग्गं ।

इस संपदा के सात पदों में काउस्सग्ग सम्यग् तरीके से निष्पन्न करने के उपाय बताए हैं, इसलिए इसे हेतु संपदा कही जाती है ।

**विशेषार्थ :**

**अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं -** अर्हत् चैत्यों के (वंदनादि के निमित्त से) मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

जो राग-द्वेष आदि दोषों से रहित हैं, अनंत ज्ञानादि गुणों से युक्त हैं तथा देव और देवेन्द्र भी जिनकी आठ महाप्रतिहार्य से पूजा करते हैं, उन्हें अरिहंत[1] कहते हैं। ऐसे अरिहंत परमात्मा की मूर्ति, मंदिर या स्तूप आदि को चैत्य कहते हैं।

---

1. अरिहंत की विशेष समझ के लिए देखें 'नवकार मंत्र' - सूत्रसंवेदना भा-१

निर्विकारी अरिहंत परमात्मा की प्रतिमा का दर्शन, योग्य आत्मा के चित्त में आह्लाद उत्पन्न करता है, समाधि भाव को प्रगट करता है और चित्त की प्रसन्नता का कारण बनता है। इस तरह चित्त के शुभभाव का कारण होने से अरिहंत की प्रतिमा को चैत्य[2] कहते हैं ।

संक्षेप में शुभ चित्त का कारण अथवा शुभ चित्त का कार्य, दोनों होने से अरिहंत की प्रतिमा **'चैत्य'** कहलाती है । इसका अर्थ यह हुआ कि - इस प्रतिमा के दर्शन से जिसके हृदय में शुभभाव प्रगट होते हों अथवा दर्शन, वंदनादि द्वारा जो शुभभाव को प्रगट करने के लिए प्रयत्न करतें हो, उनके लिए प्रतिमा चैत्य बनती है, परन्तु प्रतिमा देखकर जिनको शुभभाव नहीं आते और पूजन सत्कारादि द्वारा जो शुभभाव के लिए यत्न भी नहीं करते, उनके लिए यह प्रतिमा चैत्य नहीं कहलाती ।

यह पद बोलते हुए **'नमोऽत्थु णं'** में अरिहंत के जो गुण बताए हैं, वैसे स्वरूप वाले अरिहंत परमात्मा की यह प्रतिमा है और **'इस प्रतिमा के वंदन, पूजनादि से प्राप्त होनेवाले फल मुझे इस कायोत्सर्ग से प्राप्त हों !'** ऐसे भाव प्रगट करने हैं । ऐसे भावपूर्वक कायोत्सर्ग करने से कायोत्सर्ग में विशेष प्रकार से मन-वचन-काया की एकाग्रता प्राप्त होती है । एकाग्रता-पूर्वक किया हुआ अरिहंत का ध्यान अरिहंत के गुणों का आंशिक आस्वाद करवाता है ।

**'करेमि काउस्सग्गं'** = 'मैं कायोत्सर्ग[3] करता हूँ;' इस पद को **'निरुवसग्ग-वत्तियाए'** पद के बाद जोड़ना है । इसके द्वारा 'अरिहंत चैत्यों के वंदनादि निमित्त से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ,' ऐसा अन्वय प्राप्त होता है।

2. चित्त शब्द में ष्यम् प्रत्यय लगाकर यह शब्द बना है । इसका अर्थ चित्त अर्थात् अंतःकरण और उसका भाव वह चैत्य अथवा चित्त का कर्म (कार्य) चैत्य है (अथवा) चैत्यं=जिनौकः तद्बिम्बम् (अभिधान चिंतामणी कोष) कर्म का अर्थ क्रिया भी होता है, तब चित्त की - अंतःकरण की क्रिया वह चैत्य/अरिहंत की प्रतिमा प्रशस्त समाधियुक्त चित्त को उत्पन्न करता है, इसलिए अरिहंत की प्रतिमा को चैत्य कहा जाता है ।

3. कायोत्सर्ग संबंधी विशेष विवरण के लिए देखें - 'सूत्रसंवेदना' भा. १ में 'अन्नत्थ सूत्र ।'

वैसे तो कायोत्सर्ग की क्रिया **'अन्नत्थ'** सूत्र बोलने के बाद करनी है, तो भी यहाँ ऐसा प्रयोग क्रिया की सन्मुखता बताने के लिए किया जाता है ।

**वंदण-वत्तियाए** - वंदन के निमित्त से (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ)

अरिहंत चैत्य के वंदन से जो फल प्राप्त होता है, वह फल प्राप्त करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

**वंदणः** अनंत गुणों के धारक अरिहंत परमात्मा के प्रति बहुमान भाव को प्रगट करनेवाली मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को वंदन कहते है। परमात्मा महान हैं और उनकी अपेक्षा मैं हीन स्तर का हूँ ऐसा मन का परिणाम, 'नमो जिणाणं' आदि बहुमान भाव को व्यक्त करनेवाला वाणी का व्यापार तथा बहुमान भाव को प्रगट करनेवाली दो हाथ जोड़कर सिर झुकाकर, घुटनों को टेककर विधिपूर्वक की जानेवाली **काया की क्रिया** को वंदन कहते हैं ।

इस प्रकार बहुमानपूर्वक परमात्मा को वंदन करने से चित्त आह्लादित होकर वीतराग भाव की तरफ ढलता है, जिसके फलस्वरूप सांसारिक पदार्थों का आकर्षण घटता है । परमात्मा के साथ चित्त का अनुसंधान होने से अनादिकालीन राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के कुसंस्कार नाश होते जाते हैं और आत्मा परमात्मभाव के अत्यंत नज़दीक जा सकती है। इस प्रकार आत्मा का परमात्म भाव की तरफ़ का प्रसर्पण ही सच्चे अर्थ में वंदन है ।

**वत्तियाए** = निमित्त से, 'निमित्त'[4] शब्द, कारण और फल दो अर्थ में प्रयुक्त होता है । यहाँ 'निमित्त' शब्द को फल अर्थ में ग्रहण किया है अर्थात् कि वंदनादि पदों के साथ जुड़ा 'निमित्त' शब्द यह बताता है कि, "मैं वंदनादि के फल को प्राप्त करने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ ।"

---

4. निमित्त शब्द के दो अर्थ होते हैं : (१) कारण दा.त. उपादान के साथ निश्चित निमित्त मिले तब कार्य होता है'- यहाँ निमित्त शब्द कारणवाची है । (२) फलउप्रयोजन : दा.त. 'कर्मक्षय के निमित्त से मैं तप करता हूँ । इसमें तपस्या का प्रयोजन, फल कर्मक्षय है । यहाँ निमित्त शब्द फलवाची है ।'

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है,

*"इस प्रतिमा को वंदन करके अनेक भव्यात्माओं ने अपनी आत्मा पर रहे हुए गाढ़ मिथ्यात्व के मल को दूर करके सम्यग्दर्शन के शुद्ध भावों को प्राप्त किया होगा। अज्ञान के पटलों को भेदकर, सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्राप्त किया होगा। रागादि दोषों को दूर करके वैराग्य भाव की वृद्धि की होगी। हे नाथ ! मैं उनके उन भावों की अनुमोदना करता हूँ और इस कायोत्सर्ग द्वारा वैसे भावों की प्राप्ति मुझे हो, ऐसी भावना रखता हूँ ।"*

**जिज्ञासा :** "वंदनादि निमित्त से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ" क्या ऐसा बोलकर कायोत्सर्ग करने से वंदनादि का फल मिल सकता है ?

**तृप्ति :** हाँ, अवश्य मिल सकता है । चूँकि जैनशासन, करण, करावण और अनुमोदन का समान फल मानता है और परमात्मा की भक्ति रूप वंदन-पूजन-सत्कार आदि की अनुमोदना के लिए यह कायोत्सर्ग किया जाता है । इससे कायोत्सर्ग से वंदन का फल जरूर मिल सकता है, परन्तु इतना ध्यान में रहना चाहिए कि, यह कायोत्सर्ग वंदन के अनुमोदनार्थ है, और वास्तविक अनुमोदना वहीं कहलाती है, जिसमें यथाशक्ति प्रयत्न हो। जैसे वंदनादि द्वारा रागादि दोषों से दूर होकर वीतरागादि भावों के सन्मुख जाने का प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अगर कायोत्सर्ग काल में भी मन-वचन-काया की एकाग्रतापूर्वक वीतराग भाव को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए, तो जरूर कायोत्सर्ग से भी वंदन का फल मिल सकता है, मात्र शब्द बोलने से फल नहीं मिल सकता ।

**पूअण-वत्तियाए, सक्कार-वत्तियाए -** पूजन के निमित्त से, सत्कार के निमित्त से (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

अरिहंत परमात्मा के पूजन से और सत्कार से प्राप्त होनेवाले फल को पाने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

**पूजन :** केसर, चंदन, कस्तूरी, जल, पुष्प, धूप, दीपक आदि उत्तम सामग्री से परमात्मा की पूजा करना पूजन है ।

**सत्कार :** कीमती वस्त्रों या उत्तम कोटी के रत्नजड़ित सुवर्ण के अलंकारों वगैरह से परमात्मा की भक्ति करना सत्कार है ।

बाह्य सामग्री के राग को तोड़ने के लिए वंदन करने के बाद भी श्रावक श्रेष्ठ सामग्री से - उत्तम वस्त्र, अलंकारों से - परमात्मा की भक्ति करता है क्योंकि जब तक पौद्गलिक वस्तुओं के प्रति राग मंद न हो, तब तक वीतराग भाव के सन्मुख होना सम्भव नहीं है ।

जड़ पुद्गलों के सहारे शुभ अशुभ भाव करने की आदत वाले साधक उत्तम प्रकार के पूजन और सत्कार की सामग्री लेकर जब परमात्मा की भक्ति में लीन बनते हैं, तब अनेक भवों में एकत्रित किए कुकर्मों का विनाश[5] करते हैं, रागादि के कुसंस्कारों को शिथिल करते हैं, श्रेष्ठ कोटि के पुण्य का अनुबंध करते हैं और गुणसंपत्ति के स्वामी बनते हैं ।

**जिज्ञासा :** श्रावक तो साक्षात् पूजन और सत्कार करके उसका फल प्राप्त करता ही है, तो उसे उस निमित्त से कायोत्सर्ग किसलिए करना चाहिए ? और आरंभ से रहित ऐसे साधु को आरंभ युक्त पूजन-सत्कार करना ही नहीं है, तो साधु को कायोत्सर्ग द्वारा उसकी अनुमोदना क्यों करनी चाहिए ?

**तृप्ति :** जैसे धनार्थी जीव को अधिक-अधिक धन प्राप्ति की इच्छा रहती है, उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी मोक्ष के कारणभूत भगवान की भक्ति का लाभ ज्यादा से ज्यादा मिले वैसी इच्छा रहती ही है । इसी कारण साक्षात् भगवान की भक्ति करने के बाद भी अपनी की हुई भक्ति से असंतुष्ट श्रावक, दूसरों के किए हुए पूजा-सत्कार आदि रूप भक्ति के अनुमोदनार्थं कायोत्सर्ग करते हैं ।

---

5. भत्तीए जिणवराणं खिज्जंति पुव्वसंचिया कम्मा । - ठाणांगसूत्र टीका

**जिज्ञासा :** श्रावक जब साक्षात् पूजन आदि करता है, तब क्या उसे आरंभ-समारंभ के कारण हिंसाकृत पाप नहीं लगता ? तो फिर अगर अनुमोदना से वह पूजन आदि का लाभ ले ले पर साक्षात् उसे न करे तो चलता है ?

**तृप्ति :** श्रावक जब साक्षात् पूजन आदि करता है, तब आरंभ-समारंभ तो अवश्य होता है, पर श्रावक के लिए महारंभ-समारंभ से छूटने का उपाय भी यह पूजन आदि ही है, इसलिए श्रावक के लिए वह कर्तव्य बन जाता है।

तदुपरांत श्रावक अभी तक ऐसी भूमिका में हैं कि, वे उत्तम द्रव्यों के आधार पर ही उत्तम भाव निष्पन्न कर सकते हैं। रागादि के परवश श्रावक संसार के क्षेत्र में अच्छे द्रव्यों का उपयोग करके स्वयं तो रागादि से पीड़ित होते हैं, परन्तु अन्य के रागादि में भी निमित्त बनते हैं । दूसरी तरफ श्रावक जब उत्तम द्रव्यों से भगवान की भक्ति करता है, तब भगवान स्वयं रागरहित होने से भगवान की तरफ से राग वृद्धि का कोई कारण उसे प्राप्त नहीं होता; उत्तम द्रव्यों से की गई परमात्मा की भक्ति, रागादि रहित परमात्मा के प्रति विशेष प्रीति प्रगट करती है ।

प्रीतिपूर्वक की गई यह भक्ति ही जीव को परमात्मा के वीतरागादि गुणों की ओर ले जाती है। धीरे-धीरे उत्कृष्ट बनती हुई और बढ़ती जाती यह भक्ति भव्यात्मा को संपूर्ण रागादि रहित वीतराग स्वरूप बना देती है । वीतराग बनकर वह उत्तम आत्मा सभी कर्म को क्षय कर मोक्ष में जाती है। मोक्ष में जाते ही उसकी ओर से जगत् के जीव मात्र को अभय की प्राप्ति होती है । इस तरह द्रव्य पूजा सर्व जीवों को निर्भय बनाने का उत्तम मार्ग है। इसीलिए श्रावकों के लिए साक्षात् पूजनादि करने की भगवान की आज्ञा है ।

मुनि भगवंत तो द्रव्य के बिना भी उत्तम भावों द्वारा भक्ति कर सकते हैं, इसलिए उनके लिए द्रव्य भक्ति का विधान नहीं है, तो भी उपदेश द्वारा

प्रेरणा करने में और कायोत्सर्ग द्वारा अनुमोदना करने में उनको कोई बाधा नहीं है ।

मुनि उपदेश द्वारा भव्यात्मा को प्रभु भक्ति में जोड़ते हैं, तब भी उनका उपदेश आरंभ-समारंभ की अनुमति का नहीं होता, परन्तु भगवान की भक्ति के फल के वर्णन द्वारा श्रावक को भक्ति की भावना में प्रेरणा करने का ही होता है; इसलिए उपदेश देते समय वे खूब सावधानी रखते हैं कि कहीं उनकी वाणी से आरंभ-समारंभ की अनुमति न हो जाए, भगवद् भक्ति द्वारा जो फल श्रावक को अपेक्षित है, वही फल मुनि को भी अपेक्षित है, इसीलिए मुनि भगवंत श्रावक के पूजनादि की अनुमोदना कर सकते हैं।

इस प्रकार साधु का उपदेश देना भी योग्य है और पूजन आदि से होनेवाले भावों की अनुमोदना करना भी योग्य है । इसीलिए साधु भगवंत पूजन-सत्कार से होनेवाले भावों की निष्पत्ति-प्राप्ति के लिए अत्यंत उचित कायोत्सर्ग करते हैं ।

**सम्माण-वत्तियाए** - सम्मान के निमित्त से (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

अरिहंत चैत्यों के सम्मान से प्राप्त होनेवाले फल को प्राप्त करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

पूजन और सत्कार करने के बाद भी परमात्मा की भाव-भक्ति में विशेष प्रकार से एकाग्रता लाने के लिए, अरिहंत परमात्मा के गुणों का स्मरण करवाते, उनकी श्रेष्ठता का वर्णन करते, उनकी उपकारिता को याद करवाते महापुरुषों द्वारा रचित स्तवन, स्तुति, स्तोत्र और गीतादि से परमात्मा की विशेष प्रकार से भक्ति करना, यही सम्मान है ।

महापुरुषों द्वारा रचित अर्थ गंभीर स्तोत्रादि के सहारे जब साधक, परमात्मा के साथ तादात्म्य भाव को साधने का प्रयत्न करते हैं, तब वे दिव्य सुखों का उल्लंघन करनेवाले महाआनंद को प्राप्त कर सकते हैं। उस समय की उनकी अनुभूति के शब्द ही उनके आनंद की साक्षी हैं।

*"हम मगन भये प्रभु ध्यान में, ध्यान में ध्यान में ध्यान में...*
*बिसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरासुत गुण गान में..."*
*"दुःख दोहग दूरे टल्या रे... सुख संपदशुं भेट*
*धींग धणी माथे कीनो रे... कुण गंजे नर खेट"*

ऐसी विशिष्ट रचनाओं द्वारा "महापुरुषों ने जैसा आत्मा का आनंद प्राप्त किया और उसके द्वारा उन्होंने जैसी कर्म की निर्जरा या विशिष्ट पुण्य का बंध किया, वे सभी फल मुझे इस कायोत्सर्ग से प्राप्त हों ।"

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है,

*"इस प्रतिमा की स्तवना करके कितने योग्य जीवों ने कैसी सुखद संवेदना की होगी ! कैसे अपूर्व आनंद की अनुभूति की होगी ! उसके द्वारा उन्होंने कैसे विशिष्ट गुण प्राप्त किए होंगे। हे प्रभु ! मैं उनके उन श्रेष्ठ भावों की अनुमोदना करता हूँ और इस कायोत्सर्ग द्वारा मुझे भी वैसे ही उत्तम भावों की प्राप्ति हो, वैसी भावना से हृदय को भावित करता हूँ ।"*

"वंदणवत्तियाए" इत्यादि पद बोलते - वंदन, पूजन और सत्कार के काल में जो-जो विशेष भाव आने की संभावना है, उन भावों की अनुमोदना के लिए "मैं कायोत्सर्ग करता हूँ और कायोत्सर्ग द्वारा मुझे उन भावों से होनेवाले फल की प्राप्ति करनी है" - वह बात मन में दृढ़ करके, अगर उन उन पदों का उच्चारण हो, तो उस वक्त ही हृदय में विशिष्ट भावों का स्पर्श हो सकता है । इसलिए कायोत्सर्ग से मुझे यह फल प्राप्त हो ! ऐसे उद्देश्य के साथ इन पदों का उच्चारण करना चाहिए ।

अब वंदन, पूजन, सत्कार और सम्मान आदि से कौन-सा फल चाहिए ? यह बताते हुए कहते हैं -

**बोहिलाभवत्तियाए** - बोधिलाभ के निमित्त से (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

बोधिरूप फल की प्राप्ति के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

मुमुक्षु आत्मा का अंतिम लक्ष्य मोक्ष होता है । मुमुक्षु समझता है कि, मोक्ष मिलना आसान नहीं है। मोक्ष के लिए तो सबसे पहले अपनी आत्मा में सम्यग्दर्शन गुण प्रकट करना पड़ता है । सम्यग्दर्शन के बिना किसी जीव का कभी मोक्ष नहीं हुआ । चारित्र के बिना मोक्ष संभव है, परन्तु सम्यग्दर्शन[6] बिना तो मोक्ष कभी संभव नहीं है। इसीलिए यह पद बोलते हुए साधक सोचता है कि, इस कार्योत्सर्ग से मुझे वंदन-पूजन-सत्कार और सम्मान का अन्य कोई फल नहीं, परन्तु बोधि की प्राप्ति रूप फल ही प्राप्त हो ।

**जिज्ञासा :** श्रावक या साधु की भूमिका में रही आत्माएँ ही प्रायः करके चैत्यवंदन करती हैं और उनको तो सम्यग्दर्शन गुण प्रगट हुआ ही होता है, तो उनको इस बोधिरूप फल के लिए कायोत्सर्ग क्यों करना चाहिए?

**तृप्ति :** साधु भगवंत और श्रावक भी कायोत्सर्ग द्वारा बोधि रूप फल की इच्छा करते हैं; उसका कारण यह है कि, शुद्धि के भेद से सम्यग्दर्शन के असंख्य प्रकार हैं। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर संपूर्ण शुद्ध कक्षा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो, तब तक खुद को जिस भूमिका का सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो, उससे ऊपर की भूमिका के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए और प्राप्त हुए सम्यग्दर्शन को टिकाने के लिए यह प्रार्थना योग्य ही है । इसके अलावा व्यवहार से अपुनर्बंधक की कक्षा वाले साधक भी चैत्यवंदन की क्रिया करते हैं। उनको सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ होता, इसलिए वे तो यह पद बोलकर कायोत्सर्ग के फलरूप सम्यग्दर्शन की प्रार्थना अवश्य कर सकते हैं।

इसके उपरांत बोधि का अर्थ जैनधर्म की प्राप्ति भी होता है। जैनधर्म सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र स्वरूप रत्नत्रयी है । इस रत्नत्रयी की

---

6. **दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं । सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया न सिज्झंति।।**
सम्यग्दर्शन से पतित, जीव गिरा हुआ ही है क्योंकि सम्यग्दर्शन से पतित को मोक्ष नहीं मिलता। चारित्र से रहित व्यक्ति मोक्ष में जा सकता है, परन्तु सम्यग्दर्शन से रहित साधक को मोक्ष नहीं मिलता । - संबोध सित्तरी ।

आराधना के बिना कभी किसी का मोक्ष संभव नहीं है, इसलिए मुमुक्षु आत्मा, "मोक्ष के साधन रूप इस रत्नत्रयी की प्राप्ति कायोत्सर्ग द्वारा करने की इच्छा रखते हैं ।

जिनको प्राथमिक कक्षा के बोधि आदि गुण प्राप्त हो चुके हों, वैसी आत्माएँ उसके ऊपर की कक्षा की बोधि आदि की प्राप्ति के लिए कायोत्सर्ग द्वारा उसकी इच्छा रखती है क्योंकि शुद्धि के भेद से बोधि के असंख्य प्रकार हैं ।

अब बोधिलाभ भी किसलिए चाहिए ? वह बताते हुए कहते हैं -

**निरुवसग्ग-वत्तियाए -** मोक्ष के निमित्त से (मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

मोक्षरूप फल की प्राप्ति के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

सामान्य से भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त आत्माएँ समझती हैं कि इस संसार का मूल कारण मात्र (मोहाधीन) इच्छाएँ ही हैं । इन इच्छाओं के अधीन हुआ जीव अनेक कर्मो का बंध करता है । कर्म के कारण वे शरीरादि के संबंध में आते हैं । शरीर के कारण जन्म, मरण, रोग, शोक आदि पीडाएँ खड़ी होती हैं, उन पीडाओं का नाश करने के लिए और नई इच्छाएँ होती हैं; इस प्रकार चक्कर चलता ही रहता है । इसीलिए संसार की वास्तविकता को समझता हुआ साधक जहाँ कोई इच्छा नहीं, कोई उपद्रव नहीं, वैसे अनिच्छारूप-निरुपद्रवरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिए ही बोधि चाहता है ।

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है,

*"मुझे परम आनंद, परम सुख चाहिए, जो मोक्ष की प्राप्ति से मिलनेवाला है, इसलिए हे प्रभु ! इस कायोत्सर्ग के फलरूप मुझे और कुछ नहीं, परन्तु मात्र मोक्ष प्रदान करें और उसके कारणरुप बोधि प्रदान करें ।"*

कायोत्सर्ग का मुख्य प्रयोजन मोक्ष है । मोक्ष बोधि के बिना नहीं मिलता है। यद्यपि बोधि की प्राप्ति के लिए शास्त्र में अनेक उपाय बताए गये हैं,

परन्तु उसमें सर्वश्रेष्ठ उपाय परमात्मा की भक्ति है । वंदन, पूजन, सत्कार या सम्मान रूप भगवान की भक्ति से मोक्षमार्ग को समझने की शक्ति प्राप्त होती है । वंदनादि से प्रकट हुई परमात्मा के प्रति अंतरंग प्रीति तीव्र कोटि के रागादि भावों का विनाश करवाकर तत्त्वमार्ग पर चलने की शक्ति देती है। तत्त्वमार्ग की समझ और तत्त्वमार्ग का अनुसरण बोधि है । इसीलिए चैत्यवंदन करनेवाला साधक वंदनादि के फलरूप बोधि और बोधि के फलरूप मोक्ष की आकांक्षा रखता है ।

उत्कृष्ट फल के प्राणिधानपूर्वक किया हुआ यह कायोत्सर्ग, सतत बढ़नेवाली श्रद्धा, मेधा, घृति, धारणा और अनुप्रेक्षा रूप साधनों (भावों) के आसेवनपूर्वक ही सफल होता है । इसीलिए कायोत्सर्ग की सफलता के पहले साधन 'श्रद्धा' को बताते हैं ।

**वड्ढमाणिए सद्धाए** - श्रद्धा से (बढ़ती हुई श्रद्धा से मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ ।)

[7]श्रद्धा का अर्थ है निज अभिलाषा याने खुद की इच्छा । परमात्मा के गुणों की यथार्थ पहचान होने पर परमात्मा के प्रति बहुमान भाव प्रगट होता है । इस

7. चैत्यवंदन करने के लिए कैसी श्रद्धा चाहिए । यह बताते हुए ललितविस्तरा में निम्नोक्त लक्षण बताए हैं - चैत्यवंदन करने के लिए कैसी श्रद्धा होनी चाहिए, उसके निम्नलिखित लक्षण ललित विस्तरा में बताए गए हैं -

**१. तत्त्वानुसरण :** मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से श्रद्धा नाम का गुण प्रगट होने पर स्वाभाविक ही साधक जीवादि नवतत्त्व के अभिमुख होता है । उसे आश्रवादि हेय तत्त्वों के त्याग और संवरादि उपादेय तत्त्वों के स्वीकार की भावना जगती है। इसीलिए आश्रव को रोकनेवाले और संवरभाव को प्राप्त करवानेवाले चैत्यवंदन करने की उसे इच्छा होती है।

**२. आरोपनाश :** श्रद्धा के कारण आत्मिक (वास्तविक) सुख की आंशिक अनुभूति होती है, जिससे 'आत्मा से भिन्न जड़ पदार्थ मेरे सुख-दुःख का कारण हैं,' वैसा मिथ्यात्व के कारण होनेवाले आरोप (भ्रम) का नाश होता है और आत्मिक सुख को प्राप्त करने की भावना जागृत होती है । श्रद्धा से ऐसी प्रतीति होती है कि, पूर्ण सुख को प्राप्त परमात्मा की भक्ति से आत्मिक सुख प्राप्त होता है । इसलिए मैं पुनः पुनः चैत्यवंदन करूँ, इस प्रकार चैत्यवंदन करने की भावना श्रद्धा नाम के गुण से होती है ।

बहुमान भाव के कारण शर्म या बलात्कार से नहीं, परन्तु स्वयं ही चैत्यवंदन करने की जो इच्छा प्रगट होती है, वह श्रद्धा है। यह श्रद्धा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम से प्रगट होती है। मोहनीय कर्म की पकड जैसे-जैसे ढ़ीली पड़ती है, वैसे-वैसे चित्त में से रागादि की मलिनता दूर होती है, बुद्धि निर्मल बनती है और परमात्मा के गुणों का यथार्थ ज्ञान होता है। परमात्मा के प्रति ज्ञानपूर्वक के बहुमान से "ऐसे विशिष्ट गुणसंपन्न स्वामी मुझे मिले हैं" वैसा चित्त में आह्लाद होता है, मन प्रफुल्लित बनता है, शरीर रोमांचित होता है। इस प्रकार अंतरंग गुण के बहुमानपूर्वक भगवान की भक्ति करने की जो भावना है, वही श्रद्धा है ।

श्रद्धा के परिणामपूर्वक जब चैत्यवंदन की क्रिया का प्रारम्भ किया जाए, तब चैत्यवंदन के सूत्रों के प्रत्येक शब्दों के उच्चारण से हृदय अरिहंत के भाव से भावित होता है और अंत में वास्तविक चैत्यवंदन स्वरूप कायोत्सर्ग करने पर प्रभु के साथ एकरूपता होने पर चैत्यवंदन की यह क्रिया कितनी सुंदर है ! कैसी उत्तम है ! संसार की सुख भरी क्रिया में कैसे रागादि संकलेश हैं और धर्म की छोटी भी क्रिया में उपशम भाव का कैसा आनंद है, ऐसी अनुभूति होती है। इन सुखदायक संवेदनाओं के कारण श्रद्धा का परिणाम बढ़ता है और लगातार यह क्रिया करने की अभिलाषा जगती है । यही बढ़ती हुई श्रद्धा है और ऐसे श्रद्धा के परिणाम पूर्वक किया गया कायोत्सर्ग ही मोक्ष के अंतिम फल तक पहुँचा सकता है ।

---

**३. सत्प्रतीति :** श्रद्धा नाम के गुण से एक विश्वास प्रकट होता है कि, मेरे सुख और दुःख का कारण मेरे कर्म ही हैं । कर्म और कर्म के फल का जगत् में अस्तित्व है ही । कर्म के कारण ही ये सभी बंधन हैं । कर्मनाश का उपाय परमात्मा की भक्ति है । इसीलिए परमात्मा की अनेक प्रकार से भक्ति करके मेरे कर्मों का क्षय करूँ । ऐसी भावनापूर्वक चैत्यवंदन करने की इच्छा श्रद्धा है ।

**४. चित्तकालुष्य का नाश :** जैसे जलाशय में डाला हुआ जलकांत मणि पानी के कालुष्य को दूर कर जल को स्वच्छ करता है, वैसे ही श्रद्धारूपी रत्न भी चित्त में रहे संशयादि दोषों को दूर कर चित्त को स्वच्छ करता है । संशयादि दोष नाश होने से भगवान के बताए हुए मोक्ष मार्ग के ऊपर अत्यंत आदर होता है । हृदय इस मार्ग से भावित होता है, इसीलिए चैत्यवंदनादि शुभ क्रिया की अभिलाषा होती है ।

सामान्य से चैत्यवंदन करने की इच्छा तो बहुत बार बहुत जीवों को होती है परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से ख्याल आता है कि इस इच्छा के पीछे ज्यादातर तो मोहजन्य सुख की अभिलाषा अथवा ओघसंज्ञा या लोकसंज्ञा ही कारण होती है ऐसी इच्छा से किया हुआ कायोत्सर्ग श्रद्धा के परिणाम से रहित होने से श्रेष्ठ कोटि के बोधि आदि फल को नहीं दे सकता ।

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है -

*"क्या परमात्मा के प्रति अंतर में बहुमान प्रकट हुआ है ? यह क्रिया करके कर्म मल से मलिन आत्मा को निर्मल करने की भावना जागृत हुई है ? वीतराग के आलंबन से रागादि दोषों को दूर करने की इच्छा है ? अगर यह भाव अंतर में है तो ही वास्तविक श्रद्धा का परिणाम है और उससे ही मेरा कायोत्सर्ग सफल है । अगर अंतर में ऐसे भाव नहीं आएँगे, तो मेरा कायोत्सर्ग सफल नहीं बनेगा। इसलिए श्रद्धा के परिणाम को प्रकट करने के लिए मैं प्रयत्न करूँ ।"*

कायोत्सर्ग यह, मात्र श्रद्धापूर्वक सामान्य से सूत्र बोलने की क्रिया नहीं है परन्तु मन में बोले जानेवाले शब्द के मर्म को पकड़कर उसमें लीन होने की एक विशिष्ट क्रिया है, इसलिए उसमें केवल श्रद्धा नहीं, बल्कि मेधा याने बुद्धि की भी जरूरत है । इसीलिए अब कायोत्सर्ग की सफलता के दूसरे साधन **'मेधा'** को बताते हैं ...

**(वड्ढमाणिए) मेहाए -** मेधा से (बढ़ती हुई मेधा से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

मेधा का अर्थ है शास्त्र को समझने की कुशल बुद्धि । सूत्रों के तात्पर्य को समझने का तीव्र और सूक्ष्म मानसिक यत्न । कायोत्सर्ग ऐसी मेधा से करना चाहिए, जड़ता से नहीं । सम्यग् श्रद्धा से उत्पन्न हुई निर्मल बुद्धि आत्मा का अहित करे, वैसे अर्थशास्त्र और कामशास्त्र की उपेक्षा करवाकर आत्म-हितकर धर्मशास्त्र में प्रवृत्ति करवाती हैं। जैसे रोग की गंभीरता

समझने पर रोगी को दवा की तीव्र आवश्यकता लगती है, वैसे ज्ञानावरणीय और दर्शन मोहनीयकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त हुई निर्मल बुद्धि के कारण साधक को आत्मा का हित करनेवाले सच्चे सुख का मार्ग बतानेवाले भगवान के वचन रूप शास्त्र को समझने की लालसा होती है । यह लालसा भी मात्र शब्द में सीमित न होकर, शास्त्र के एक-एक शब्द के सूक्ष्म भाव तथा शब्द के पीछे छिपे गहरे तत्त्वों के संशोधन के लिए प्रयत्न करवाती है। निर्मल बुद्धि से प्रकट हुई आंतरिकसूझ के कारण ही साधक शास्त्रज्ञ सद्गुरु को ढूंढते हैं । सम्यग् प्रकार से उनकी उपासना करते हैं। उनकी कृपा का पात्र बनकर विधिवत् शास्त्र का अध्ययन कर शास्त्रों में रहे सूक्ष्म भावों को स्पर्श करने का प्रयत्न करते हैं ।

इस प्रकार मेधा[8] के परिणाम पूर्वक चैत्यवंदनादि सूत्रों का अध्ययन करके चैत्यवंदन करनेवाला साधक सूत्र के एक-एक पद द्वारा आत्मा को उपकारक, आत्मा को आनंददायक बहुत भावों का दर्शन कर सकता है । इसलिए वह सूत्रार्थ के विषय में दिन-प्रतिदिन विशेष प्रकार से मेधा को सक्रिय करता है । जिससे उसकी बुद्धि विशेष सूक्ष्म बनती है । इस तरह

8. चैत्यवंदन करने के लिए कैसी बुद्धि चाहिए । वह बताते हुए 'ललितविस्तरा' में 'मेधा' के निम्नलिखित लक्षण बताए गए हैं -

**१. सत्शास्त्र में प्रवृत्ति :** "इस जगत में जानने योग्य कुछ भी है, तो आत्महितकर शास्त्र ही है। इसलिए मिली हुई बुद्धि और शक्ति का पूर्ण उपयोग कर मुझे इन शास्त्रों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए ।" ऐसा ज्ञान निर्मल बुद्धि से होता है ।

**२. असत्शास्त्र में अवज्ञा :** ऐसी बुद्धि के कारण ही रागादि दोषों की वृद्धि करवानेवाले, कुशास्त्र के प्रति अत्यंत नापसंदी और अरुचि होती है ।

**३. गुरु विनय से प्राप्त :** गुरु भगवंतों से विनयपूर्वक शास्त्र ज्ञान पाने की इच्छा होती है। निर्मल बुद्धि से समझ में आता है कि शास्त्र ज्ञान सद्गुरु के प्रति बहुमान भाव से ही प्राप्त होता है। सद्गुरु के बहुमान के बिना शास्त्र पढ़ें, तो शायद शास्त्र के शब्दों का ज्ञान हो सकता है, परन्तु शास्त्रों के अपूर्व भाव नहीं जान सकते, इसलिए मेधावी पुरुष विनय-बहुमानपूर्वक शास्त्राभ्यास करते हैं ।

**४. शास्त्र के प्रति महान उपादेय भाव :** द्रव्य रोग से पीडीत रोगी को जैसे दवा अत्यंत उपादेय लगती है, वैसे ही निर्मल बुद्धि के कारण भावरोग के नाश के उपाय रूप शास्त्र (चैत्यवंदन सूत्र) अत्यंत उपादेय लगते हैं अर्थात् आदर करने योग्य लगते हैं, ग्रहण करने योग्य लगते हैं।

बढ़ती हुई मेधा से यह कायोत्सर्ग किया जाए, तो ही वह इष्टफल सिद्धि का कारण बन सकता है । ऐसी बुद्धि या बुद्धिपूर्वक के प्रयत्न के बिना जड़ता से किया गया कायोत्सर्ग इष्टफलसिद्धि का कारण नहीं बनता। **जड़ता का अर्थ यहाँ मात्र बुद्धि का अभाव न समझते हुए शब्द के मर्म को प्राप्त करने के विशेष प्रयत्न का अभाव समझना है।** इससे यह निश्चित होता है कि कायोत्सर्ग को सफल बनाने के लिए मन की शून्यता तो नहीं ही चलती, पर परन्तु सूत्र या सूत्र के सामान्य अर्थ की मात्र विचारणा भी नहीं चलती । कायोत्सर्ग की सफलता के लिए तो बुद्धिपूर्वक शब्द के विशेष भाव को समझकर उसके भाव में लीन होने के लिए विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है।

यह पद बोलने से पहले मन को निम्नोक्त भावों से भावित करना चाहिए -

*"कायोत्सर्ग में बोले जानेवाले प्रत्येक पद उसके भाव तक पहुँचने के लिए बोलने हैं। जब तक शब्द के सूक्ष्म भाव को समझकर उस भाव में लीन होने का मैं यत्न नहीं करूँगा, तब तक यह कायोत्सर्ग मेरी इष्टफलसिद्धि का कारण नहीं बन सकता ! इसी कारण मिली हुई बुद्धि का उपयोग करके यह पद इस प्रकार बोलूँ कि जिसके कारण उस पद के मर्म को प्राप्त करके उन भावों में मैं लीन होने का यत्न कर सकूँ ।"*

श्रद्धा और मेधापूर्वक चैत्यवंदन करनेवाले साधक को भी सूत्र के रहस्यों को जानकर सूत्रार्थ के माध्यम से प्रभु के साथ एकरूपता करने के लिए धृति की अत्यंत आवश्यकता रहती है । इसीलिए अब कायोत्सर्ग का तीसरा साधन 'धृति' कैसी होनी चाहिए, वह बताते हैं -

**(वड्ढमाणिए) धीइए** - धृति से (बढ़ती जाती धृति से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

धृति से कायोत्सर्ग करना है अर्थात् रागादि की विह्वलता के बिना मन में दुःखादि की चिंता से रहित बनकर, कृतनिश्चयी बनकर, कायोत्सर्ग करना है।

धृति अर्थात् मन का प्रणिधान या अंतरंग प्रीति ।

मेधा से कायोत्सर्ग करने से आत्मा के उपकारक बहुत भाव दिखाई देते हैं । इसीलिए ये भाव मुझे प्राप्त करने योग्य हैं, ऐसी अंतरंग प्रीति प्रकट होती है। मन के प्रणिधानपूर्वक की यह अंतरंग प्रीति ही धृति है । जहाँ सच्ची प्रीति होती है, वहाँ धृति अवश्य होती है ।

भोग में जिनको प्रीति होती है, वैसे लोग भौतिक सुख के लिए धीरजपूर्वक निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं; ऐसा लोक में दिखाई देता है । यद्यपि भौतिक क्षेत्र में प्रीति, मोहनीयकर्म के उदय से होती है। जिसके कारण वहाँ प्रीति के साथ रागादि जन्य व्याकुलता-विह्वलता आदि भाव भी रहते हैं; परन्तु श्रद्धा और मेधापूर्वक प्रगट हुई चैत्यवंदन के प्रति प्रीति और उससे प्रकट हुई धृति चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। इससे चैत्यवंदन करनेवाले साधक को चैत्यवंदन काल में रागादिकृत् व्यग्रता या विह्वलतादि भाव नहीं सताते और वे एकाग्रतापूर्वक निश्चिंतता से दृढ़ प्रयत्न कर सकते हैं ।

रागादिकृत् विह्वलता का अभाव होने के कारण धृति प्राप्त साधक में दीनता या उत्सुकता नहीं होती । धृति प्राप्त होने से पहले जब साधक को मेधा से चैत्यवंदन की क्रिया के भावों का बोध होता है, तब वह उन भावों को महसूस करना चाहता है । उसके लिए वह प्रयत्न भी करता है, पर कईबार रागादि की आकुलता के कारण वह उन भावों को उत्पन्न नहीं कर पाता । ऐसा होने पर धृति रहित साधक विवेकपूर्ण विचार के अभाव में दीन बन जाता है। उसके मन पर हताशा छा जाती है । 'कब इन भावों' को स्पर्श करके मैं आत्मा का आनंद पाऊँ," ऐसी उत्सुकता भी हो जाती है । परन्तु धृतिमान आत्मा को 'मेरा क्या होगा ?' ऐसे विशिष्ट भाव को 'मैं कब पा सकूँगा ?' ऐसी दीनता नहीं आती । वह तो सतत मनोरथ की वृद्धि करता है -

*"कभी न कभी इस क्रिया से ही मैं इस भाव तक पहुँचकर - आत्मा का आनंद प्राप्त कर सकूँगा । अतः और ज्यादा प्रयत्न करूँ । मेरे प्रयत्न में*

*अब तक कमी है । मेरे कर्म वास्तव में भारी हैं । इसीलिए मैं इन भावों को प्राप्त नहीं कर सका, परन्तु और प्रयत्न करूँगा, तो जरूर ये भाव मुझे प्राप्त होंगे ।"*

विवेकपूर्वक किए हुए इन विचारों के कारण दीनता तो नहीं आती, परन्तु थोड़े प्रयत्न से ज्यादा फल प्राप्त करने की इच्छा रूप उत्सुकता भी नहीं आती। दीनता या उत्सुकता निर्विचारक को ही होती है । प्रयत्न कम करना और समय से पहले फल की इच्छा रखना, यह निर्विचारकता का ही प्रदर्शन है ।

और यह धृति[9] धीर-गंभीर आशय स्वरूप है । धृति, धीर-गंभीर आशयरूप होने के कारण ही धृतिमान व्यक्ति ही पदार्थ की गहराई तक जा सकता है और देखे गए भावों को प्राप्त करने के लिए अधिक प्रयत्न भी कर सकता है ।

इसीलिए शास्त्रकारों ने इस धृति को अवश्य कल्याण करनेवाले चिंतामणि रत्न की प्राप्ति तुल्य कहा है । जैसे चिंतामणि रत्न मिलते ही संसारी जीवों को विश्वास हो जाता है कि, अब मेरी दरिद्रता नाश हो जाएँगी एवं मैं श्रीमंत बन जाऊँगा। यद्यपि चिंतामणि मिलने मात्र से दरिद्रता का नाश नहीं होता । विधिवत् उसका सेवन या उसकी उपासना करने के बाद भी पुण्यवान को ही इष्ट फल देता है । तो भी चिंतामणि मिलते ही जैसे विश्वास होता है कि 'अब मेरी दरिद्रता गई, वैसे धृतिपूर्वक चैत्यवंदन करनेवाले को भी विश्वास होता है कि दरिद्र अवस्था तुल्य यह मेरा संसार अब अधिक समय नहीं रहेगा ।'

इसलिए अब उसे सांसारिक दुःखों की चिंता नहीं रहती, अब तो उसे विश्वास हो जाता है कि, मैं चैत्यवंदन करने से अवश्य सुखी बनूँगा ।

9. चैत्यवंदन करने के लिए कैसा धीरज चाहिए यह जानने के लिए ललितविस्तरा में **'धृति'** के लक्षण बताए हैं - '

१. दीनता-उत्सुकता का अभाव, २. धीर-गंभीर आशयरुपता ।

इसीलिए वह निश्चिंत होता है । इस विश्वास के कारण यह चैत्यवंदन जैसा अति कठिन काम भी गंभीरता से धीरजपूर्वक पार कर सकता है । बुद्धि से प्रतीत भावों को हृदय तक पहुँचाना, आत्मा में उसकी संवेदनाएँ प्रगट करना आसान नहीं है। उसके लिए अथक परिश्रम और अत्यंत धीरज की ज़रूरत है ।

इस पद का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है,

*"कायोत्सर्ग की इस क्रिया को सफल करने के लिए मुझे धीरता और गंभीरता से यत्न करना चाहिए। थोडा प्रयत्न करके, 'इतना प्रयत्न कर रहा हूँ तो भी मुझे फल मिलता ही नहीं है' ऐसी दीनता करूँगा तो इस क्रिया का फल मैं नहीं प्राप्त कर पाऊँगा, इसीलिए धैर्य धारणकर गंभीरतापूर्वक मुझे ऐसा यत्न करना चाहिए कि, जिससे शीघ्र फल की प्राप्ति हो ।"*

धृतिपूर्वक कायोत्सर्ग करनेवाला भी सूत्र-अर्थादि की धारणा न कर सके तो उसका कायोत्सर्ग सफल नहीं होता। इसीलिए कायोत्सर्ग के चौथे साधन 'धारणा' को बताते हैं -

**(वड्ढमाणिए) धारणाए** - धारणा से (बढ़ती हुइ धारणा से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

धारणा अर्थात् यादशक्ति, बोध की अविच्युति याने बोध की विस्मृति का अभाव । क्रिया में आनेवाले सूत्र, उनका अर्थ, आलंबन और मुद्रा आदि के पूर्ण स्मरणपूर्वक का मानसिक परिणाम धारणा है । धारणायुक्त जीव को सूत्रादि संबंधी लेश मात्र भी विस्मरण नहीं होता । तीव्र यादशक्ति के कारण कायोत्सर्ग करते हुए बोले जा रहे सूत्र, उनके अर्थ और सूत्रार्थ से वाच्य जो अरिहंतादि पदार्थ हैं, उन सब के ऊपर क्रमिक अनुसंधानपूर्वक वह पूरा ध्यान दे सकता है । चैत्यवंदन के प्रारंभ से अंत तक के एक-एक पद उसके भावपूर्वक एकवाक्यता से स्मृति में लाकर कायोत्सर्ग किया जाए तो धारणापूर्वक का कायोत्सर्ग कहलाता है ।

धारणापूर्वक क्रिया करने से आत्मा के ऊपर क्रिया के दृढ़ संस्कार पड़ते हैं । कभी भी यह क्रिया की या नहीं, यह बोला या नहीं वैसी शंका या भ्रम नहीं होता। धारणा के कारण जैसे साधक को उन सूत्रादि का स्मरण होता है, वैसे उसकी चित्त की परिणति भी ऐसी तैयार होती है कि वह वस्तु के क्रम को भी यथायोग्य तरीके से ग्रहण कर सकता है अर्थात् क्रम के अनुसार सूत्र के प्रत्येक शब्द, उसके अर्थ और उससे प्राप्त होनेवाले पदार्थ की धारणा कर सकता है ।

उत्तम प्रकार के मोतियों को गूंथनेवाला व्यापारी जानता है कि किसके बाद कौन-सा मोती गूँथने पर माला देखने में सुंदर लगेगी । इसलिए वह उसी क्रम में उस मोती को गूंथने का प्रयास करता है, लेश मात्र भी भूल नहीं करता । जिससे सुंदर माला तैयार होती है । वैसे ही चैत्यवंदन करनेवाला साधक भी शास्त्र में जिस प्रकार चैत्यवंदन करने को कहा गया है, उसे बराबर से ध्यान में रखकर धारणापूर्वक सूत्र के एक-एक शब्द को बोलते समय परमात्मा के साथ आत्मा का अनुसंधान करने का प्रयत्न करता है । जिससे चैत्यवंदन काल में साधक अलौकिक आनंद की अनुभूति कर सकता है । इस प्रकार बढ़ती हुई धारणा से भावपूर्वक की जानेवाली चैत्यवंदन की क्रिया अमृत अनुष्ठान रूप बनती है । धारणा[10] का यह परिणाम (भाव) भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रगट होता है ।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रगट हुआ 'धारणा' नाम का गुण मुख्यतया तीन भेदवाला होता है ।

१. बोलते समय प्रत्येक सूत्र में परस्पर एकवाक्यता जोड़कर संपूर्ण सूत्र

10. चैत्यवंदन करने के लिए कैसी यादशक्ति चाहिए यह बताते हुए ललितविस्तरा में 'धारणा' के निम्नलिखित लक्षण बताए गए हैं -

**१. अविच्युति, वासना** और **स्मृति** धारणा के ये तीन प्रकार हैं -

अविस्मरण, सुनी गई और जानी गई बात को कुछ समय तक न भूलना, अविच्युति है। **अविच्युति** से आत्मा के ऊपर एक प्रकार का संस्कार पड़ता है, उसे **वासना** कहते हैं और इस वासना के कारण निमित्त मिलने पर उन वस्तुओं का स्मरण पुनः पुनः हो, उसे **स्मृति** कहते हैं।

द्वारा अखंड शाब्दबोध हो, उस तरीके से सूत्र और अर्थ का उपयोग रखना, **अविच्युतिरुप धारणा** है ।

२. चैत्यवंदन आदि करते समय बोले जानेवाले सूत्र से चित्त में पडे हुए संस्कारों का बाद में बोले जानेवाले सूत्रों बोलते समय भी संस्काररूप से अवस्थित रहना, **वासनारूप धारणा** है ।

३. चैत्यवंदनादि में उत्तरोत्तर सूत्र बोलते समय पूर्व - पूर्व के सूत्रों का अनुसंधान एक वाक्यता से उपस्थित हो जाए, उस प्रकार के उपयोग का प्रवर्तमान होना, **स्मृतिरूप धारणा** है ।

धारणा का परिणाम एक विशिष्ट चित्त परिणति स्वरूप है । वह परिणति, जिस क्रम से प्रत्येक पूर्व पूर्व के सूत्रों के साथ उत्तर-उत्तर के सूत्रों का अनुसंधान होता है, उस क्रम को याद करके तथा उसी क्रम से प्रत्येक सूत्रों के भाव को भी याद करके, भगवान के प्रति बहुमान बढ़ता जाए, ऐसी आनुपूर्वी से युक्त चित्त परिणति होती है ।

जैसे कोई व्यक्ति कोई पिक्चर या सीरीयल देखने बैठा हो, तब अगर वह पूर्व पूर्व के प्रसंगों के साथ उत्तर-उत्तर के प्रसंगों का अनुसंधान जोड़ सके, वैसी चित्त की परिणति से युक्त हो, तो ही वह पिक्चर का मजा ले सकता है । वैसे ही चैत्यवंदन की क्रिया भी सफल करने के लिए ऐसे अनुसंधान से युक्त चित्त होना चाहिए ।

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है,

*"अगर नाटक जैसी तुच्छ क्रिया भी साद्यंत स्मृति में रहे, तो ही आनंद देती है, तो श्रेष्ठ चैत्यवंदन की क्रिया के लिए क्या कहना ? यह क्रिया भी मुझे इस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे सभी सूत्र और उसके अर्थ साद्यंत स्मृति में रहें, तो ही इस क्रिया का आनंद प्राप्त किया जा सकता है । इसलिए मुझे सूत्र का एक-एक पद इस प्रकार बोलना चाहिए कि, क्रम के हिसाब से बराबर स्मृति में रहें ।"*

श्रद्धा, मेधादि द्वारा सूत्रों के जिन भावों का अनुभव किया हो उनके गहरे रहस्यों को प्राप्त करने के लिए, प्राप्त हुए उन भावों को और दृढ़ करने के लिए तथा उत्तरोत्तर उन भावों को तीव्र करके मोक्षमार्ग तक पहुँचने के लिए अनुप्रेक्षा की अत्यंत जरूरत है ।

इसलिए अब कायोत्सर्ग के पाँचवें साधन अनुप्रेक्षा[11] को बताते हैं -

**(वड्ढमाणिए) अणुप्पेहाए -** अनुप्रेक्षा से (बढ़ती हुई अनुप्रेक्षा से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

अनु अर्थात् पीछे और प्रेक्षा अर्थात् प्रकृष्टरूप से देखना । वांचना, पृच्छना, परावर्तन के द्वारा एक बार जिस सूत्र का ज्ञान मिला हो उसका, या अन्य आत्महितकर पदार्थों का ही बार-बार विचार करना, उन्हें सूक्ष्मता से समझना, उनके ऊपर गहरा चिंतन करना, सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिंतन द्वारा उन भावों में लीन होने का प्रयत्न करना, **अनुप्रेक्षा** है ।

'भगवान के गुणों से आत्मा को वासित करने के लिए की जानेवाली चैत्यवंदन की क्रिया मैं कैसे करूँ कि जिससे वीतराग के साथ मैं एक बन

11. चैत्यवंदन करने के लिए किस प्रकार की अनुप्रेक्षा चाहिए । वह बताते हुए ललित विस्तरा में अनुप्रेक्षा के निम्नलिखित लक्षण बताए हैं -

**१. अनुभूत पदार्थों का अभ्यास विशेष :** वांचना, पृच्छना, परावर्तना द्वारा किसी भी पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके जब उसके ऊपर अनुप्रेक्षा की जाती है, तब वे पदार्थ अत्यंत अभ्यस्त हो जाते हैं।

**२. परम संवेग का प्रकटीकरण :** चैत्यवंदन सूत्र के एक-एक पद परमात्मा के लोकोत्तम स्वरूप को बतानेवाले हैं, उसकी अनुप्रेक्षा परमात्मा के भाव को प्राप्त करने की इच्छारूप संवेग को प्रगट करती है।

**३. दृढ़ संवेगभाव :** तथा अनुप्रेक्षा करने से यह संवेग का परिणाम दृढ़-दृढ़तर होता जाता है।

**४. उत्तरोत्तर विशेष संप्रत्याकार हृदयास्था :** जैसे-जैसे तत्त्वभूत पदार्थ की अनुप्रेक्षा बढ़ती है, वैसे-वैसे 'ये तत्त्व ऐसे ही हैं' ऐसी हमें प्रतीति होती है। अब 'ज्ञानी कहते हैं,' इसलिए नहीं परन्तु खुद को भी वह वस्तु वैसी ही संवेदित होती है ।

**५. केवलज्ञान सन्मुख चित्तधर्म का प्रकट होना :** सर्वज्ञ कथित शास्त्र के सभी शब्द दोष के निरोध में और गुणों को प्रकट करने में यत्न करवाते हैं । उन-उन शब्दों की अनुप्रेक्षा दोषों का नाश करवाकर गुणों की संवेदनाएँ करवाती हैं, जो उत्तरोत्तर वृद्धि पाती हुई मोक्ष में विश्रांत होती है।

*जाऊँ ? मुझ में भी परमात्मा के जैसी वीतरागता प्रगट हो' इस प्रकार* परमार्थ का चिंतन करना, अनुप्रेक्षा है ।

चैत्यवंदन संबंधी अनुप्रेक्षा से विशेष प्रकार के निर्लेप भाववाले चित्त का संप्रत्यय होता है अर्थात् ऐसे चित्त की प्रतीति होती है । इस अनुभूति से ऐसा निर्लेपभाव प्रकट होता है कि जिसके द्वारा साधक क्षपकश्रेणी पर भी आरूढ हो सकता है । इसलिए ही कहा है कि अनुप्रेक्षा के बल से जीव को भविष्य में केवलज्ञान की प्राप्ति सुलभता से होती है ।

किसी भी पदार्थ की अनुप्रेक्षा के लिए सबसे पहले उस पदार्थ का परिचय पाना चाहिए । उसके लिए योग्य गुरु के पास विनयपूर्वक उसकी वांचना लेनी चाहिए । उसमें हुए संदेह के निवारण के लिए पृच्छना करनी चाहिए। फिर उस पदार्थ को स्थिर करने के लिए पुनः पुनः उसका पुनरावर्तन करना चाहिए । पुनरावर्तन से परिचित हुए पदार्थ की गहराई तक पहुँचने के लिए, उसके रहस्यों को आत्मसात् करने के लिए, चिंतनीय पदार्थ में लीन बनने के लिए, पुनरावर्तन के बाद अनुप्रेक्षा की जाती है।

परिचित पदार्थ की पुनः पुनः अनुप्रेक्षा करने से वह पदार्थ ज्यादा अभ्यस्त होता है । तब उसी पदार्थ पर चिंतन करने से नए-नए अनेक अर्थ निकलते हैं । चित्त सहजता से उसमें लीन बनता है । अन्य विकल्प शांत होते हैं । इससे आत्मा शुभध्यान में लीन बनती है । शुभध्यान द्वारा दोषों का उन्मूलन और गुणों का प्रकटीकरण होता है । उससे साधक केवलज्ञान के अत्यंत निकट जा सकता है। इस तरह केवलज्ञान को नज़दीक लाने का उपाय ही अनुप्रेक्षा है।

इसीलिए शास्त्रकारों ने इस अनुप्रेक्षा को रत्नशोधक अग्नि जैसा कहा है। जैसे बहुत समय से खान में पड़ा मलिन रत्न अग्नि में डालने से शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अनुप्रेक्षा रूप अग्नि प्रज्वलित होने पर कर्म कचरें से मलिन हुई, रागादि दोषों से दूषित हुई आत्मा भी शुद्ध-शुद्धतर होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकती है ।

अनुप्रेक्षा अमृत है । अनुप्रेक्षा के फायदे तो अनुप्रेक्षा करनेवाली आत्माएँ ही समझ सकती हैं; परन्तु शास्त्र कहते हैं कि, अगर वास्तविक तरीके से एक पद की भी अनुप्रेक्षा की जाए तो उसके द्वारा कषायों को निकालकर, विषयों की वासना को विदा करके आत्मज्ञान द्वारा साधक अनुभवज्ञान तक पहुँच सकता है ।

यह पद बोलते हुए साधक सोचता है -

*"संसार का निस्तार करके अगर मुझे मोक्ष में जाना हो, तो इस अनुप्रेक्षा के बिना नहीं चलेगा । अतः चैत्यवंदन के एक-एक पद का अध्ययन करके, उसकी गहरी अनुप्रेक्षा करके एक-एक पद इस तरह बोलूँ कि जिसके कारण अरिहंतादि में लीन बनकर आत्मा का आनंद अभी ही पा सकूँ ।"*

**वड्ढमाणीए** - बढती हुई (श्रद्धादि द्वारा मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

कायोत्सर्ग के साधनभूत श्रद्धा आदि जो भाव हैं वे अवस्थित न रहकर बढते रहने चाहिए। एक बार श्रद्धा, मेधा आदि का जो भाव पैदा हुए हो, वह उतने के उतने नहीं रहना चाहिए परन्तु दिन-प्रतिदिन उसमें विकास और वृद्धि होनी चाहिए ।

सतत बढ़ते हुए श्रद्धा-मेधादि के परिणाम ही ऐसे हैं कि, तत्पूर्वक चैत्यवंदनादि की क्रिया करने से आत्मा एक अपूर्व आनंद को प्राप्त कर सकती है । इसीसे साधक उस मार्ग पर आगे बढ़ते-बढ़ते अंत में अपूर्वकरण की महासमाधि को प्राप्त करके, उसके द्वारा क्षपकश्रेणी पाकर घनघाति कर्मों के समूह का नाश करके, केवलज्ञान की महान लक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है । इसीसे इन श्रद्धादि परिणामों को अपूर्वकरण रूप महासमाधि का बीज़ (कारण) कहा गया है ।

**जिज्ञासा :** कायोत्सर्ग करते समय यह कायोत्सर्ग मैं श्रद्धादि से करता हूँ, वैसा बोलने की क्या जरूरत है ?

**तृप्ति :** इस प्रकार बोलने से मन में एक प्रणिधान होता है कि मुझे यह कायोत्सर्ग ऐसे-वैसे नहीं करना है, बल्कि श्रद्धादि के परिणामपूर्वक ही

करना है । यदि इस तरह कायोत्सर्ग करूँगा तो ही मेरा कायोत्सर्ग सफल होगा। 'हाँ' कभी श्रद्धादि के परिणाम में तरतमता हो सकती है । कई बार ये श्रद्धादि के परिणाम मंद मंदतर भी हो सकते हैं और कई बार वहीं परिणाम तीव्र-तीव्रतर भी हो सकते हैं, पर श्रद्धादि परिणामपूर्वक अगर कायोत्सर्ग हो, तो ही बोला हुआ वचन सार्थक कहलाता है, वरना ये शब्द प्रयोग असत्यरूप निश्चित होते हैं और बुद्धिमान कभी असत्य शब्द का प्रयोग नहीं करते ।

यह 'वड्ढमाणीए' पद पूर्व के प्रत्येक पद के साथ जोड़ना है । इसलिए बढ़ती हुई श्रद्धा से, बढ़ती हुई मेधा से, बढ़ती हुई धृति से, बढ़ती हुई धारणा से और बढ़ती हुई अनुप्रेक्षा से ऐसा अर्थ करना है ।

**ठामि काउस्सग्गं** - मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ ।

इस पद से कायोत्सर्ग का स्वीकार किया जाता है । पूर्व में 'करेमि' पद द्वारा मैं करूँगा, ऐसे कहकर क्रिया की सन्मुखता बताई थी। अब क्रिया की अत्यंत निकटता होने से एवं क्रियाकाल और समाप्ति काल का अत्यंत अभेद होने से 'मैं कायोत्सर्ग में रहता हूँ' ऐसा कहा है।

यह पद बोलते हुए साधक संकल्प करता है,

*"भगवंत यह कायोत्सर्ग की क्रिया मैं बढ़ती हुई श्रद्धादि के परिणामों से करना चाहता हूँ । यद्यपि श्रद्धादि भाव सहित यह क्रिया करनी कठिन है, फिर भी हे प्रभु ! आप ऐसी कृपावृष्टि करें, ऐसा आशीर्वाद प्रदान करें कि मेरी इस प्रतिज्ञा का अणिशुद्ध पालन कर मैं प्रभुमय बन सकूँ ।"*

# कल्लाण-कंदं सूत्र

**सूत्र परिचय :**

इस सूत्र की प्रथम गाथा में पाँच जिनेश्वर भगवंतों को भक्तिपूर्वक वंदना की गई है, इसलिए इस सूत्र का दूसरा नाम 'पंच जिनस्तुति'भी कहलाता है।

ये सूत्र चार स्तुति स्वरूप हैं । ऐसी रचना को स्तुति का जोड़ा कहा जाता है । इसकी प्रथम गाथा में अधिकृत जिन की स्तुति (स्तवना) है । जिस परमात्मा को उद्देश्य बनाकर देववंदन किया जाता हो, उस परमात्मा के गुण की स्तवना अधिकृत जिनस्तवना कहलाती है । परमात्मा के प्रति भक्तिभाव की वृद्धि के लिए चैत्यवंदन में प्रथम 'नमोत्थु णं' सूत्र द्वारा गुणों का स्मरण किया जाता है । उसके बाद उनके वंदन, पूजन, सत्कार आदि से होनेवाले लाभ के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है । उसके बाद विशेष भक्तिभाव से अधिकृत जिन की यह प्रथम स्तुति बोली जाती है ।

चौबीस तीर्थंकर भगवंत गुणों से समान है इसलिए जैसे अधिकृत जिन उपकारक हैं, वैसे गुण की दृष्टि से चौबीसों जिनेश्वर भी जीवों के लिए उपकारक हैं । अतः अधिकृत जिन की स्तुति करने के बाद, इन चौबीसों जिनों की स्तवना के लिए 'लोगस्स' सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करके चौबीस जिन के गुणगान स्वरूप दूसरी स्तुति बोली जाती है ।

भगवान की तरह उनके वचन रूप श्रुतज्ञान भी भव्य जीवों को संसार सागर से तैराने में प्रबल निमित्त हैं । अतः चौबीस जिनकी स्तुति करने के बाद श्रुतज्ञान के प्रति भक्ति की वृद्धि के लिए श्रुतस्तव (पुक्खरवरदी सूत्र) बोलकर, कायोत्सर्ग करके श्रुतज्ञान के महत्त्व को बतानेवाली तीसरी स्तुति (थुई) बोली जाती है ।

सन्मार्ग में प्रवर्तित व्यक्ति को विघ्न आने की बहुत संभावनाएँ हैं । जैन शासन के प्रति भक्तिवाले देव-देवियाँ संघ के भक्तों की वैयावच्च करने में तथा शासन के ऊपर आनेवाले विघ्नों को दूर करने में उद्यमशील होते हैं। इसीलिए उनके स्मरण द्वारा उन्हें विघ्न निवारण आदि में सहायता करने के लिए शासन-सेवक देव-देवी की (यक्ष-यक्षिणी की) स्तवना के रूप में चौथी स्तुति बोली जाती हैं । इस प्रकार यह सूत्र चार विभाग में बाँटा गया है ।

यह स्तुति सुबह के प्रतिक्रमण में हमेशा तथा दैवसिक प्रतिक्रमण में मांगलिक प्रतिक्रमण के वक्त बोली जाती है ।

**मूल सूत्र :**

**कल्लाण-कंदं-पढमं जिणिंदं,**
**संतिं तओ नेमिजिणं मुणिंदं ।**
**पासं पयासं सुगुणिक्क-ठाणं,**
**भत्तीइ वंदे सिरिवद्धमाणं ।।१।।**

**अपार-संसार-समुद्द-पारं,**
**पत्ता सिवं दिंतु सुइक्क-सारं ।**
**सव्वे जिणिंदा सुर-विंद-वंदा,**
**कल्लाण-वल्लीण विसाल-कंदा ।।२।।**

**निव्वाण-मग्गे वर-जाण-कप्पं,**
**पणासियासेस-कुवाइ-दप्पं ।**

**मयं जिणाणं सरणं बुहाणं,**
**नमामि निच्चं तिजग-प्पहाणं ।।३।।**
**कुंदिंदु-गोक्खीर-तुसार-वन्ना(ण्णा),**
**सरोज-हत्था कमले निसन्ना(ण्णा) ।**
**वाएसिरी पुत्थय-वग्ग-हत्था,**
**सुहाय सा अम्ह सया पसत्था ।।४।।**

**अन्वयार्थ सहित संस्कृत छाया :**

**कल्लाणकंदं पढमं, जिणिंदं संतिं, तओ मुणिंदं नेमिजिणं,**
**पयासं पासं, सुगुणिक्कठाणं सिरिवद्धमाणं भत्तीइ वंदे ।।१।।**
*कल्याणकन्दं प्रथमं, जिनेन्द्रं शान्तिं, ततः मुनीन्द्रं नेमिजिनं,*
*प्रकाशं पार्श्वं, सुगुणैकस्थानं श्रीवर्धमानं भक्त्या वन्दे ।।१।।*

कल्याण के कंद समान प्रथम जिनेश्वर (ऋषभदेव भगवान) को, जिनों में इन्द्र समान श्री शांतिनाथ भगवान को, उसके बाद मुनियों में इन्द्र समान श्री नेमिनाथ भगवान को, प्रकाश करनेवाले श्री पार्श्वनाथ भगवान को (और) उत्तम गुणों के एक स्थानभूत श्री वर्धमान स्वामी को मैं भक्ति से वंदन करता हूँ ।।१।।

**अपार-संसार-समुद्द-पारं पत्ता, सुरविंद-वंदा,**
**कल्लाण-वल्लीण विसाल-कंदा सव्वे जिणिंदा सुइक्कसारं सिवं दिंतु ।।२।।**
*अपार-संसार-समुद्रपारं प्राप्ताः, सुरवृन्दवन्दिताः,*
*कल्याण-वल्लीनां विशालकन्दाः सर्वे जिनेन्द्राः श्रुत्येकसारं शिवं ददतु ।।१।।*

अपार संसार समुद्र के पाररूप मोक्ष को जिन्होंने प्राप्त किया है वैसे, देवों के समुदाय से वंदित और कल्याणरूपी वेल के विशाल कंद समान सभी जिनेन्द्र, मुझे श्रुति के एक साररूप शिव (सुख) प्रदान करें ।।२।।

**निव्वाण-मग्गे वर-जाण-कप्पं, पणासियासेस-कुवाइ-दप्पं,**
**बुहाणं शरणं, तिजग-प्पहाणं जिणाणं मयं निच्चं नमामि ।।३।।**

*निर्वाण-मार्गे वर-यान-कल्पं, प्रणाशित-अशेष-कुवादि-दर्पं ।*
*बुधानां शरणं, त्रिजगत्-प्रधानं जिनानां मतं नित्यं नमामि ।।३।।*

मोक्षमार्ग में श्रेष्ठ वाहन तुल्य, समस्त कुवादियों के अभिमान का विनाश करनेवाले, पंडित पुरुषों के शरण स्थल (और) तीन जगत् में सर्वोत्तम श्री जिनेश्वर भगवंत के मत को मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ।।३।।

**कुंदिंदु-गोक्खीर-तुसार-वण्णा, सरोज-हत्था, कमले निसन्ना,**
**पुत्थय-वग्ग-हत्था, पसत्था सा वाएसिरी अम्ह सया सुहाय (भवउ) ।।४।।**
*कुन्देन्दु-गोक्षीर-तुषार-वर्णा, सरोजहस्ता, कमले निषण्णा,*
*पुस्तक-वर्गहस्ता, प्रशस्ता सा वागीश्वरी नः सदा सुखाय (भवतु) ।।४।।*

मोगरे के पुष्प, चंद्रमा, गाय के दूध और बर्फ जैसी श्वेत वर्णवाली, हाथ में कमल को धारण करनेवाली, कमल के ऊपर आरूढ, हाथ में पुस्तक के समूह को धारण करनेवाली (तथा जगत् में) प्रशंसनीय सरस्वती देवी सदा हमारे सुख के लिए हों ।।४।।

**विशेषार्थ :**

**कल्लाणकंदं पढमं जिणिंदं संतिं तओ नेमिजिणं मुणिंदं :** कल्याण के मूल रूप प्रथम जिन को, जिनेश्वरों में इन्द्र के समान शांतिनाथ भगवान को और मुनियों में इन्द्र के समान नेमिनाथ भगवान को (मैं भक्ति से वंदन करता हूँ ।)

**कल्लाण कंदं पढमं :**

कल्याण[1] अर्थात् सुख और कंद अर्थात् मूल । संपूर्ण सुख मोक्ष में प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष ही पूर्ण कल्याण रूप है और मोक्ष का सुख जब तक प्राप्त न हो, तब तक पुण्यानुबंधी पुण्य के उदय से देव और मनुष्यभव में जो भौतिक या आध्यात्मिक सुख की सामग्री प्राप्त होती है, वह भी अपेक्षा से कल्याण रूप है । इन दोनों प्रकार के कल्याण की प्राप्ति धर्म से ही होती

1. 'कल्याणं'-कल्यो-मोक्षस्तमणति-प्रापयतीति कल्याणम् ।

है। इस अवसर्पिणी काल में कल्याण के कारणरूप धर्मतीर्थ की स्थापना श्री ऋषभदेव परमात्मा ने की थी। इसीलिए यहाँ ऋषभदेव भगवान को कल्याण का मूल कहा गया है । इस पद द्वारा कल्याण के मूल के समान ऋषभदेव भगवान को भक्ति से वंदन करके, उनके पास अपने कल्याण की कामना व्यक्त करनी है ।

**जिणिंदं संति -**

उसके पश्चात् जिनों में इन्द्र तुल्य शांतिनाथ भगवान को वंदना की जाती है। राग-द्वेष को जीतनेवाले जिन कहलाते हैं । श्रुतजिन, केवलीजिन वगैरह अनेक प्रकार के जिन हैं । उन सभी जिनों में भगवान इन्द्र तुल्य हैं, क्योंकि उन्होंने स्वयं रागादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है और अनेक आत्माओं को रागादि शत्रु के ऊपर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताया है । जिनों में इन्द्र तुल्य और नाम सदृश गुणवाले शांतिनाथ भगवान कषाय से संतप्त आत्मा को परम शांति की प्राप्ति करवाते हैं ।

**नेमि जिणं मुणिंद -**

उसके बाद मुनियों में इन्द्र तुल्य नेमिनाथ भगवान को वंदन करते हैं । जो संसार से विरक्त होकर सदैव मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करते हों, वे मुनि कहलाते हैं । ऐसे मुनियों में भी नेमिनाथ भगवान इन्द्र तुल्य हैं, क्योंकि उन्होंने जीव मात्र के प्रति अत्यंत करुणा से, नवयौवन अवस्था में, नौ-नौ भव की प्रीति वाली राजीमति का सहजता से त्याग किया तथा महासत्त्वपूर्वक संयम जीवन का स्वीकार कर चौवनवें दिन ही केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थ की स्थापना की । ऐसे बाल ब्रह्मचारी नेमिनाथ भगवान का ध्यान मुनियों के लिए भी परम कल्याण का कारण बनता है । मुनियों में इन्द्र तुल्य नेमिनाथ भगवान को आदर और बहुमानपूर्वक किया गया नमस्कार ब्रह्मचर्य के पालन में विघ्न उत्पन्न करनेवाले कर्मों का नाश करके, परम ब्रह्म को प्राप्त करवाता है ।

**पासं पयासं सुगुणिक्कठाणं, भत्तीइ वंदे सिरिवद्धमाणं :** प्रकाश करनेवाले पार्श्वनाथ भगवान की (और) सब गुणों के एक स्थानभूत ऐसे श्री वर्धमानस्वामी की मैं भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ ।

पासं पयासं पार्श्व प्रभु जब गर्भ में थे, तब उनके पुण्य प्रभाव से अमावस्या की अंधेरी रात में भी वामा माता ने सर्प को देखा था । इस तरह प्रभु द्रव्य से प्रकाशक बने और केवलज्ञान को प्राप्त कर देशना देने के द्वारा परमात्मा ने जगत् के जीवों को जड़ की आसक्ति से होनेवाले उपद्रव से और जीव के साथ मोहकृत संबंधों से होनेवाली पीड़ाओं से मुक्त होने रूप सुख को प्राप्त करने का मार्ग बताया। इस तरह परमात्मा भाव से प्रकाशक बनें । भाव से प्रकाशक पार्श्वनाथ परमात्मा का वंदन, भावप्रकाश स्वरूप सन्मार्ग की प्राप्ति में आनेवाले विघ्नों का नाश कर सन्मार्ग पर चलने के लिए वीर्य की वृद्धि करवाता है ।

**सुगुणिक्कसारं सिरिवद्धमाणं भतीइ वंदे -** उत्तम गुणों के आश्रय स्थानरूप वीरप्रभु की मैं भक्तिभाव से वंदना करता हूँ ।

जन्म से लेकर श्री वीर परमात्मा की एक-एक अवस्था और उनकी एक-एक क्रिया विशिष्ट गुणों का दर्शन करवाती है। जन्म होते ही १ करोड़ और ६० लाख कलशों से देव और देवेन्द्र उनका जन्म महोत्सव मनाते हैं, तब नायगरा के झरने जैसा पानी का प्रवाह एक दिन के (एक प्रहर के ही) परमात्मा के ऊपर पड़ने के बावजूद परमात्मा के मुख पर भयादि का विकार मात्र भी नहीं दीखता । श्रेष्ठ पुण्य से मिली विपुल भोग-सामग्री के बीच जीवन जीने के बावजूद परमात्मा को कहीं राग का स्पर्श मात्र नहीं होता। संसार में निकाचित भोगावली कर्मों के उपभोग के समय भी वे परम अनासक्त रहते हैं । उन्हें संसार में कहीं भी राग का स्पर्श मात्र नहीं होता, फिर भी अपना कर्त्तव्य पूरे करने में, औचित्य का पालन करने में कहीं भी कमी नहीं दीखती । पिता के रूप में, पुत्र के रूप में या पति के रूप में जब

जो कार्य करना योग्य हो, तब वे सभी कार्य प्रभु कषायरूप विकार के बिना करते हैं ।

परमात्मा संसार में थे, तब तक तो वे ऐसे श्रेष्ठ गुणों के स्वामी थे ही, परन्तु जब उनके भोगावली कर्म पूरे हो गए और महासत्त्व से उन्होंने संयम जीवन का स्वीकार किया, तब भी लोकोत्तर श्रेष्ठ प्रकार के क्षमादि दस गुणों को और वैसे ही दूसरे अनेक उत्तम गुणों को वे धारण करते थे। अंत में साधना करके वे घातीकर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करते हैं । केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद तो तीर्थंकर के रूप में उन्होंने जगत के ऊपर अपूर्व उपकार किया है । इसलिए स्पष्ट है कि वर्धमानस्वामी में अनेक प्रकार के सद्गुण एक साथ रहते थे ।

यह गाथा बोलते हुए साधक ऋषभदेव आदि पाँचों तीर्थंकरों को स्मृतिपट पर स्थापित करके, उनके गुणों के प्रति आदर और बहुमानभाव धारण करके दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर वंदन करते हुए प्रभु को प्रार्थना करता है,

*"हे प्रभु ! आपकी भक्ति का फल मुझे अन्य कुछ नहीं चाहिए, मात्र आप में रहे हुए गुण मुझमें भी प्रकट हों, यही मेरी प्रार्थना है ।"*

**जिज्ञासा :** सभी गुण अच्छे होने के बावजूद यहाँ मात्र 'गुण' शब्द प्रयोग न करके क्यों 'सुगुण' शब्द का प्रयोग किया गया है ?

**तृप्ति :** इस संसार में गुण के रूप में जिनका उल्लेख हो सके, वैसे गुण तो बहुत हैं, परन्तु उन सभी गुणों को सुगुण नहीं कहते, परन्तु आत्मा के लिए उपकारक हों और परंपरा से मोक्ष का कारण बन सकें, ऐसे गुण ही सुगुण कहलाते हैं ।

संसार को अच्छी तरह से चलाने के लिए भी उदारता, प्रामाणिकता, गंभीरता, सहिष्णुता, नम्रता आदि अनेक गुणों की ज़रूरत पड़ती है।

व्यवहार में भी ऐसे गुणों को गुण ही कहा जाता है; परन्तु अच्छी तरह संसार को चलाने के लिए, भौतिक सुख पाने के लिए, तनाव मुक्त होने इत्यादि के लिए प्राप्त किए हुए गुण, परंपरा से तो दोषों की वृद्धि करवाकर संसार के परिभ्रमण को बढ़ानेवाले ही होते हैं, इसलिए वे गुण सुगुण नहीं कहलाते । भवनिर्वेद की प्राप्ति होने के बाद आत्मिक आनंद के कारण रूप बने वैसे क्षमा, नम्रता आदि गुण ही सुगुण कहलाते हैं। ऐसे सुगुण ही भव की परंपरा को तोड़कर मोक्ष के अनंत आनंद को प्राप्त करवा सकते हैं। भगवान ऐसे सद्गुणों के स्थानभूत होने से 'गुण' शब्द का प्रयोग न करके 'सुगुण' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

अधिकृत जिन की स्तवना करके अब चौबीस जिन की स्तवना करते हुए कहते हैं -

**अपार-संसार-समुद्द-पारं पत्ता -** अपार संसार समुद्र को पार किए हुए । (सभी जिनेन्द्र मुझे मोक्ष सुख दें।)

स्तुतिकार ने संसार की सागर के साथ तुलना की है । जैसे समुद्र में पानी का पार नहीं है, वैसे विषय कषाय के वश हुए जीवों के लिए इस संसार में जन्म-मरण की कोई सीमा नहीं है । फिर भी अरिहंत परमात्मा इस संसार के स्वरूप को जानकर विषयों से विरक्त बनते हैं, कषाय से मुक्त बनते हैं तथा अपार ऐसे इस संसार के पार को भी प्राप्त करते हैं याने कि, साधना द्वारा कर्म के बंधनों को तोड़कर, जन्म-मरण की जंजीर को नाश करके परम सुखमय ऐसे मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं और अनेक आत्माओं को मोक्ष में जाने की सच्ची राह भी बताते हैं ।

रागादि के वश में पड़े हुए हम इस संसार में अनंतकाल से घूम रहे हैं । जब कि महासात्त्विक तीर्थंकर परमात्मा की आत्माएँ रागादि के बंधनो को तोड़कर संसार को पार कर गई हैं । इस स्वरूप से परमात्मा को स्मृति में

लाने से भगवान के प्रति आदर प्रकट होता है और वह आदर ही हमें रागादि की परवशता से मुक्त करवाने में समर्थ बनाता है ।

अब सभी जिनेश्वरों के आगे साधना के अंतिम फलस्वरूप मोक्ष की माँग करते हुए साधक कहता है कि -

**सिवं दिंतु सुइक्कसारं -** (ऐसे जिनेश्वर मुझे) श्रुत के सारभूत, ऐसा मोक्ष दें !)

"अपार संसार के पार को प्राप्त हुए जिनेश्वरों ! आप मुझे शास्त्र के सारभूत, कर्णप्रिय और अति पवित्र मोक्ष दें ।"

**सुइक्कसारं[2] = श्रुत्येकसारम्** अर्थात् श्रुति के एक सारभूत । श्रुति अर्थात् शास्त्र। शास्त्र का प्रत्येक शब्द पाप से मलिन आत्मा को निर्मल बनाने के लिए समर्थ हैं । आत्मा की निर्मलता संयम से प्राप्त होती है और सर्वश्रेष्ठ-संयम याने सर्वसंवरभाव का संयम मोक्ष में है, इसलिए मोक्ष का सुख ही श्रुत का एक सार है । लोक में भी कहा जाता है कि, **"सा विद्या या विमुक्तये"** विद्या वही है, जो मुक्ति प्राप्त करवाएँ। ऐसे शिवसुख को यहाँ श्रुति के एक सार रूप अर्थात् अद्वितीय सार रूप कहा गया है ।

श्रुति[3] का अर्थ कान भी होता है और कान से सुनने योग्य बहुत सारी वस्तुओं में भी श्रेष्ठ-सारभूत; एक मात्र मोक्ष है, क्योंकि मोक्ष के सुख का वर्णन कान को अत्यंत प्रिय लगता है।

और **शुच्येकसारम्** ऐसी संस्कृत छाया करें, तो उसका अर्थ 'पवित्रता के एक श्रेष्ठ साररूप' होता है । 'शुचि' अर्थात् शुद्धि अथवा पवित्रता। वह दो प्रकार की है - द्रव्यशुचि और भावशुचि । उसमें स्नानादि से जो शरीर की

---

2. "सुइक्कसारं" की संस्कृत छाया दो प्रकार से हो सकती है । श्रुत्येकसारम् अथवा तो शुच्चेकसाम् 'श्रु श्रवणे' श्रु धातु श्रवण अर्थ में प्रयोग किया जाता है ।
3. श्रूयते इति श्रुतिः जो सुनाई देता है, जो सुनने के योग्य है, वह श्रुति है ।
श्रुति-वेद, श्रुति-कान और श्रुति-शास्त्र ।

शुद्धि की जाती है, उसे द्रव्यशुचि कहा जाता है और आत्मा में से जो विषय-कषाय के भावमल को दूर किया जाता है, उसे भावशुचि कहा जाता है। सर्व कर्ममल से रहित मोक्ष, श्रेष्ठ प्रकार की भावशुचि स्वरूप है। इस पद द्वारा साधक सभी जिनेश्वरों से प्रार्थना करता है कि ऐसा मोक्ष मुझे प्रदान करें ।

**सव्वे जिणिंदा सुरविंदवंदा, कल्लाण-वल्लीण विसालकंदा -** देवताओं के समूह भी जिन्हें वंदन करते हैं और जो कल्याणकारी वेल के विशाल कंद के समान हैं, वे सभी जिनेश्वर (मुझे मोक्ष सुख दें ।)

विशिष्ट बुद्धि और शक्ति से युक्त होने से देवों को 'विबुध' कहा जाता है। सम्यग् प्रकार की बुद्धि को धारण करनेवाले देव अपनी बुद्धि से परमात्मा में रहें लोकोत्तम गुणों को जानते हैं, इसलिए उनको परमात्मा के प्रति अत्यंत अहोभाव होता है । हृदय उनके गुणों के प्रति बहुमान भाव से झुक जाता है। इससे वे वंदन, पूजन, सत्कार, सन्मान, गीत, नृत्य, वाजिंत्र वगैरह अनेक प्रकार से परमात्मा की भक्ति करते हैं । यह पद बोलते हुए इस तरह देवों से वंदित परमात्मा को उपस्थित करने से हममें भी भगवान के प्रति अपूर्व भक्ति और बहुमान का भाव उत्पन्न होता है ।

सर्व अरिहंत भगवंत कल्याणकारी = सुखकारी वेलडी के विशाल मूल के समान है । मूल जितने विशाल और मजबूत होते हैं, वृक्ष उतने अधिक समय तक टिकते हैं। जो लोग अरिहंत भगवंत की निराशंस भाव से भक्ति करते हैं, उनके वचनों का यथार्थ पालन करते हैं, वे पुण्यानुबन्धि पुण्य का अर्जन करते हैं। यह पुण्य उत्तरोत्तर भौतिक सुख की प्राप्ति के साथ आत्मिक शुद्धि करवाकर साधक को परमपद तक पहुँचाता है । इस तरह परमपद तक पहुँचाने में परमात्मा श्रेष्ठ कारण होने से प्रभु कल्याण रूपी वृक्ष के मूल कहलाते हैं ।

यह गाथा बोलते हुए साधक सोचता है,

*"मैं संसार में डूबा हुआ हूँ । मेरे प्रभु संसार के पार को पा चुके हैं। पुण्यहीन मैं देवों के पीछे दौड़ता हूँ, जब कि पुण्यवान ऐसे मेरे प्रभु के पीछे देवता दौड़ते हैं, भावपूर्वक भक्ति करते हैं । हे नाथ ! आपकी शक्ति और आपका पुण्य असीम है, इसलिए प्रभु ! आप से प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे सर्वसुख के धाम तुल्य शिव (मोक्ष) प्रदान करें ।"*

अब श्रुतज्ञान की स्तवना करते हुए कहते हैं -

**निव्वाण-मग्गे वरजाण-कप्पं -** मोक्ष तक ले जानेवाले श्रेष्ठ यान-पात्र (वाहन) तुल्य (श्रुतज्ञान को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

आत्मा की कर्मरहित, कषायरहित और शरीरादि के बंधन से रहित परम आनंदमय, परम सुखमय अवस्था मोक्ष (निर्वाण) है । सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह मोक्षमार्ग है । उसमें निश्चयनय से मोक्ष की प्राप्ति में कारणभूत दर्शन, ज्ञान और चारित्र की कोई एक क्रिया भी मोक्ष का कारण बनती है।

यह मोक्षमार्ग ज्ञान से ही जाना जा सकता है, इसलिए यहाँ ज्ञान को मुख्य रूप से मोक्षमार्ग का श्रेष्ठ यान मतलब वाहन कहा गया है। ज्ञान होने के बाद श्रद्धा होती है और श्रद्धा के अनुसार प्रवर्तन ही चारित्र है, अतः ज्ञान को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने का श्रेष्ठ यान कहा गया है। श्रेष्ठ वाहन जैसे शीघ्र इष्ट स्थान पर पहुँचा देता है, वैसे ही भगवान के वचनरूप श्रेष्ठ यान का अवलंबन लेनेवाले भी शीघ्र इष्ट स्थान पर पहुँच जाते हैं।

**पणासियासेस-कुवाइदप्पं -** सभी कुवादियों के अभिमान का जिन्होंने अत्यंत नाश किया है (ऐसे जिनमत को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

'सत्य क्या है' ? - यह जानने की इच्छा से शास्त्रों की - सिद्धांत की चर्चा करना वाद है। शास्त्रानुसार ऐसा वाद करनेवाले को वादी कहते हैं। जब कि मलिन आशय से या अपनी गलत बात को भी सच्ची ठहराने के लिए चर्चा करना कुवाद कहलाता है और ऐसी चर्चा करनेवाले को कुवादी कहा जाता है ।

ज़्यादातर कुवादी लोग अपने अज्ञान और अभिमान के कारण किसी भी पदार्थ को मात्र अमुक दृष्टिकोण से देखते हैं। परिणामतः उन्हें वास्तविक बोध नहीं होता और जगत् की व्यवस्था भी उनके मतानुसार संगत नहीं होती । जैसे कि, आत्मा को एकांत नित्य माननेवाले कुवादीपदार्थ के परिवर्तित पर्याय, उनका विनाश वगैरह नहीं बता सकते । इसके अलावा, आत्मा को एकांत से अनित्य माननेवालों की अपेक्षा से कूर्म के सिद्धांत, कार्य-कारण की व्यवस्था, परिवर्तित पर्यायों में भी एक ही द्रव्य की अनुवृत्ति वगैरह संगत नहीं होती । इसलिए ही एकांतवादियों के सिद्धांत या उनकी प्ररूपणा तथा वास्तविकता के बीच बहुत भेद (फरक) देखने को मिलता है । इसके बावजूद भी उनको मिथ्या अभिमान होता है कि हम जो कहते हैं, वही सच है, हम ही मोक्षमार्ग या पदार्थ की व्यवस्था बताते हैं।

यह उनका अभिमान तब तक ही टिकता है, कि जब तक अनेकान्त के सिद्धांत में निष्णात जैनाचार्यों के साथ वे वाद में नहीं उतरते, क्योंकि अनेकान्तवाद की दृष्टी से पदार्थ का निरूपण करने से जगत् की सब व्यवस्था सुसंगत होती है तथा अनेक दृष्टिकोणों से पदार्थ को देखने के कारण नाहक के राग-द्वेष भी उत्पन्न नहीं होते, जैसा कि आत्मा को नित्यानित्य मानने से संसार, बंध मोक्ष, परलोक आदि सब घटता है ।

जिनमत की ऐसी अविसंवादी प्ररूपणा के सामने कुवादी ज्यादा चर्चा करने में असमर्थ होने के कारण अंत में निरुत्तर हो जाते हैं इसलिए जिनमत को कुवादीयों के अभिमान को नष्ट करानेवाला कहा है ।

**मयं जिणाणं सरणं बुहाणं** - पंडितों के शरणभूत जिनेश्वरों के सिद्धांत को (मैं नमस्कार करता हूँ।)

वस्तु तत्त्व को यथार्थ तरीके से जाननेवाले को बुध अर्थात् पंडित कहते हैं। परमात्मा का सिद्धांत अनेकान्त स्वरूप है, वह उत्सर्ग और अपवादमय है और उसमें एक-एक पदार्थ का मूल्यांकन नय सापेक्ष किया गया

है । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लेकर उसमें अलग-अलग विधान भी देखने मिलते हैं । इससे सिद्धांत की बातों में से कब उत्सर्ग मार्ग का और कब अपवाद मार्ग का आश्रय करना उचित है ? और इस शास्त्र का कथन किस नय से है? और किस नय से पदार्थ मेरे लिए हितकारक है, यह सब सिद्धांत के ज्ञान के बिना सामान्य जन के लिए समझना सम्भव नहीं है ।

अनेकान्तात्मक इस मत को पंड़ित ही जान सकते हैं और वे ही सर्वज्ञ सिद्धांत की परीक्षा करके यथार्थ स्वरूप से उसका स्वीकार कर सकते हैं। अन्य पुरुष तो इस सिद्धांत को समझ भी नही सकते, तो स्वीकारने की तो बात ही क्या ? इसलिए कहा गया है कि, भगवान का मत पंडित पुरुषों के लिए ही शरणभूत है ।

**जिज्ञासा :** जिनमत पंडित के लिए ही शरण है, मंदबुद्धिवाले के लिए नहीं ? तो मंदबुद्धिवाले को क्या करना चाहिए ?

**तृप्ति :** जिनमत को समझने की तीक्ष्ण बुद्धि जिनकी नहीं है, वैसी आत्माओं को गीतार्थों याने विद्वानों की शरण में जाना चाहिए । वे शास्त्रानुसार जो मार्ग बताएँ, उस मार्ग पर चलना चाहिए, तो ही उनका कल्याण हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसीलिए भगवान ने साधना के दो ही मार्ग बताए हैं या तो स्वयं गीतार्थ बनो अर्थात् शास्त्र के ज्ञाता बनो या जब तक स्वयं गीतार्थ न बन सको, तब तक गीतार्थ गुरु भगवंत की निश्रा में रहकर साधना करो[4] ।

**नमामि निच्चं तिजगप्पहाणं -** तीन जगत् में प्रधान-श्रेष्ठ (ऐसे जिनमत को) मैं नित्य नमस्कार करता हूँ ।

इस जगत में मतं याने दर्शनशास्त्र, धर्मग्रंथ तो अनेक हैं और वे ग्रंथ जगत् में रहे पदार्थों का वर्णन भी करते हैं, परन्तु उनका यह वर्णन अपूर्ण

---

4. गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थनिस्सीओ भणिओ ।
इत्तो तइय विहारो, नाणुण्णाओ जिणवरिंदेहिं ।। - पंचाशक-१५/३१

और एक दृष्टिकोण से पदार्थ को देखकर किया गया होता है, जब कि जैन शास्त्र जगद्वर्ती सभी पदार्थों का वर्णन अनेक दृष्टिकोण से करते हैं । अतः वे जगत् के सूक्ष्म तथा बादर एवं रूपी और अरूपी सभी पदार्थों का यथार्थ दर्शन करवाते हैं । इसके अतिरिक्त जैनशास्त्र आत्मादि सर्व पदार्थों को एक नहीं लेकिन अनेक दृष्टिकोण से बताता है। पदार्थ विषयक ऐसा वर्णन अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता, इसीलिए स्वर्ग, पाताल और मनुष्य लोकरूप इस तीन जगत में जैनशासन प्रधान है।

ऐसे जिनमत को मैं हमेशा मन, वचन और काया से नमस्कार करता हूँ। उसके प्रति प्रतिक्षण आदर एवं बहुमान धारण करता हूँ ।

यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए,

*"मेरा कितना सद्भाग्य है कि सुख के मार्ग पर शीघ्र गमन करवानेवाला जैन शास्त्ररूप श्रेष्ठ वाहन मुझे मिला है । उसका सामर्थ्य कितना है कि, आज तक अभिमान करनेवाले कुवादियों के गर्व को भी उसने तोड़ दिया है और उसी कारण पंडित भी उसकी शरण में जाते हैं । तीनों जगत में श्रेष्ठ जिनमत को मैं दो हाथ जोडकर नमस्कार करता हूँ। उसके प्रति आदर धारण करता हूँ और इस शास्त्र के एक-एक वचन मेरे हृदय में परिणत हो जाए, उसके अनुसार मेरा जीवन बने, वैसी प्रभु से प्रार्थना करता हूँ ।"*

श्रुतज्ञान की स्तवना करके, अब उसकी अधिष्ठात्री सरस्वती देवी की स्तवना करते हुए कहते हैं ।

**कुंदिंदु-गोक्खीर-तुसार-वन्ना, सरोज-हत्था, कमले निसन्ना वाएसिरी पुत्थय-वग्ग-हत्था, सुहाय सा अम्ह सया पसत्था ।। -** मुचुकुंद के (मोगरे के) फूल, चंद्रमा, गाय का दूध और बरफ जैसे वर्णवाली (श्वेत कायावाली), एक हाथ में कमल और दूसरे हाथ में पुस्तक के समूह को धारण करनेवाली, कमल के ऊपर बैठी हुई (तथा) प्रशस्त-उत्तम

वागीश्वरी देवी (सरस्वती देवी) सदा हमारे सुख के लिए हों । (हमें सदा सुख देनेवाली हों।)

सरस्वती देवी गीतरति (गीतयशा) नाम के इन्द्र की पटरानी हैं । उन्हें श्रुतज्ञान के प्रति अति आदर है, वे श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानी की विशेष प्रकार से भक्ति करती हैं ? 'आकृति गुणान् कथयति' इस न्याय से उनमें कैसे गुण होंगे, वे उनकी आकृति से ही ज्ञात हो जाता है। उनके शरीर का वर्ण गौर है और वह भी सामान्य नहीं, परन्तु मुचुकुंद के फूल, चंद्रमा, गाय के दूध और बरफ के जैसा विशिष्ट गौर वर्ण है ।

यद्यपि श्रुतदेवी का देह श्वेत वर्ण का है, उसको एक दृष्टांत द्वारा बता सकते थे, फिर भी ग्रंथकार ने चार दृष्टांत दिए हैं । उसके पीछे कोई अगम्य कारण होना चाहिए, परन्तु उसका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। तो भी ऐसी कल्पना हो सकती है -

मुचुकुंद का फूल जैसै श्वेत है, साथ में सुगंधित भी है । वैसे इस सरस्वती देवी का शरीर श्वेत तो है, साथ में शीलादि गुणों से सुगंधित भी है।

चंद्र जैसे श्वेत है वैसे सौम्य भी है, उसी तरह चंद्रमा जैसी उज्ज्वल श्वेतवर्णवाली यह देवी श्वेतवर्ण के साथ सौम्याकृतिवाली भी है।

गाय का दूध जैसे श्वेत होने के साथ पवित्र एवं गुणकारी भी है, वैसे श्वेतवर्णवाली इस देवी का जीवन पवित्र एवं श्रुतज्ञानरूपी गुण को प्रदान करनेवाला है।

बरफ जैसे कड़ा है और कोमल (पानी रुप में) भी हो सकता है, वैसे यह देवी भी श्रुत के द्रोहियों के प्रति कठोर और शासन-भक्त के प्रति कोमल भी हो सकती है ।

इस प्रकार श्वेतवर्णवाली इस देवी में गुण की सुगंध, सौम्यता, पवित्रता, कठोरता, कोमलता आदि गुण भी हैं, वैसा बताने के लिए ये दृष्टान्त दिए होंगे, वैसा लगता है।

अब सरस्वती देवी किस प्रकार बिराजमान हैं और हाथ में क्या है, यह बताते हैं -

**'सरोज-हत्था, कमले-निसन्ना वाएसिरी पुत्थय-वग्ग-हत्था' -**

सरस्वती देवी कमल के ऊपर बिराजमान हैं, उनके एक हाथ में पवित्रता का सूचक कमल है और दूसरे हाथ में ज्ञान का प्रतीक पुस्तकों का समूह है। इससे यह बताया गया है कि, उनके हृदय में ज्ञान का बहुमान है और ज्ञानी को सहायता देने का गुण है ।

**जिज्ञासा :** वागीश्वरी देवी के शरीरादि का ऐसा वर्णन क्यों किया ?

**तृप्ति :** सरस्वती देवी का ध्यान करनेवाले के लिए यह आकृति का वर्णन अति उपयोगी बनता है, इसलिए यहाँ इस प्रकार वर्णन किया गया है ।

पसत्था अर्थात् प्रशस्ता, उत्तम, प्रशंसनीय अथवा जगत्-प्रसिद्ध । श्रुतज्ञान की प्राप्ति करवाने में सहायक वागीश्वरी देवी=सरस्वती देवी जैन-जैनेतर जगत में भी अति प्रसिद्ध हैं । अनेक श्रुतप्रेमी सदा उनकी प्रशंसा करते हैं। उन्हें नमस्कार, पूजन वगैरह भी करते हैं तथा श्रुतज्ञान की प्राप्ति के समय तो सभी उन्हें अचूक याद करते हैं । महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज, कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचंद्राचार्य महाराज जैसे अनेक महापुरुषों ने इस सरस्वती देवी की साधना की और साधना से सिद्ध हुई इस सरस्वती देवी ने उनको शास्त्रों की रचना करने में अनेक प्रकार से सहायता भी की, इसीलिए उपाध्यायजी महाराज ने तो अपने सभी ग्रंथों के प्रारंभ में सब से पहले 'ऐं' कार[5] द्वारा उनको स्मृति में लाकर नमस्कार किया है ।

ऐसी सरस्वती देवी की प्रार्थना करते हुए ग्रंथकारश्री कहते हैं -

**सुहाय सा अम्ह सया पसत्था -** "हे माँ सरस्वती ! हम सभी ज्ञान के अभिलाषी हैं, श्रुतज्ञान हमारा श्वास और प्राण है। माँ शारदा ! इसमें हमें

---

5. ऐँ यह सरस्वती देवी का बीज मंत्र है।

आपकी सहायता चाहिए । आप हमें श्रुतज्ञान की प्राप्ति में सहायक बनें एवं उसके द्वारा हमारे सुख का कारण बने ! माँ ! आपके प्रभाव से ही अनेक महापुरुषों ने आज तक श्रुतज्ञान रूप गंगोत्री में स्नान करके परम आह्लाद प्राप्त किया है, आपकी सहायता से वे श्रेष्ठ कोटि के श्रुतज्ञान द्वारा आत्मिक सुख के स्वामी बने हैं, इसलिए आपसे माँगने का मन होता है -

"हे वागीश्वरी देवी ! आप हमारे सुख के लिए हों ! हे माँ शारदा ! आप ज्ञान की प्राप्ति में आनेवाले हमारे विघ्नों का नाश करके ज्ञान प्राप्ति के लिए अनुकूल सामग्री को हमें प्राप्त करवानेवाली बनें !" इस तरह यहाँ जो सुख की माँग की गई है, वह सुख अन्य कोई नहीं, मात्र श्रुतज्ञान में हमें सहायक बनें, उसी अर्थ में है।

इस प्रकार प्रार्थना करने से या उनका स्मरण करने मात्र से महासात्त्विक और पुण्यशाली आत्माओं को सरस्वती देवी प्रत्यक्ष होकर श्रुत-रचना आदि के कार्यों में बहुत सहायता करती हैं। विशिष्ट साधना करने से पुण्यात्माओं को दर्शन देकर, उनकी सहायता करती हैं । कई बार प्रत्यक्ष रूप में सहायता नहीं करती, तो भी श्रुत प्राप्ति के भाव से श्रुतदेवी की स्तुति ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय में और ज्ञानवृद्धि में कारण बनती है। सम्यग्ज्ञान से ऐसा प्रतीत होता है कि, सच्चा सुख मोक्ष में ही है । इसी सम्यग्ज्ञान से मोक्षमार्ग की भी जानकारी मिलती है । इसलिए सम्यग्ज्ञान द्वारा सच्चे सुख की प्राप्ति की प्रार्थना इस स्तुति में है, ऐसा कहा जा सकता है ।

यह गाथा बोलते हुए साधक सरस्वती देवी के बाह्य और अंतरंग स्वरूप को स्मरण में लाकर भावपूर्ण हृदय से ऊपर बताई गई प्रार्थना करते हुए सोचता है ,

*"स्वर्गलोक की राजशाही के बीच भी जड़ पदार्थों की जंजाल को छोड़कर सरस्वती देवी श्रुत के लिए भक्तिवाली हुई हैं, उन की सहायता से मैं भी श्रुतज्ञान के मार्ग पर आगे बढ़कर आत्मिक सुख को शीघ्र प्राप्त करूँ ।"*

# संसारदावानल स्तुति

**सूत्र परिचय :**

यह सूत्र चार थुई के जोड़े स्वरूप है। इसकी प्रथम गाथा में वीर भगवान की स्तुति की गई है । इसीलिए इस सूत्र का दूसरा नाम **'वीर जिन स्तुति'** भी है।

प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में समान शब्द प्रयोग एवं कहीं भी संयुक्त व्यंजन न होना इस कृति की विशेषता है।

इस सूत्र की रचना प्रकांड विद्वान, १४४४ ग्रंथ के रचयिता प.पू. हरिभद्रसूरिश्वरजी महाराज ने की है । इस विषय में ऐसा जानने को मिलता है कि, उनके दो शिष्य हंस और परमहंस बौद्ध साधुओं द्वारा मारे गए थे । दो महाविद्वान शिष्यों के अवसान से प.पू.हरिभद्रसूरीश्वरजी म.सा. को अत्यंत आघात लगा इसलिए उन्होंने बौद्धों के साथ वाद चालू किया। उस वाद में ऐसी शर्त थी कि, जो हारे उसे खौलते तेल की कड़ाहियों में जलाकर मार दिया जाएगा। छः महिने के अंत में पू. हरिभद्रसूरीश्वरजी म. की विजय हुई। शिष्यों के अवसान और बौद्ध साधुओं के व्यवहार से वे अत्यंत आवेश में आ गए। इस बात को जानकर, उनके गुरु ने शिष्य के आवेश को कम करके उसे उपशम भाव में लाने के लिए और उसे हिंसा

करने से बचाने के लिए संक्षेप में चारित्र के स्वरुप को बताने वाली समरादित्य चरित्र की ९ गाथा लिखकर भेजी । जिसे पढ़कर उनका क्रोध शांत हुआ और १४४४ बौद्ध साधुओं को मारने के संकल्प से बांधे हुए कर्मों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के रूप में उन्होंने १४४४ ग्रंथ की रचना करने का निश्चय किया, ग्रंथ रचना का प्रारंभ हुआ, १४४० ग्रंथ की रचना हो भी गई । वहाँ तो उनका आयुष्य पूर्ण होने आया । अंत में इस संसारदावा की चार गाथाओं स्वरूप चार ग्रंथों की रचना का प्रारंभ किया। तीन गाथा की रचना हुई, चौथी गाथा का एक चरण लिखा और आयुष्य पूर्ण हो गया । तब संघ एकत्रित हुआ और संघ के विद्वज्जनों ने उनके अभिप्राय के अनुसार 'भवविरह' से अंकित गाथा के अंतिम तीन चरण पूर्ण किए । तब से ये तीन चरण पक्खी, चौमासी और संवत्सरी प्रतिक्रमण में सब के साथ बोले जाते हैं ।

इसकी पहली गाथा में चार विशेषणों से अलंकृत वीर भगवान की स्तुति की गई है। दूसरी गाथा में कैसे विशिष्ट व्यक्ति सर्व भगवान के चरण कमलों की उपासना करते हैं और उपासना करनेवाले को कैसे फल मिलते हैं, यह बताने द्वारा सभी जिन की स्तुति की गई है। तीसरी गाथा में वीर भगवान के आगम को सागर के समान बताकर श्रुतज्ञान की स्तवना की गई है और चौथी गाथा में श्रुतदेवी की स्तुति करके उनके पास 'भवविरह' की प्रार्थना की गई है । वहाँ 'भवविरह' शब्द, पू.आ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज की कृति का सूचक है ।

आत्मशुद्धि के उपायरूप यह प्रतिक्रमण की क्रिया वर्तमान शासनाधिपति प्रभु वीर से प्राप्त हुई है। उनके प्रति कृतज्ञता भाव व्यक्त करने और इस क्रिया द्वारा स्व-आत्मा की जो शुद्धि हुई है, उसका आनंद व्यक्त करने के लिए श्राविकाएँ रोज दैवसिक और राईअ प्रतिक्रमण में छः आवश्यक पूर्ण होने पर यह स्तुति बोलते हैं । श्रावक तब 'नमोऽस्तु वर्धमानाय' और विशाल-लोचन की स्तुति बोलते हैं । कभी कभी इन स्तुतियों का उपयोग

थुई के जोड़े के तरीके से भी होता है तथा पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में यह स्तुति सज्झाय के स्थान पर बोली जाती है।

**मूल सूत्र :**

**संसार-दावानल-दाह-नीरं,**
**संमोह-धूली-हरणे समीरं ।**
**माया-रसा-दारण-सार-सीरं,**
**नमामि वीरं गिरि-सार-धीरं ।।१।।**
**भावावनाम-सुर-दानव-मानवेन,**
**चूला-विलोल-कमलावलि-मालितानि ।**
**संपूरिताभिनत-लोक-समीहितानि,**
**कामं नमामि जिनराज-पदानि तानि ।।२।।**
**बोधागाधं सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं,**
**जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाहदेहं ।**
**चूला-वेलं गुरुगम-मणी-संकुलं दूरपारं,**
**सारं वीरागम-जलनिधिं सादरं साधु सेवे ।।३।।**
**आमूलालोल-धूली-बहुल-परिमलाऽऽलीढ-लोलालिमाला**
**झंकाराराव-सारामलदल-कमलागार-भूमिनिवासे ! ।**
**छाया-संभार-सारे ! वरकमल-करे ! तार-हाराभिरामे !,**
**वाणी-संदोह-देहे ! भव-विरह-वरं देहि मे देवि ! सारं ।।४।।**

**पद-१६ संपदा-१६ अक्षर-२५२**

**अन्वयार्थ :**

**संसार-दावानल-दाह-नीरं**

संसार रूपी दावानल के दाह को बुझाने में पानी के समान,

**संमोह-धूली-हरणे-समीरं**

मोहरूपी धूल को दूर करने में पवन समान;

**माया-रसा-दारण-सार-सीरं,**

मायारूपी पृथ्वी को जोतने के लिए उत्तम हल समान,

**गिरि-सार-धीरं वीरं नमामि ।।१।।**

मेरु पर्वत जैसे धीर श्री वीरप्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

**भावावनाम-सुर-दानव-मानवेन-चूला-विलोल-कमलावलि-मालितानि;**

(जो) भाव से झुके सुरेन्द्र, दानवेन्द्र, मानवेन्द्र के मुकुट में रही चपल कमल की श्रेणी से पूजित है,

**संपूरिताभिनत-लोक-समीहितानि,**

नमस्कार करनेवाले लोगों के मनोरथों को जिन्होंने अच्छी तरह पूर्ण किए हैं,

**तानि-जिनराज-पदानि कामं नमामि ।।२।।**

उन जिनेश्वर के चरणों में मैं अत्यंत श्रद्धा से नमस्कार करता हूँ ।।२।।

**बोधागाधं[1], सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं[2],**

आगमरूपी समुद्र बोध से अत्यंत गंभीर है[1] और उनके पदों की रचना जलसमूह की तरह मन का हरण करे वैसी सुंदर है[2] ।

**जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाहदेहं[3] ।**

निरंतर आनेवाली जीवदया की बातें रूप लहरियों के संगम के कारण वह अगाध (विशाल) देहवाला[3] है ।

**चूला-वेलं[4], गुरुगम-मणी-संकुलं[5], दूरपारं[6],**

चूलिकारूप वेलावाला[4] है, उत्तम और समान आलापकरुप मणियों से भरपूर[5] है, जिसका पार पाना अत्यंत दुष्कर है[6],

**सारं[७] वीरागम-जलनिधिं[८] सादरं साधु सेवे ।।३।।**

और जो श्रेष्ठ[7] है ऐसे वीरप्रभु के आगमरूपी समुद्र[8] का मैं आदरपूर्वक सेवन करता हूँ ।।३।।

**आमूलालोल-धूली-बहुल-परिमलाऽऽलीढ-लोलालिमाला-झंकाराराव-सारामलदल-कमलागारभूमिनिवासे[१] !**

मूल पर्यंत कुछ डोलने से झरे हुए मकरंद की अत्यंत सुगंध में मग्न हुए चपल भ्रमरवृंद के झंकार के शब्द से युक्त उत्तम निर्मल पंखुडी वाले कमल से बने हुए घर की भूमि पर वास करनेवाली[1] !

**छाया-संभार-सारे[२] !**

कांति के समूह से शोभायमान[2] !

**वरकमल-करे[३] !**

सुंदर कमल जिसके हाथ में है ऐसी[3] !

**तार-हाराभिरामे[४] !**

देदीप्यमान हार से सुशोभित[4] !

**वाणी-संदोह-देहे[५] ! देवि !**

वाणी के समूहरूप देहवाली[5] हे देवी !

**सारं भव-विरह-वरं मे देहि ।।४।।**

श्रेष्ठ ऐसे भवविरहरूप मोक्ष का वरदान मुझे प्रदान करें ।।४।।

**विशेषार्थ :**

**संसार-दावानल-दाह-नीरं[1]** - संसार रूपी दावानल के दाह को बुझाने के लिए पानी तुल्य । (वीर परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।

1. इस गाथा में **नमामि** क्रियापद है और **वीरं** उसका कर्म है ।
   (१) संसार-दावानल-दाह-नीरं
   (२) संमोह-धूली-हरणे-समीरं
   (३) माया-रसा-दारण-सार-सीरं
   (४) गिरि-सारं-धीरं; ये पद 'वीरं' के विशेषण हैं ।

आत्मा की कर्मयुक्त और कषाययुक्त अवस्था संसार कहलाती है । यहाँ संसार को दावानल की उपमा दी गई है और वीरप्रभु को दावानल को बुझानेवाले पानी की उपमा दी गई है ।

जैसे दावानल जंगल के पेड़-पौधों और प्राणियों को जलाकर, दुःखी करता है, वैसे ही इस संसार में सतत उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय चित्त में नए-नए संकलेशो को उत्पन्न करके जीवों को जलाते हैं । संसार में प्रायः एक क्षण भी ऐसा नहीं होता कि जब जीव कषायों से मुक्त होकर आत्मा का आनंद - आत्मा का सुख प्राप्त कर सके, इसीलिए ही ज्ञानी पुरुषों ने संसार को दावानल की उपमा दी है ।

जैसे जंगल में लगे हुए दावानल को बुझाने के लिए प्रचंड पानी के प्रवाह की जरूरत पड़ती है, वैसे ही यह संसार रूपी दावानल भी परमात्मा की वाणी रूप पानी के प्रचंड प्रवाह से ही शांत हो सकता है ।

जैसे-जैसे योग्य आत्मा भगवान की वाणी को समझती जाती है, वैसे-वैसे उसके हृदय में जड़ विषयों के प्रति विरक्ति का परिणाम प्रकट होता है। जीवों के प्रति मैत्री भाव का प्रादुर्भाव होता है । उसके कारण राग, द्वेष आदि कषायों के संक्लेश शांत होते हैं । आत्मा उपशम भाव के आनंद का अनुभव कर सकती है । इस मार्ग पर विशेष-विशेष प्रयत्न करने से जीव संसार के तमाम संतापों से मुक्त बनकर महाआनंदयुक्त मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिए यहाँ वीर भगवान की वाणी का वीर भगवान के साथ अभेद करके वीर भगवान को पानी की उपमा दी गई है ।

**जिज्ञासा :** यहाँ संसार को दावानल तुल्य कहा गया है, परन्तु पुण्योदय से प्राप्त हुए सुख-सुविधा भरे संसार को दावानल तुल्य कैसे कह सकते है?

**तृप्ति :** सुख-सुविधा से भरा हुआ भी यह संसार वास्तव में दावानल जैसा ही है क्योंकि सब को इष्ट ममता या लगाव आदि के भाव वर्तमान में भी भय, चिंता, विह्वलता, आकुलता आदि रूप दाह उत्पन्न करते हैं,

इसलिए आत्मा के लिए तो वे पीड़ाकारक ही हैं। जैसे शराब के नशे में शरीर को होनेवाली पीड़ा का अनुभव नहीं होता वैसे मोह के नशे के कारण जीव को रागादिकृत पीड़ाओं का अनुभव नहीं होता, अतः ये बाह्य सुविधाएँ कर्मबंध करवाकर भविष्य में कठिनाई उत्पन्न करती हैं, वह भी उसकी समझ में नहीं आता । भगवान के वचनानुसार साधना करके जीव जब मोह को मंद करता है और कषाय के उपशम का आनंद अनुभव करता है, तभी सुखद संसार भी कितनी कदर्थना से युक्त है, यह बात उसे स्पष्ट समझ में आती है। इस तरह महसूस हो या न हो सुख भरा या दुःख भरा संसार दावानल समान ही है।

**संमोह-धूली-हरणे समीरं -** मोहरूपी धूल को उड़ाने में पवन समान । (वीर परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

जिस कर्म के उदय से जीव योग्य-अयोग्य, हित-अहित का विचार न कर सके, वह मोहनीय कर्म है । यह कर्म जब प्रबलता से प्रवर्तमान होता है, तब उसे संमोह कहते हैं । यहाँ संमोह को धूल की उपमा दी गई है और वीर प्रभु को धूल दूर करनेवाले पवन की उपमा दी गई है।

'मैं आत्मा हूँ और देहादि पुद्गल मुझ से अलग है', ऐसा ज्ञान मोहनीय कर्म होने नहीं देता। इस कारण जीव पौद्गलिक चीजों को अपनी मानता है, और पुद्गल से ही सुख है वैसा मानकर उसमें ही रचा-पचा रहकर अनेक प्रकार के क्लिष्ट कर्मरूप रज से आत्मा को मलिन करता है, इसीलिए मोह को धूल की उपमा दी गई है ।

अनंत संसार में भटकते-भटकते जीव जब किसी तरह भगवान के वचन का याने वास्तविक तत्त्व का चिंतन करता है, तब उसे संसार की वास्तविकता का ख्याल आता है। उसमें खुद के शुद्ध स्वरूप की कुछ पहचान होती है । भगवान के स्वरूप का विचार, उनके गुण वैभव का ज्ञान और गुण से प्राप्त होने वाले सुख की समझ से धीरे-धीरे साधक में परमात्मा के प्रति प्रीति प्रकट होती है। प्रीति और भावपूर्वक की गई भक्ति मोहनीय

कर्म को कमज़ोर करती है। उससे 'पुद्गल में सुख है', वैसी मान्यता नष्ट होती है। 'आत्मा में ही सुख है और वह सुख गुण से प्राप्त होता है, वैसा बोध होने पर जीव क्षमादि गुण के लिए अथक प्रयत्न करता है। ऐसे गहन प्रयत्न से धीरे धीरे मोहनीय कर्म का नाश होता है और क्षायिक भाव के गुण प्रकट होते हैं, जो आत्मा को अनंतकाल के लिए सुखी करते हैं । इस प्रकार, प्रचंड पवन से जैसे धूल का ढेर बिखर जाता है, वैसे ही परमात्मा के वचन से प्राप्त हुआ उनके स्वरूप का ज्ञान, उसके माध्यम से प्राप्त हुआ स्व - स्वरूप का भान और उसकी प्राप्ति से होनेवाला शुद्ध स्वरूप का - परमात्मा का ध्यान मोहरूपी धूल को दूर करता है ।'

**माया-रसा-दारण-सार-सीरं**[2] - मायारूपी पृथ्वी को जोतने के लिए श्रेष्ठ हल समान । (वीर परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

माया, कपट, वंचकता, ठगना - यह सब समानार्थी शब्द हैं और माया का दूसरा अर्थ वक्रता होता है ।

सामान्य से लोग ऐसा मानते हैं कि माया-कपट करनेवाला जीव दूसरों को ठगते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि, माया करनेवाला दूसरों को ठगे या न ठगे, वह अपने आप को तो ठगता ही है । माया करके कर्म को बाँधकर वह जीव स्वयं अपनी आत्मा का अहित करता है । अपनी आत्मा को ही दुःखी करता है ।

माया का दूसरा अर्थ है वक्रता। अनादिकाल से जीव को सुख की इच्छा होने के बावजूद वह सुख प्राप्ति के सच्चे रस्ते पर नहीं चलता, यही उसकी

2. **माया** यह ही रसा, वहीं **माया-रसा,** उसका दारण वह **माया-रसा-दारण** । उसके लिए **सार-सीरं, माया-रसा-दारण-सार-सीरं । माया** अर्थात् छल, कपट, धोखा या ठगना । कितने लोग कर्म को भी अविद्या या माया के नाम से जानते हैं । वह अर्थ भी यहाँ ठीक लगता है । **रसा** अर्थात् पृथ्वी या धरती । **दारण**-तोड़ने की क्रिया । दारण अर्थात् विदारण, तोड़ना, टुकडे करना या फाड़ देना। उसकी जो क्रिया, वह दारण । **सार**-उत्तम । **सीरं**-हल-हल का अग्रभाग, कि जिसके द्वारा पृथ्वी खोदी जाती है । जमीन के कठिन भाग उत्तम प्रकार के हल से जल्दी टूट जाते हैं । उसी तरह श्री महावीर प्रभु माया रुपी पृथ्वी के पट को शीघ्रता से तोड़नेवाले हैं।

वक्रता है । आत्मा अपने क्षमादि गुणों से ही सुखी हो सकता है, तो भी अंदर में रही माया क्षमादि गुणों की उपेक्षा करवाकर आत्मा को काषायिक भावों की तरफ ले जाती है । गुरु भगवंतों के वचनों का श्रवण कर यह जीव कभी धर्मकार्य का प्रारंभ भी करता है; पर तब भी माया, दोष निवारण और गुणप्राप्ति रूप धर्म के फल को पाने नहीं देती, बल्कि मान आदि दोषों का पोषण करवाती है।

जैसे पृथ्वी का विदारण तीक्ष्ण हल के बिना सम्भव नहीं है, वैसे अनादिकाल से आत्मा में रही हुई माया का विदारण भगवान द्वारा बताए गए सत्क्रिया रूपी मार्ग के बिना सम्भव नहीं है । शास्त्रज्ञान को प्राप्त करके, साधक जब क्रिया के मार्ग पर जुड़ता है, तब प्रारंभ में यह क्रिया उसे कष्टकारी लगती है। समय और शक्ति का निरर्थक व्यय रूप लगती हैं, परन्तु ज्ञान और श्रद्धापूर्वक बार बार ये क्रियाएँ करने से कुछ शुभ भाव प्रकट होते हैं। शुभ भाव में स्थिरता आने पर पौद्गलिक आनंद तुच्छ और विडंबना स्वरूप लगता है, जिसके परिणाम स्वरूप अशुभ भाव नष्ट होते जाते हैं और मन के विकल्प घटते जाते हैं । समता आदि अनेक गुणों का साक्षात् अनुभव होता है । आत्मा अपने वास्तविक आनंद का अनुभव कर सकती है । इससे माया दूर होती है, कर्मों के बंधन नष्ट होते हैं और आत्मा परमसुख के सागर में डूबती है ।

इस प्रकार प्रभु के बताए हुए शुभ अनुष्ठान मायारूपी पृथ्वी को जोतने के लिए हल समान हैं ।

**जिज्ञासा :** यहाँ संसार को दावानल कहा गया है, मोह को धूल कहा और माया को पृथ्वी की उपमा दी गई। ये तीनों भाव अलग हैं कि संसार रूप ही हैं ?

**तृप्ति :** वास्तव में मोह या माया, संसार से कोई अन्य भाव नहीं है। संसार स्वरूप ही है । इसके बावजूद अनंत दोषयुक्त संसार के भिन्न-भिन्न स्वरूप याद करने के लिए संसार से मोह और माया को अलग बताया गया

है और वीर भगवान का ध्यान, उनके वचनानुसारी जीवन या सत्क्रिया ये तीनों, उपरोक्त तीनों भावों को निर्मूल कर सकते हैं । ये तीनों भगवान संबंधी होने से भगवान को उनके नाश करनेवाले पानी, पवन और हल की उपमा दी है।

**नमामि वीरं गिरि-सार-धीरं -** (पर्वतों में) श्रेष्ठ ऐसे मेरु पर्वत जैसे धीर, वीर भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

जैसे प्रचंड पवन से मेरु नहीं हिलता, वैसे अनेक प्रकार के उपसर्ग और परिषहों की लगातार झड़ियाँ बरसने पर भी महावीर्ययुक्त प्रभु अपने साधना मार्ग से लेश मात्र भी चलायमान नहीं होते । हर स्थिति में जो समता भाव में लीन रहते हैं, उन वीर प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।

इन चार विशेषणों के स्मरणपूर्वक भगवान को नमस्कार करने से उन-उन गुणों से युक्त भगवान के प्रति अत्यंत बहुमानभाव होता है और उन-उन गुणों का बहुमान ही अज्ञानता आदि दोषों का नाश करवाकर गुणप्राप्ति का कारण बनता है ।

यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए,

*"हे नाथ ! इस संसार रूपी दावानल में जलते हुए मुझे शीतल करने के लिए आपकी वाणी रूप पानी के बिना कोई शरण नहीं है । मोह की धूल से मलिन बनी हुई मेरी आत्मा को आपके स्वरूप का चिंतन, मनन और ध्यान ही स्वच्छ बना सकता है और मेरे में रही माया और वक्रता के भावों को आपके बताए हुए शुभ अनुष्ठान के सिवाय कोई नहीं निकाल सकता। इसीलिए मेरु जैसे धीर हे प्रभु ! हृदय के भावपूर्वक आपको नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि मेरे मन-वचन-काया के योगों को आपके वचनानुसार प्रवृत्त कर सकूँ, ऐसी शक्ति मुझे प्रदान करें ।"*

वीर भगवान की स्तुति करने के बाद दूसरी गाथा में चौबीस भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं ।

**भावावनाम-सुर-दानव-मानवेन-चूला-विलोल-कमलावलि - मालितानि**[3] - भाव से झुके हुए सुरेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्रों के मुकट से युक्त चपल कमलों की श्रेणी द्वारा पूजे गए[4] श्री जिनेश्वर परमात्मा के चरणकमल को मैं नमस्कार करता हूँ ।

इस जगत् में भौतिक सुख की पराकाष्ठा देवलोक में है। उसमें भी सर्वश्रेष्ठ भौतिक सुख तो देवों के इन्द्र-देवेन्द्रों के पास होते हैं। मनुष्य लोक के श्रेष्ठ सुख नरेन्द्रों और चक्रवर्तियों के पास होते हैं। ऐसे देवेन्द्र, दानवेन्द्र तथा नरेन्द्र भी प्रभु के चरणकमल को भावपूर्वक नमस्कार करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि 'प्रभु के पास जो अनंत आध्यात्मिक सुख है, वही सच्चा सुख है । वही नियमित रहनेवाला और दुःख की मिलावट से रहित सुख है। उनके सुख के आगे हमारे भौतिक सुख की एक कोडी भी कीमत नहीं है तथा हमारा यह सुख तो अनित्य है, कब चला जाएगा ? उसमें कौन-सा दुःख आ जाएगा ? किसी को पता नहीं है, इसलिए हमें भी ऐसा क्षणिक सुख नहीं चाहिए, लेकिन प्रभु के पास जो सुख है, वही चाहिए ।' इसीलिए प्रभु की उत्तमता तथा उनके सुख का स्मरण करके देवेन्द्र वगैरह वैसे सुख की शक्ति खुद में प्रकट हो वैसी आंतरिक भावना से प्रभु के चरणकमल को प्रणाम करते हैं ।

जब वे प्रभु के चरणों में मस्तक झुकाते हैं, तब उनके मस्तक पर रहे हुए मुकुट में जो पूर्ण विकसित कमल होते हैं, वे नीचे ढलते हैं और प्रभु के चरणों का स्पर्श करते हैं । यह दृश्य ऐसा लगता है कि मानो प्रभु के चरणकमलों को ये मुकुट के कमल पूज रहे हों ।

---

3. इस गाथा में नमामि क्रियापद है और जिनराज-पदानि उसका कर्म है ।
4. **भाव** अर्थात् सद्भाव या भक्ति । भक्ति से झुके हुए, वे **भावावनाम** और वैसे **सुर-दानव-मानवेन** अर्थात् सुर, दानव और मानव के **इन**-स्वामी, उनकी चूला अर्थात् शिर-शिखा या सिर का आभूषण-मुकुट । उसमें रही **विलोल-कमलावलि** विशेष प्रकार से डोलती कमलों की पंक्ति-हार उसके द्वारा **मालितानि** पूजे गए । यह पद **जिनराज-पदानि** का विशेषण है ।

देवेन्द्र आदि प्रभु के चरण कमल को नमन करते हैं, यह बताकर अब चरणों की सेवा का फल बताते हैं -

**संपूरिताभिनत-लोक-समीहितानि[5] कामं नमामि जिनराज पदानि तानि -** नमन करनेवाले लोगों के मनोवांछित जिसके द्वारा अच्छी प्रकार से पूर्ण हुए हैं, उन जिनेश्वर परमात्मा के चरणकमलों को मैं अत्यंत विनम्रता से नमस्कार करता हूँ ।

अनिच्छा रूप मोक्ष को पाए हुए परमात्मा की भक्ति ही ऐसी है कि जो दुःख के मूल के समान इच्छाओं का उपशम (शांत) करे, तो भी जो प्राथमिक कक्षा का साधक है, उसे शुरू शुरू में मोक्ष की साधना में कोई विघ्न आए, तो उस विघ्न को दूर करने की और मोक्षमार्ग में उपकारक सामग्री को प्राप्त करने की इच्छा भी होती है ।

ऐसी इच्छा को पूर्ण करने के लिए वह परमात्मा की पूजा करता है, परमात्मा का जाप करता है, परमात्मा की स्तवना करता है या परमात्मा के चरणों का ध्यान करता है । जिससे ऐसे पुण्य का बंध होता है कि उसको आवश्यक सभी सामग्री मिलती हैं, विशेष फायदा तो यह होता है कि, प्राप्त हुई भौतिक सामग्री में उसे आसक्ति नहीं होती और आध्यात्मिक सामग्री आत्मविकास में सहायक बने बिना नहीं रहती । इन सामग्रियों के सहारे साधक वैराग्यादि गुणों की वृद्धि करके, विरति धर्म को प्राप्त करके, क्रमिक विकास करता हुआ वीतराग बनकर विदेह अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त कर सकता है । इसलिए यहाँ प्रभु के चरणकमलों को मनोवांछित फल देनेवाला कहा है ।

---

5. **संपूरित**-सम्यक्-पूरित-अच्छी प्रकार से पूरे हुए, पूर्ण किए । **अभिनतलोक-समीहितानि**-नमन करनेवाले जनों के मनोवांछित । **अभि**-अच्छी तरह से । **नत**-झुका हुआ, **लोक**-मनुष्य । जो मनुष्य अच्छी प्रकार से झुके हुए हैं, वे **अभिनतलोक**। **समीहित**-अर्थात् सम्-ईहित-अच्छी तरह से इच्छा हुआ; अभिष्ट, अभिलषित या मनोवांछित यह उसके पर्यायवाची शब्द हैं । यह पद भी **जिनराज-पदानि** का विशेषण है ।

यह गाथा बोलते समय साधक देवेन्द्रों वगैरह से पूजे हुए प्रभु के चरणों को स्मृति पट पर स्थापित करके उनको अत्यंत भाव से नमस्कार करते हुए सोचता है कि,

*"मेरे प्रभु के चरण भी कितने अद्‌भुत हैं कि, जिनको देवेन्द्र और नरेन्द्र भी नमन करते हैं और जो उनको नमन करते हैं, उनके मनोरथ पूर्ण भी होते हैं । मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि मुझे ऐसे प्रभु मिलें । अब इन प्रभु के चरणों की उपासना करके मेरे जन्म को सार्थक करूँ ।"*

चौबीस भगवान की स्तुति करके अब तीसरी गाथा में श्रुतज्ञान की स्तुति करते हुए कहते हैं -

**बोधागाधं, सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं**[6] - बोध[7] से अगाध पदों की रचना रूप पानी के बाढ़ से मनोहर[8] (ऐसे वीर प्रभु के आगम रूप समुद्र को मैं सेवता हूँ ।)

"वीर प्रभु का आगम सागर जैसा गंभीर है । सागर के तल तक पहुँचना सामान्य व्यक्ति के वश में नहीं है, मात्र कोई मरजिया (गोताखोर) ही वहाँ तक पहुँच सकता है, वैसे ही आगम के एक-एक पद अनंत अर्थों से भरे हुए हैं, अनंत गम, पर्याय से युक्त है । सामान्य मनुष्य इसके मर्म को नहीं समझ सकता क्योंकि शास्त्र के प्रत्येक वचन को यथार्थ रूप से समझना,

6. इस गाथा में 'सेवे' क्रियापद है और वीरागम-जलनिधिं उसका कर्म है और
   (१) बोधागाधं (२) सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं
   (३) जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाहदेहं
   (४) चूला-वेलं (५) गुरुगम-मणी-संकुलं
   (६) दूरपारं (७) सारं ये पद वीरागम-जलनिधिं के विशेषण है।
7. बोध अर्थात् ज्ञान, उससे जो अगाध-गहरा है वह बोधागाधं यह पद वीरागम-जलनिधिं का विशेषण होने से द्वितीया विभक्ति से जुड़ा हुआ है ।
8. सुष्ठु-पद सुंदर पद, वह **सुपद** । उसकी **पदवी** अर्थात् योग्य रचना, वह **सुपद-पदवी** । उस रूपी **नीर** के **पूर** अर्थात समूह से **अभिराम**-मनोहर, वह **सुपद-पदवी-नीर-पूराभिरामं** - यह पद भी वीरप्रभु के आगमरूप समुद्र का विशेषण है ।

उसकी गहराई तक पहुँचना बहुत मुश्किल है। मरजिया (गोताखोर) जैसा कोई महाबुद्धि संपन्न व्यक्ति ही इसके रहस्य तक पहुँच सकता है । इसलिए कहा गया है कि, जिनागम समुद्र की तरह बोध से गहन है - अगाध है ।

जैसे पानी से भरा हुआ जलनिधि देखते ही मनोहर लगता है, वैसे ही सुंदर पदों की रचना से भरा आगम भी प्रथम नज़र में ही आकर्षक लगता है । आगम में आनेवालें पदों की रचना लयबद्ध, सुंदर शब्दों से सुशोभित होती है तथा आत्मभाव का प्रकाशन करनेवाले, सभी को हित का मार्ग बतानेवाले और जगत् का यथार्थ स्वरूप बतानेवाले ये पद प्रीतिकर होते हैं ।

**जीवाहिंसाविरल-लहरी-संगमागाहदेहं**[9] - जिस तरह समुद्र अपनी तरंगों - लहरों के कारण अनन्त लगता है, वैसे ही जिनागम अपने जीवदया के सिद्धांतों के संगम के कारण अगाध अनंत लगता है ।

समुद्र में निरंतर आनेवाली लहरों के कारण जैसे समुद्र अगाध देहवाला याने विशाल दीखता है, उसका कहीं पार नहीं दीखता, वैसे ही जैन सिद्धांत में आनेवाले अहिंसक भाव के द्योतक पदों के संयोग से जैन सिद्धांत भी अगाध[10] देहवाला दीखता है ।

---

9. जीव की अहिंसा वह **जीवाहिंसा**/**अविरल**-निरंतर, जो अलग हो, वह विरल कहलाता है। अविरल का अर्थ उसके प्रतिपक्षी भाव में निरंतर-अंतर रहित होता है । **लहरी**-तरंग। **संगम** जुड़ना है। जहाँ एक तरंग शांत होती है वहाँ दूसरी उठती है और दूसरी शांत होती है वहाँ तीसरी उठती है वहाँ लहरों का संगम हुआ, ऐसा माना जाता है । ऐसी क्रिया जहाँ निरंतर चलती रहती हो, वह **अविरल-लहरी-संगम** कहलाती है और इस प्रकार जहाँ निरंतर लहरी का संगम होता रहता हैं - तरंगें उछलती रहती है और जहाँ किसी को प्रवेश करना मुश्किल होता है, उस कारण वह **अगाह** - देह हो जिसमें प्रवेश न कर सके, वैसे देहवाला कहलाता है ।

10. गणधर भगवंतों के रचे आचारांगादि सिद्धांत (द्वादशांगी) में १८००० बगैरह डबल-डबल पद होते हैं । एक पद में ५१,०८,८४,६२१ श्लोक आते हैं, इसलिए आगम अगाध कहलाते हैं ।

द्रव्य और भावहिंसा से पीड़ित जगत् को देखकर, उस हिंसा से जगत् के सब जीवों की रक्षा करने के लिए ही भगवान ने जैनशासन की स्थापना की है । इसलिए जैन शास्त्र का एक भी पद ऐसा नहीं है कि जिसमें द्रव्य से या भाव से अहिंसा का उल्लेख न किया हो । फिर भले ही उसमें दान, शील, तप या भाव की बात हो, ज्ञान या क्रिया की बात हो या द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का विचार हो । इन सभी बातों का तात्पर्य तो हिंसा से बचाकर अहिंसक भाव की तरफ जाने के लिए ही होता है ।

जैन आगम में बताए मार्ग के अनुसार जीने से सूक्ष्म या बादर, किसी भी जीव की द्रव्य से या भाव से मन-वचन या काया से और करण-करावण या अनुमोदन से एक क्षण भी हिंसा न हो, उस प्रकार संपूर्ण जीवन व्यतीत किया जा सकता है । ऐसी अहिंसा की बातें या अहिंसामय जीवन का आचरण करने की व्यवस्था जैन शास्त्र में बताई गई है ।

अहिंसा का सिद्धांत तो सभी धर्मो में स्वीकार किया गया है, लेकिन जीवों को होनेवाली पीड़ा का सूक्ष्मतम वर्णन तथा जीवों की हिंसा से बचने के और उनकी पीड़ा से अटकने के उपायों का वर्णन जैनशास्त्रों में जैसा है, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं है ।

**चूला-वेलं, गुरुगम-मणी-संकुलं,[11] दूरपारं सारं** - चूलिकारूपी बड़ी तरंगें जिसमें है, बड़े और समान पाठरूपी मणि से जो व्याप्त है जिसका किनारा दूर है और जो श्रेष्ठ है (ऐसे वीर प्रभु के आगम की मैं सम्यग् प्रकार से सेवा करता हूँ ।)

**चूला-वेलं :** पूर्णिमा के दिन जब समुद्र में ज्वार (भरती) आता है, तब पानी बहुत ऊँचा ऊँचा उछलता है, उसे वेला कहते हैं । ऐसी लहरों से भी जलधि नयनरम्य लगता है। उसी प्रकार जैनागम में भी आगमग्रंथों की रचना करने के बाद उन शास्त्रों के भावों को विशेष प्रकार से बताने के

11. गुरु ऐसे गम, वह **गुरु-गम,** उस रूप मणी और उसका संकुल, वह **गुरु-गम-मणी-संकुलं ।** यह पद भी वीरागम का विशेषण है । मणी शब्द दीर्घान्त भी मिलता है ।

लिए चूलिका की रचना की जाती है । ऐसी चुलिकाओं से जैनागमरूपी सागर भी अत्यंत सुंदर लगता है ।

**गुरुगम-मणी-संकुलं :** सागर को रत्नाकर कहा जाता है क्योंकि उसकी गहराई में अनेक प्रकार के बहुमूल्य एवं नयनरम्य रत्न पड़े हैं। उसी प्रकार जैनागमरूपी समुद्र बड़े आलापकरूपी महामूल्यवान रत्नों से भरा है । जैसे रत्न महासमृद्धि का कारण बनते हैं, वैसे ये आलापक आत्मा की गुणसमृद्धि का कारण बनते हैं, इससे ही जैनागम का मूल्य अमूल्य है।

**दूरपारं :** विशाल पट के ऊपर बिछे समुद्र का पार कठिनाई से प्राप्त होता है, वैसे अनंत अर्थों से भरे शास्त्रों के रहस्य को प्राप्त करना बहुत मुश्किल है ।

तीक्ष्ण बुद्धिवाले चौदह पूर्वधर के सिवाय भगवान के शास्त्रों के पार को कोई नहीं पा सकता । चौदह पूर्वधर भी शब्द से प्राप्त अनंत भावों को जानते हैं पर उसके अतिरिक्त जो अनभिलाप्य है वैसे अनंत भावों को वे भी नहीं जानते । अनंत भावों को जानने की शक्ति तो सर्वज्ञ भगवान के सिवाय किसी की भी नहीं होती।

**सारं :** सार-श्रेष्ठ । भगवान का आगम सभी दर्शनों में श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें आत्मा आदि सभी पदार्थों का, सभी नय से सर्वांगीण वर्णन किया गया है । सभी आस्तिक धर्मों के सिद्धांतों में आत्मा-पुण्य-पाप-परलोक आदि की बातें आती हैं। संसार की असारता और मोक्ष की श्रेष्ठता का वर्णन भी होता है, परन्तु वह कोई एक नय से (एक दृष्टिकोण से) ही होता है दूसरी अनेक दृष्टि से (नय से) उनको देखना बाकी रहता है। इतनी उनकी अपूर्णता है, इस लिए सभी नयों से सभी पदार्थों को परिपूर्ण देखनेवाला जैन सिद्धांत ही श्रेष्ठ है ।

**वीरागम-जलनिधिं सादरं साधु सेवे -** वीरभगवान के आगमरूप समुद्र की मैं सम्यग् प्रकार से सेवा करता हूँ।

वस्तुतत्त्व को जो स्पष्ट स्वरुप से व्यक्त करें, उसे 'आगम'[12] कहा जाता है अथवा

वीर प्रभु को साढे बारह वर्ष की साधना के अंत में केवलज्ञान प्रकट हुआ। केवलज्ञान के प्रकाश में उन्होंने संपूर्ण जगत् को यथार्थ रूप से देखा। अपने प्रथम शिष्य गौतमस्वामी की जिज्ञासा संतुष्ट करने के लिए तीन शब्दों में उन्हें त्रिपदी द्वारा जगत् का स्वरूप बताया । बीज बुद्धि के स्वामी गौतमादि गणधरों ने उसके आधार पर जो द्वादशांगी की रचना की, उस द्वादशांगी को 'आगम' कहा जाता है ।

इस आगम के आधार पर उनके बाद के महान श्रुतधर पुरुषों ने अनेक ग्रंथों की रचना की । कालक्रम से उसमें से बहुत से ग्रंथ नष्ट हो चुके हैं। बहुत कम बचे हैं । फिर भी बचे हुए शास्त्र इतने हैं कि उनका अध्ययन यदि किया जाए, तो जीवन कम पड़े ।

इन आगम वचनों को अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार समझने का प्रयत्न करना, समझे गए तत्त्वों के प्रति तीव्र श्रद्धा रखनी, शक्ति के अनुसार शास्त्र द्वारा बताए गए आत्महितकर कार्य में प्रवृत्ति करनी और अहितकर विषय से निवृत्त होना, जैनागम का आदरपूर्वक किया हुआ सुंदर आसेवन है।

**जिज्ञासा :** असार संसार को भी सागर के समान बताया है और श्रेष्ठ श्रुतज्ञान को भी सागर के समान बताया। विरोधी धर्मवाली दो चीजों को एक उपमा से कैसे व्यक्त किया जा सकता है ?

**तृप्ति :** किसी भी वस्तु के अच्छे-बुरे दो पहलू होते हैं। समुद्र का भी अच्छा पहलू देखें तो वह अनेक रूप से सुंदर दीखता है। उसके पानी की गहराई, अपार पानी का समूह, निरंतर आती पानी की लहरें, ज़्वार (Tides) का समय, उसमें रहे रत्न, ये सब देखते हुए समुद्र अनेक लोगों के अंतर को आकर्षित करता है और इसलिए बहुत लोग खास समुद्र को देखने जाते हैं, उसमें सैर भी करते हैं । ऐसे अच्छे पहलू को नजर के

12. आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागमः ।

सामने रखकर ही समुद्र की श्रुत के साथ तुलना की गई है और उसके खराब पहलू का विचार करें तो उसमें आते आवर्त, बीच-बीच में रहे हुए पर्वत, मगरमच्छ, पानी का खारापन वगैरह समुद्र के दुर्गुण हैं । उस अपेक्षा से संसार को समुद्र की उपमा दी गई है, वह भी योग्य ही है ।

यह गाथा बोलते हुए विशालपट पर प्रसारित अति गहन आगमरूप समुद्र नजर के समक्ष आता है और यह देखकर साधक आनंदविभोर बनकर सोचता है,

*"मेरे परमपिता परमेश्वर मोक्ष में गए, पर मेरे लिए बहुत कमाई रखकर गए हैं। इस जगत् में सगी माँ या बाप भी जो कार्य न कर सके, वह कार्य मेरे प्रभु ने किया है । मुझे सुखी होना हो, तो मुझे एक ही कार्य करना है, इस आगमरुपी समुद्र में डूबकी मारने का, उसकी गहराई तक पहुँचने का, वहाँ रहे हुए रत्नों को निरखने का और उन रत्नों को लेकर उनके अनुसार जीवन जीने का । अगर मैं इतना करूँगा, तो जरूर इस संसार में भी सुख का अनुभव करके परंपरा से परमसुख के धाम तक पहुँच सकूँगा ।"*

अब चौथी गाथा में श्रुतदेवता को संसार के उच्छेद की प्रार्थना की गई है-

**आमूलालोल-धूली-बहुल-परिमलाऽऽलीढ-लोलालिमाला झंकाराराव-सारामलदल-कमलागारभूमिनिवासे**[13] -मूल पर्यंत कुछ हिलने से झरते मकरंद की अत्यंत सुगंध में मग्न हुए चपल भ्रमर वृंद के

13. इस गाथा में **'देहि'** क्रियापद है, **भव-विरह-वरं** कर्म है और उसकी प्रार्थना श्रुतदेवी से की गई है। उससे देवी को संबोधन किया गया है और
   (१) अमूलालोल-धूली-बहुल-परिमलाऽऽलीढ-लोलालिमाला-झंकाराराव-सारामलदलकमला-गारभूमिनिवासे !,
   (२) छाया-संभार-सारे !
   (३) वरकमल-करे !,
   (४) तार-हाराभिरामे !
   (५) वाणी-संदोह-देहे !, ये पद **देवी** के विशेषण है ।

झंकार शब्द से युक्त, उत्तम निर्मल पंखुडीवाले कमल घर की भूमिका में वास करनेवाली[14]। हे सरस्वती देवी! मुझे मोक्ष का वरदान दो ।

शास्त्रों के प्रति परम भक्तिवाली और श्रुत की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी ईंट, मिट्टी के बने बंगलें में नहीं रहती । वह निर्मल पत्ते वाले, कुछ हिलते और हिलने के कारण चारों और फैली मकरंद की सुगंध से आकर्षित होकर भ्रमर वृंद जहाँ झंकार आवाज़ करते रहते हैं, वैसे कमल के घर में रहती हैं ।

इस कमल के घर का वातावरण पाँचों इन्द्रियों को अत्यंत सुखदायी है। कमल की शोभा इतनी अद्‌भुत है कि, आँख आकर्षित हुए बिना नहीं रहती। कमल की सुगंध ऐसी है कि नाक तरबतर हुए बिना नहीं रहता। इस सुगंध से आकर्षित हुए भ्रमरों का गुंजन भी अति कर्णप्रिय लगता है तथा कमल का मुलायम स्पर्श स्पर्शेन्द्रिय को आह्लादित किए बिना नहीं रहता, ऐसे कमल के घर में सरस्वती देवी का वास है ।

सरस्वती देवी के घर का वर्णन करने के बाद अब उनकी देह का वर्णन करते हुए कहते हैं ...

**छाया-संभार-सारे ! वरकमल-करे ! तार-हाराभिरामे ! -** कांति के समूह से श्रेष्ठ[15] जिसके हाथ में श्रेष्ठ कमल है वैसी एवं देदीप्यमान हार से मनोहर[16]। (ऐसी हे सरस्वती देवी ! मुझे मोक्ष दें।)

---

14. **आमूल** - मूल पर्यंत, **आलोल**-कुछ डोल रहा, वह आमूलालोल मूल के पूर्व प्रयोग किया गया **आ** - उपसर्ग मर्यादा या सीमा को सूचित करता है और **लोल** के पूर्व प्रयोग किया गया वहीं उपसर्ग लगभग अथवा कुछ का अर्थ बताता है । यह विशेषण कमल के उद्देश्य से लगाया गया है। **धूली** अर्थात् रज, पराग या मकरंद, उसकी **बहुल-परिमल**-बहुत सुगंध में । **आलीढ़** - आसक्त, मग्न, चिपका हुआ । **लोलालिमाला**-लोल ऐसे अलियों की माला । **लोल**-चपल । **अलि**-भ्रमर । **माला**-हार, पंक्ति या श्रेणी, उसके झंकार शब्द से युक्त । **सार**-उत्तम । **अमल**-दलकमल । **अमल**-निर्मल । **दल**-पत्तियों वाला, **कमल** - वह अमल-दल-कमल । उस रूप आगारभूमि-रहने की जगह। उसमें **निवासा**-वास करनेवाली । यह पूरा सामासिक पद देवी का विशेषण है, वह संबोधनार्थ रखा गया होने से निवासे ! ऐसा प्रयोग किया गया है ।

15. **छाया**-कान्ति, प्रभा या दीप्ति, उसका **संभार**-समूह या जथ्था । उसके साथ **सारा**-उत्तम, श्रेष्ठ, रमणीय। यह पद भी देवी का विशेषण है और संबोधन होने से **छाया-संभार-सारे** ! ऐसा प्रयोग हुआ है ।

16. **तार** ऐसा जो **हार** उससे **अभिराम**, वह **तार-हाराभिराम** । **तार**-स्वच्छ, निर्मल या देदीप्यमान। **हार** कंठ का आभूषण । **अभिरामा**-मनोहर । यह भी देवी का विशेषण होने से संबोधन रूप है।

सरस्वती देवी का पूरा शरीर तेज-पुंज से भरा हुआ है, जिसके कारण देखनेवाले को वह अत्यंत प्रिय लगती है और उसके एक हाथ में श्रेष्ठ कमल है और कंठ में देदीप्यमान हार है। ऐसे उत्तम अलंकार और हाथ में फूल के कारण उसके शरीर की शोभा में अत्यंत अभिवृद्धि हुई है।

श्रुतदेवी के बाह्य शरीर का वर्णन करने के बाद, अब उसके आत्मस्वरूप (अंतरंग स्वरुप) को बताकर प्रार्थना करते हुए कहते हैं -

**वाणी-संदोह-देहे ! भव-विरह-वरं देहि मे देवी सारं -** वाणी के समूह रूप देहवाली ! हे देवी ! आप मुझे सारभूत मोक्ष का वरदान दें ।

"वाणी का समूह ही जिसका शरीर है अर्थात द्वादशांगी ही जिसका शरीर है । वैसी हे श्रुतदेवी ! आप मुझे श्रेष्ठ मोक्ष प्रदान करें ।" सरस्वती देवी सदा के लिए श्रुतज्ञान के प्रति उपयोगवाली और श्रुत के प्रति प्रीतिवाली होने के कारण इस श्रुतदेवी को वाणी के संदोह रूप देहवाली कही गई है ।

इस प्रकार की श्रुतदेवी को बुद्धिस्थ करके साधक कहता है,

"हे माँ शारदा ! मुझे आप में विश्वास है, श्रद्धा है, श्रुत की भक्ति से आप तो मोक्ष प्राप्त करोगे ही, परन्तु मुझमें भी आप जैसी श्रुतभक्ति पैदा करवाकर मोक्ष सुख प्राप्त करवाओ !"

यद्यपि सरस्वती देवी संसार में है, भौतिक सुखों का आनंद ले रहे हैं, इसलिए प्रथम नज़र से देखते हुए उनके पास ऐसी प्रार्थना करने योग्य नहीं लगती, तो भी परमार्थ से विचार करें तो ज़रूर समझ में आता है कि, श्रुत के प्रति उनकी तीव्र भक्ति ही उन्हें थोड़े समय में 'भवविरह' रूप मोक्ष को प्राप्त करवाएँगी और उनकी उपासना, जाप या ध्यान करनेवालों को भी ये श्रुतदेवी श्रुतज्ञान में अनेक प्रकार से सहायक बनेंगी । जिससे साधक निर्विघ्न तरीके से श्रुत की साधना करके, भव की परंपरा को तोड़कर मोक्ष

के महासुख को प्राप्त कर सकेगा । इसलिए श्रुतदेवी से ऐसी प्रार्थना करना योग्य है ।

यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए,

*"दैविक सुखों के बीच भी सरस्वती देवी की श्रुत के प्रति कितनी सुंदर भक्ति है । श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानी की सुरक्षा के लिए वे कितनी जागृत हैं। जो उनका ध्यान करते हैं, उनका जाप करते हैं, उन्हें वे सहायता करती हैं। मैं भी श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए माँ शारदा का स्मरण करूँ और उनके पास भवविरह का वरदान मांगूँ ।"*

# पुक्खरवरदी सूत्र

**सूत्र परिचय :**

दीपक की तरह जगत् के सब भावों को श्रुतज्ञान प्रकाशित करता है, ऐसे श्रुतज्ञान की इस सूत्र से स्तवना की गई है, इसलिए इसका दूसरा नाम **'श्रुतस्तव'** है ।

श्रुतज्ञान अरिहंत परमात्मा का वचन ही है । केवलज्ञान पाने के बाद याने कि तीर्थंकर नाम कर्म का विपाकोदय होने के बाद तीर्थंकर भगवंत गणधर पद के योग्य आत्माओं को, जगत् के पदार्थों का यथार्थ बोध करवाने के लिए त्रिपदी प्रदान करते हैं। त्रिपदी के श्रवण मात्र से उनकी आत्मा में ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट प्रकार का क्षयोपशम होता है । उससे वे जगत् के भावों को यथार्थ रूप से जान सकते हैं। जाने गए उन भावों में से अभिलाप्य-कह सके, ऐसे भावों को वे शब्द रचना द्वारा व्यक्त करते हैं । शब्दात्मक इस रचना को द्वादशांगी कहते हैं । यह द्वादशांगी द्रव्यश्रुत है और इस द्वादशांगी के अध्ययन से अथवा योगाभ्यास से होनेवाला **ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम, भावश्रुत है** । इस सूत्र में भावश्रुत के कारणभूत ऐसे द्रव्यश्रुत की स्तवना की गई है ।

दुनिया के विचारक जीव ज्ञान के महत्त्व को समझते हैं । इसलिए वे स्कूल, कॉलेज़ वगैरह के माध्यम से ज्ञान के लिए अथक प्रयत्न करते हैं, लेकिन प्रयत्न से प्राप्त हुए, उस व्यावहारिक ज्ञान से उन्हें आत्मज्ञान नहीं होता । सच्चा सुख कहाँ है, वह उनकी समझ में नहीं आता। मात्र वैषयिक सुख कैसे प्राप्त करना, कैसे उसका भोग करना उसके साधन किस प्रकार प्राप्त करना और विषय-कषाय की संतुष्टि से होनेवाला मन का आनंद कैसे टिकाना यहीं मालूम पड़ता है, इसलिए उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं ।

इस सूत्र में ऐसे मिथ्याज्ञान की स्तवना नहीं, परन्तु आत्मज्ञान प्राप्त करवाएँ, सर्व स्थिति में मन को स्वस्थ-प्रसन्न रखें, मात्र वर्तमान काल में ही नहीं, परन्तु अनंतकाल तक सुख को प्राप्त करवाएँ, वैसे सम्यग् श्रुतज्ञान की स्तवना की गई है ।

इस सूत्र में जिस प्रकार श्रुतज्ञान का महत्त्व बताया, उस महत्त्व को मन में स्थापित करके यदि श्रुतज्ञान को स्मरण में लाकर, श्रुतज्ञान की स्तवना की जाए, तो श्रुत के प्रति आदर बढ़ता जाता है और श्रुताध्ययन की भावना जागृत होती है । उस मार्ग में यथाशक्ति प्रयत्न शुरू होता है, जिससे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, उससे बुद्धि निर्मल होती है। निर्मल बनी बुद्धि, शास्त्र में रहे अलौकिक भावों का दर्शन करवाती है। जिससे अंतर आह्लादित होता है, झूठे विकल्प शांत हो जाते हैं, मन शांत हो जाता है, धर्म और शुक्लध्यान के मार्ग पर आत्मा आगे बढ़ती जाती है, फलतः घातिकर्म का नाश कर आत्मा अपने स्वरूप का दर्शन कर सकती है। इस प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा क्रमिक विकास करती हुई आत्मा अंतिम मोक्ष तक पहुँच सकती है ।

इस सूत्र की प्रथम गाथा में श्रुतज्ञान की स्तवना करने से पहले श्रुतज्ञान के उद्भव स्थानभूत अरिहंत परमात्मा की स्तवना की जाती है ।

दूसरी गाथा में अंतरंग दोषों को दूर करके श्रुतज्ञान किस प्रकार सद्गुणों का विकास करवाता है तथा उसकी बाह्य समृद्धि कैसी है, वह बताया है।

तीसरी गाथा में 'यह श्रुतज्ञान संसार के सभी दुःखों का नाश करवाकर आत्मा को पूर्ण आरोग्य प्राप्त करवाता है ।' ऐसा बताकर सूत्रकार परमर्षि बताते हैं कि, देवेन्द्र और चकवर्ती से पूजे गए श्रुत के सामर्थ्य को जानकर कौन प्रमाद करें ? अर्थात् जिसने श्रुतज्ञान का महत्त्व समझा है, वैसी आत्माएँ तो इस श्रुतज्ञान की प्राप्ति में और तदनुसार आचरण में लेश मात्र भी प्रमाद या विलंब नहीं करतीं, यह बताया गया है ।

चौथी गाथा में यह श्रुतज्ञान कितना विशाल है ? और वह किन गुणों की वृद्धि करता है, वगैरह बताकर श्रुतधर पुरुषों की साक्षी में श्रुतज्ञान को नमस्कार किया गया है और अंत में संयमधर्म की वृद्धि करनेवाले और विजयवंत ऐसे श्रुतधर्म की वृद्धि की आशंसा व्यक्त की है । उसके बाद श्रुतज्ञान की आराधना के निमित्त 'सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं' बोलकर एक नवकार का कायोत्सर्ग किया जाता है । जो चैत्यवंदन का सातवाँ अधिकार है।

**मूलसूत्र :**

**पुक्खरवर-दीवड्ढे, धायइसंडे य जंबूदीवे य ।**
**भरहेरवय-विदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ।।१।।**
**तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स, सुरगण-नरिंद-महिअस्स ।**
**सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिय-मोहजालस्स ।।२।।**
**जाइ-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स,**
**कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ।**
**को देव-दाणव-नरिंद-गणच्चियस्स,**
**धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ? ।।३।।**
**सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए नंदी सया संजमे ।**
**देवं-नाग-सुवन्न-किन्नर-गण-स्सब्भूअ-भावच्चिए ।।**

**लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्क-मच्चासुरं ।**
**धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ।।४।।**
**सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं, वंदण-वत्तियाए० ।**

**पद-१६ संपदा-१६ अक्षर-२०९/२१६**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :**

**पुक्खरवर-दीवड्ढे, धायइसंडे य जंबूदीवे य ।**

*पुक्खरवर-द्वीपार्धे, धातकीखण्डे च जम्बूद्वीपे च ।*

पुष्करवर नाम के अर्ध द्वीप में, धातकी खंड में और जंबूद्वीप में और

**भरहेरवय-विदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ।।१।।**

*भरत-ऐरवत-विदेहे, धर्मादिकरान् नमस्यामि ।।१।।*

भरत, ऐरवत और विदेह नाम के क्षेत्र में धर्म की शुरुआत करनेवालों को मैं नमस्कार करता हूँ ।।१।।

**तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स, सुरगण-नरिंद-महिअस्स,**
**सीमाधरस्स, पप्फोडिय-मोहजालस्स वंदे ।।२।।**

*तमस्तिमिर-पटल-विध्वंसनं, सुरगण-नरेन्द्र-महितं,*
*सीमाधरं, प्रस्फोटित-मोह-जालं वन्दे ।।२।।*

अज्ञानरूपी अंधकार के पटलों को दूर करनेवाले, देव के समूह और नरेन्द्रों से पूजित, मर्यादा को धारण करनेवाले और मोह (मिथ्यात्व) की जाल को विशेष प्रकार से तोड़नेवाले (श्रुतधर्म को) मैं वंदन करता हूँ ।

**जाइ-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स ।**

*जाति-जरा-मरण-शोक-प्रणाशनस्य ।*

जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु (और) शोक का नाश करनेवाले,

**कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स ।।**

*कल्याण-पुष्कल-विशाल-सुखावहस्य ।*

पुष्कल कल्याण और विशाल सुख को देनेवाले,

**देव-दाणव-नरिंद-गणच्चियस्स धम्मस्स सारमुलब्भ को पमायं करे ? ।।३।।**

*देव-दानव-नरेन्द्र-गणार्चितस्य धर्मस्य सारमुपलभ्य कः प्रमादं कुर्यात् ? ।।३।।*

देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रों के समूह से पूजे गए (श्रुत) धर्म के सार को प्राप्त करके कौन प्रमाद करें ? ।।३।।

**भो ! सिद्धे पयओ**

*भोः ! सिद्धे (जिनमते) प्रयतः*

हे (श्रुतधर परमर्षियों ! आप देखें ।) सिद्ध (ऐसे जिनमत में) मैं प्रयत्न वाला हूँ ।

**नमो जिणमए**

*नमो जिनमताय*

मैं (उस सिद्ध ऐसे) जिनमत को नमस्कार करता हूँ ।

**देवं-नाग-सुवन्न-किन्नर-गण-स्सब्भूअ-भावच्चिए संजमे सया नंदी**

*देव-नाग-सुवर्ण-किन्नर-गण-सद्भूत-भावार्चिते संयमे सदा नन्दिः*

(इस प्रकार का जिनमत होते हुए) देव, नागकुमार, सुवर्णकुमार, किन्नर आदि के समुदाय से सच्चे भाव से पूजे गए ऐसे संयम में सदा वृद्धि होती है।

और वह जिनमत कैसा है ?

**जत्थ लोगो पइट्ठिओ**

*यत्र लोकः प्रतिष्ठितः*

जिसमें लोक=ज्ञान, कारण रुप में प्रतिष्ठित है । (तथा)

**तेलुक्क-मच्चासुरं इणं जगम् (जत्थ पइट्ठिओ)**

*त्रैलोक्य-मर्त्यासुरं इदं जगत् (यत्र प्रतिष्ठितः)*

तीन लोक के मनुष्य तथा (सुर) असुरादि के आधार रूप यह जगत् (जिसमें ज्ञेय रूप में रहा है ऐसा जिनमत है।)

**विजयओ धम्मो सासओ वड्ढउ**

*विजयतः धर्मः शाश्वतः वर्धतां*

(मिथ्यावादीयों पर) विजय करवानेपूर्वक धर्म (श्रुतधर्म) सदा वृद्धि को प्राप्त हो ।

**धम्मुत्तरं वड्ढउ ।।४।।**

*धर्मोत्तरं वर्धताम् ।।४।।*

(चारित्र) धर्म की वृद्धि में (भी) धर्म (श्रुतधर्म) वृद्धि प्राप्त करें।।४।।

## विशेषार्थ :

**पुक्खरवर-दीवड्ढे, धायइसंडे य जंबूदीवे य -** पुष्करवर नाम के अर्ध द्वीप में, धातकी खंड में और जंबूद्वीप में ।

तिरछेलोक की रचना, मध्य में थाली के आकार वाले द्वीप और फिर चूड़ी के आकारवाले समुद्र तथा द्वीपों से हुई है अर्थात् प्रथम द्वीप-ज़मीन है, उसके आस-पास समुद्र है, उसके बाद द्वीप-ज़मीन है, उसके बाद समुद्र है और उसके बाद फिर ज़मीन है वगैरह । इस रचना के अनुसार तिरछालोक के बीच में जंबू नाम का द्वीप है और उसके मध्य में मेरु नाम का एक महान पर्वत है। उसके आस-पास समुद्र है । इसके बाद जो ज़मीन-द्वीप है, उसमें धावडी वृक्ष के वन विशेष होने से उसे धातकी खंड कहते हैं। धातकीखंड के आस-पास समुद्र है । उस समुद्र के बाद जो ज़मीन-द्वीप है, उसका नाम पुष्करवर द्वीप है यह द्वीप पुष्कर अर्थात् कमलों द्वारा सुशोभित होने से, उसे पुष्करवर द्वीप कहा जाता है। उसका अर्ध भाग ही यहाँ ग्रहण करना है।

पुष्करवर द्वीप के मध्य भाग में गोल किले के आकारवाला मानुषोत्तर नाम का एक पर्वत है, जिससे पुष्करवर द्वीप के दो भाग होते हैं। उसके अन्दर के भाग में मनुष्य रहते हैं, पर बाहर के भाग में मनुष्य नहीं रहते। मतलब, जंबूद्वीप, धातकी खंड़ एवं अर्ध पुष्करवर द्वीप मिलकर अढ़ाई द्वीप

जितना मनुष्य क्षेत्र है। किसी भी मनुष्य का जन्म मरण उतने ही क्षेत्र में होता है।

**भरहेरवय-विदेहे -** भरत, ऐरवत एवं विदेह नाम के क्षेत्र में ।

ऊपर बताए गए अढ़ाई द्वीप में कुल ४५ क्षेत्र हैं। उनमें पाँच भरत, पाँच ऐरवत एवं पाँच महाविदेह ये पंद्रह क्षेत्र, कर्मभूमि कहलाते हैं। तीर्थंकर कर्मभूमि में ही जन्म लेते हैं एवं कर्मभूमि में ही वे मोक्षमार्गरूपी धर्म की स्थापना करते हैं। इसलिए इस पद में भरतादि क्षेत्रों का उल्लेख किया गया है।

**धम्माइगरे नमंसामि -** धर्म की शुरूआत करनेवालों को मैं नमस्कार करता हूँ ।

भरतादि क्षेत्र की पंद्रह कर्मभूमि में जन्म से लेकर तीर्थंकर पद को प्राप्त करके, जिन्होंने श्रुतधर्म का प्रारंभ किया है, वैसे आज तक हुए अनंत तीर्थंकरों को इस पद द्वारा नमस्कार किया गया है ।

दुर्गति में गिरते हुए प्राणियों को जो धारण कर रखे, उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म श्रुत एवं चारित्र के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भगवान के वचनों का जिसमें संग्रह हुआ हो, वैसे शास्त्र या आगमग्रंथ को श्रुतधर्म/श्रुतज्ञान कहते हैं एवं भगवान इस श्रुतज्ञान की आदि प्रारंभ करनेवाले कहलाते हैं।

केवलज्ञान की प्राप्ति होने के बाद परमात्मा धर्म की देशना देते हैं। यह धर्म की देशना सुनने के बाद बीज बुद्धि के एवं सर्वाक्षर संनिपातिनी लब्धि के स्वामी ऐसे गणधर भगवंत जगत् के भावों को यथार्थ रूप से जानते हैं। जाने हुए इन भावों को वे शब्द देह देते हैं । उनकी इस शब्दात्मक रचना को द्वादशांगी कहते हैं। द्वादशांगी की रचना ही श्रुतधर्म का प्रारंभ है। उसके बाद के गीतार्थ गुरु भगवंतों ने उस द्वादशांगी के विस्तार रूप अनेक आगम ग्रंथों-शास्त्रों-प्रकरणों वगैरह की रचना की, जिसे भी श्रुतज्ञान कहते हैं ।

शब्द रूप में रचित इन शास्त्रों का श्रवण-चिंतन-मनन, आत्मा को दुर्गति में जाने से बचाता है, इसलिए यह श्रुतज्ञान ही अपेक्षा से श्रुतधर्म है । भगवान का शासन इसी श्रुत के आधार पर चलता है । इस श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर आज तक अनंत आत्माओं ने मोक्ष के महासुख को प्राप्त किया है। आज भी जगत् में जो कोई सुख, शांति और समाधि दिखाई देती है, उसका मूल कारण यही श्रुतज्ञान है।

ऐसे हितकर श्रुतधर्म का माहात्म्य जिसने जाना हो, उसकी परम उपकारिता जिसकी बुद्धि में बैठी हो, उस व्यक्ति को श्रुतज्ञान का प्रारंभ करनेवाले परमात्मा के प्रति भक्ति होती ही है । इसीलिए इस श्रुत की स्तवना करने से पहले श्रुत के पिता तुल्य अरिहंत परमात्मा की इन पदों द्वारा वंदना की है ।

**जिज्ञासा :** यहाँ धर्म का प्रारंभ करनेवाले परमात्मा की वंदना की गई है, परन्तु परमात्मा को श्रुतधर्म का प्रारंभ करनेवाले कैसे कह सकते हैं, क्योंकि श्रुतधर्म तो अनादिकाल से है ?

**तृप्ति :** प्रवाह से श्रुतज्ञान अनादिकाल से है यह बात सही है, तो भी श्रुतधर्म का प्रारंभ तो है ही । जैसे नदी का पानी सदा बहता रहता है, नदी प्रवाह से अनादि होने के बावजूद पानी की दृष्टि से सोचें तो पानी नया ही रहता है। वही का वही पानी सदा के लिए कभी नहीं रहता, उसी प्रकार महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से सोचें तो जगत् में श्रुतज्ञान भले अनादिकाल से है, तो भी अर्थ से एक होने पर भी शब्द रचना की दृष्टि से उन-उन तीर्थंकरों की अपेक्षा से नवीन द्वादशांगी, नए-नए ग्रंथों की रचना होती है। उस अपेक्षा से श्रुत की आदि भी कहलाती है और त्रिपदी देने के द्वारा उसका प्रारंभ करनेवाले तीर्थंकर को श्रुतज्ञान की आदि करनेवाले भी कहते हैं।

श्रुतज्ञान अर्थ से अनादि है और शब्द से सादि है और उसे करनेवाले भी है, ऐसा कहने से जो लोग आगम को अपौरुषेय मानते हैं, उनकी बात का खंडन होता है।

यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए

*"परिमित क्षेत्र में रहा हुआ सूरज जैसे अपरिमित क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वैसे अढाई द्वीप के परिमित क्षेत्र में जन्म लेनेवाले और विचरनेवाले तीर्थंकर परमात्मा अपने श्रुतज्ञान के किरणों से संपूर्ण विश्व को प्रकाशित करते हैं, इसके बावजूद उल्लू जैसा मैं श्रुतधर्म के प्रकाश को प्राप्त न कर सका ।*

*हे विश्वोद्योतकर श्रुतधर पुरुषों ! मस्तक झुकाकर आप से प्रार्थना करता हूँ कि आपकी तरह प्रकाश फैलाने की शक्ति मेरे में नहीं हैं; परन्तु आपके फैलाए हुए प्रकाश की सहायता से आत्म कल्याण करने की शक्ति मुझ में प्रकटे, ऐसी कृपा कीजिएँ ।"*

**तम-तिमिर-पडल-विद्धंसणस्स -** अज्ञानरुपी अंधकार के पटल का नाश करनेवाले (ऐसे श्रुतज्ञान को मैं वंदन करता हूँ ।)

आत्मा के ऊपर छाए हुए अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके ज्ञान के प्रकाश को फैलाने का काम श्रुतज्ञान करता है । इसलिए श्रुतज्ञान को "तम-तिमिर[1] पडल-विद्धंसणस्स" कहा जाता है ।

साधना क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए श्रुतज्ञान दीपक का कार्य करता है। दीपक जिसके हाथ में हो, वह मुसाफिर घोर अंधेरी रात्रि में भी गन्तव्य पर पहुँच सकता है। उसी प्रकार शास्त्ररूपी दीपक जिसके हाथ में हो, वैसा साधक खुद अज्ञानी होने पर भी शास्त्र के सहारे मोक्षमार्ग को पा सकता है ।

---

1. १. **'तम'** अर्थात् अज्ञान और **'तिमिर'** अर्थात् अंधकार । **'तम-तिमिर'** अर्थात् अज्ञानरूप अंधकार। ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण जो पदार्थ जैसा हो वैसा लगता नहीं है । ऐसे प्रकार के बोध का अभाव, वही जीव के लिए अज्ञानरूप अंधकार है ।

   २. **'तम'** अर्थात् अंधकार और **'तिमिर'** अर्थात् गहरा अंधकार । गुरु आदि के उपदेश से या शास्त्राभ्यास से जो अज्ञान सरलता से नाश हो उसे **'तम'** कहा जाता है और विशेष प्रयत्न से जो अज्ञान नाश हो उसे **'तिमिर'** कहते हैं ।

   ३. **'तम'** अर्थात् बद्ध, स्पृष्ट और निधत्तरूप ज्ञानावरणीय कर्म और **'तिमिर'** अर्थात् निकाचित ज्ञानावरणीय कर्म । बद्ध, स्पृष्ट और निधत्त प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का आत्मा के साथ संबंध **'तम'** है और निकाचित कोटि के ज्ञानावरणीय कर्म का आत्मा के साथ संबंध **'तिमिर'** है। श्रुतज्ञान इन तीनों प्रकार के **'तम-तिमिर'** का नाश करता है ।

जैसे-जैसे साधक सम्यक् प्रकार से श्रुत का अध्ययन करता है, शास्त्र के एक-एक शब्द का गहन चिंतन, मनन करता है, उससे प्राप्त हुए भावों से आत्मा को भावित करता है, वैसे-वैसे आत्मा के ऊपर से अज्ञान के आवरण हटते जाते हैं और सम्यग् ज्ञान का प्रकाश होता है। इस प्रकाश में साधक जीव-अजीव आदि तत्त्वों को सम्यक् प्रकार से जान सकता है ।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होते ही साधक की भौतिक सुख की इच्छाएँ मंद होती हैं और आत्मिक सुख प्राप्त करने की इच्छा तीव्र-तीव्रतर होती जाती है। कषायों की मात्रा घटती जाती है और उपशम भाव का आनंद बढ़ता जाता है। अज्ञान के साथ जुडी हुई ईर्ष्या, असंतोष, असहिष्णुता आदि नकारात्मक वृत्तियाँ विलीन होती जाती हैं तथा संतोष, सहिष्णुता वगैरह सुखद सद्गुण प्रकट होते हैं ।

**जिज्ञासा :** यदि श्रुतज्ञान अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करता है, तो शास्त्र में पूर्वधर महापुरुष भी दुर्गति में गए ऐसे उदाहरण कैसे सुनाई देते हैं?

पूर्वधर महापुरुष दुर्गति में गए, इसमें श्रुतज्ञान कारण नहीं है, परन्तु शास्त्राभ्यास के पूर्व बांधे हुए अशुभ कर्म के अनुबंध हैं; क्योंकि चौदह पूर्व के अभ्यासी महात्मा - नियमतः सम्यग्दृष्टी और छट्ठे-सातवें गुणस्थानक वाले होते हैं, परम विवेकसंपन्न होते है । इसके बावजूद भी जब पूर्वकृत अशुभ कर्मो के अनुबंध[2] उदय में आते हैं, तब खराब निमित्तों से उनका पतन होता है, वे प्रमाद के वश होते हैं, स्वाध्याय का रस मंद होता है।

2. एतस्य अशुभानुबन्धस्य प्रभावेण अप्रतिहतशक्तित्वेन बहवः अनन्त संसारिणः प्राप्त-दर्शनाश्चतुर्दशपूर्वधरादयोऽपि इति दृश्यम्, श्रूयते हि प्राप्तदर्शनादीनामपि प्रतिपतितानां पुनस्तद् गुणलाभ व्यवधानेऽनन्तः कालः समये । तदुक्तं -

कालमणंतं च सुए अध्धापरिअट्टओअदेसूणो । आसायण बहुलाणं, उक्कोसं अन्तरं होइ ।।त्ति।।

स चाशुभानुबन्धमाहात्म्यं विना नोपपद्यते, न ह्यवश्यं वेद्यमशुभानुबन्धमन्तरेण प्रकृतगुणभंगे पुन-र्लब्धौ कियत्कालव्यवधाने कश्चिदन्यहेतुरस्ति ग्रन्थिभेदात् प्रागट्य सकृदनन्तसंसारार्जनेऽस्यैव हेतुत्वात्

गंठिओ आरओ वि हु असइबन्धो ण अन्नहा होइ ताए सो वि हु एवं णेओ असुहाणुबंधो ।।

(उपदेश रहस्य गाथा-६२ टीका)

रसगारव, ऋद्धिगारव या शातागारव के अधीन होकर प्राप्त हुए सद्गुणों को गँवा देते हैं । फिर भी श्रुतज्ञान से पड़े हुए शुभ संस्कार नष्ट नहीं होते, समय आने पर वे श्रुतज्ञान के संस्कार उन्हें पतन की खाई से पुनः उत्थान की दिशा में आगे बढ़ाकर परमानंद तक पहुँचाते हैं, इसलिए श्रुतज्ञान निरर्थक नहीं है, सार्थक ही है ।

श्रुतज्ञान का विचार करते हुए यह भी ध्यान में रखें कि, श्रुतज्ञान मात्र बोले जानेवाले या लिखे हुए शब्द स्वरूप नहीं है, बल्कि शब्द के सहारे आत्मा में जो मोहनीय कर्म के क्षयोपशम सहकृत जो श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है कि जिसके सहारे पदार्थ का यथार्थ बोध होता है, हेय-उपादेय का विवेक प्रकट होता है, वह क्षयोपशम स्वरूप श्रुतज्ञान है।

जब जीव चरमावर्त काल में आता है और उसके रागादि भावमल अल्प होते हैं, तब ऐसा श्रुतज्ञान प्रकट होता है। जो जीव चरमावर्त में न आए हो, जिनके रागादि भावमल दूर न हुए हो, वैसे जीव किसी निमित्त को पाकर शास्त्राभ्यास करें, तो भी उन्हें शास्त्रज्ञान यथार्थ बोध करवाकर हेय-उपादेय का विवेक नहीं करवा सकता। इसमें श्रुतज्ञान का दोष नहीं है, बल्कि जीव की योग्यता की कमी है। ऐसे जीव कभी श्रुतज्ञान पाकर दुर्गति में जाए, तो उसमें कारण श्रुतज्ञान नहीं, उनकी अयोग्यता ही कारण है । श्रुतज्ञान के तो दो-चार शब्द भी अगर कान में पड़ें और उसके ऊपर चिंतन-मनन शुरू हो, तो आत्मा उसके परमार्थ को पाकर निहाल हो जाती है।

जब महापापी चिलातीपुत्र की योग्यता खिली और भाग्योदय से सद्गुरु का संयोग हुआ, तब उनकी योग्यता देखकर गुरु ने उनको मात्र श्रुतज्ञान के तीन शब्द **'उपशम-विवेक-संवर'** सुनाए । चिलातीपुत्र ने इन तीन शब्दों के ऊपर चिंतन शुरू किया । इन शब्दों का चिंतन करते-करते उनके अज्ञान के पटल नष्ट हो गए और अंतर में ज्ञान का प्रकाश फैला। ज्ञान के माध्यम से स्व-पर का विवेक जागृत हुआ। आत्मा से भिन्न शरीरादि पदार्थों के प्रति वे निःस्पृह बने, ध्यान का अनल प्रकट हुआ। इस ध्यान की अग्नि से

निकाचित-अनिकाचित सभी कर्मों का नाश करके चिलातीपुत्र अंत में केवलज्ञान तक पहुँच गए। यह पद बोलकर ऐसे अचिंत्य शक्तियुक्त श्रुतज्ञान को स्मृति में लाकर अहोभाव से हमें उसे नमस्कार करना चाहिए।

श्रुतज्ञान अज्ञान का नाश करता है, वह बताकर अब इस श्रुतज्ञान की पूजा किसने की यह बताते हैं -

**सुरगण-नरिंद-महियस्स -** देवों के समुदाय और राजाओं द्वारा पूजे गए (श्रुतज्ञान को मैं वंदन करता हूँ ।)

जिन्हें उच्च स्तर का भौतिक सुख प्राप्त हुआ है, महा ऋद्धि-समृद्धि के जो स्वामी हैं, बुद्धि में जो बृहस्पति तुल्य हैं, वैसे देव, देवेन्द्र तथा नवनिधान जिनके कदम-कदम पर चलते हैं, चौदह रत्न के जो मालिक हैं, छः खंड के जो विजेता हैं, ३२००० राजा जिनके चरण चूमते हैं, १ लाख और ९२ हजार का जिनका अंतःपुर (स्त्रियाँ) है, ऐसे चक्रवर्ती राजा भी श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञानी की अनेक प्रकार से पूजा-भक्ति करते हैं । वे समझते हैं कि विडंबना से भरे इस संसार का निस्तार श्रुतज्ञान के बिना संभव नहीं है । इसीलिए वे अपने भोगविलास और सुखों को छोड़कर, तीर्थंकर की देशना सुनने जाते हैं । एकाग्र चित्त से परमात्मा की देशना सुनते हैं । सुने गए वचनों पर ठीक से विचार करते हैं, उनके ऊपर चिंतन-मनन करते हैं। देवलोक में भी वे यथाशक्ति श्रुत का अध्ययन करते हैं और श्रुतधर महापुरुषों के संयम की सुरक्षा करते हैं, उनकी स्तवना करते हैं; गीत, नृत्य और सुगंधित द्रव्य से उनकी पूजा करते हैं। इस प्रकार श्रुतज्ञान की उपासना करने के कारण वे विशिष्ट भोगों में भी आसक्त नहीं होते, तीव्र राग से रंगते नहीं, जिसके कारण तीव्र कर्मबंध से वे मुक्त रह सकते हैं । ये सब प्रभाव सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान का है ।

**सीमाधरस्स वंदे-**सीमा-मर्यादा को धारण करनेवाले (श्रुतज्ञान को) मैं वंदन करता हूँ ।

श्रुतज्ञान जीवन को मर्यादित करता है जैसे-जैसे साधक आत्मा के जीवन में श्रुतज्ञान परिणत होता है, वैसे-वैसे उसका जीवन मर्यादित बनता जाता है । उसके भव की परंपरा सीमित होती है और कर्म का बंध भी मर्यादित होता जाता है ।

साधक जैसे-जैसे शास्त्रग्रंथों का श्रवण, पठन, चिंतन, मनन करते हैं, वैसे-वैसे उन्हें हिंसादि पापप्रवृत्ति के अपायों का ज्ञान होता है। उससे बंधते कर्म और कर्म के कटु फल का उन्हें ज्ञान होता है। उसके कारण उनमें पापभीरूता उत्पन्न होती है, उनकी स्वार्थवृत्ति शिथिल होती है, अन्य के सुख-दुःख के प्रति उनके अंतर में सहानुभूति जगती है । इसीलिए वे हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनाचारों से अपने आप को दूर रखकर आत्महितकर, दया, दान, तपादि में प्रवृत्त होते हैं। क्षमादि गुणों के विकास के लिए प्रयत्न करते हैं।

श्रुतज्ञान से परिणत हुए मुनियों का जीवन तो और भी मर्यादित होता है क्योंकि उनका मन समिति-गुप्तिमय होता है। वे अपने मन-वचन-काया के योग का अनावश्यक उपयोग नहीं करते और ज़रूरत पड़ने पर भी अपनी मर्यादा में रहकर ही प्रवृत्ति करते हैं । उससे वे किसी भी जीव को पीड़ा न हो, उस प्रकार नीचे देखकर चलते हैं, सभी के हित को ध्यान में रखकर हित-मित-पथ्य ऐसे सत्य वचन बोलते हैं, निर्दोष आहार की गवेषणा करते हैं, किसी भी चीज़ को लेते-रखते समय देखकर, प्रमार्जन करके ही लेते हैं और रखते हैं और संपूर्ण निर्जीव भूमि में ही अनुपयोगी चीजों का पारिष्ठापन-विसर्जन करते हैं। इस श्रुतज्ञान के कारण मुनियों का जीवन मर्यादित बनने से कर्मों के बंधन कटते हैं और भव की परंपरा भी घटती जाती है । इस तरह श्रुतज्ञान अमर्यादित संसार को मर्यादित करनेवाला है, इस श्रुतज्ञान को आदरपूर्वक किया गया यह नमस्कार मर्यादापूर्वक जीवन जीने में सहायक बनता है ।

**पप्फोडिय-मोहजालस्स-**जिसने मोह के जाल को तोड़ दिया है (ऐसे श्रुतज्ञान को मैं वंदन करता हूँ।)

अनादिकाल से मोह ने 'यह शरीर मैं हूँ और बाह्य सामग्री मेरी है ।' ऐसी मिथ्यामान्यतारुप जगत में एक बड़ी जाल बिछाई है । शिकारी जैसे जाल बिछाकर भोले हिरणों को फँसाते हैं, वैसे मोह बुद्धि में मिथ्या मान्यता, विपर्यास - भ्रम आदि रूप जाल को बिछाकर जगत् के जीवों को फँसाता है, दुःखी करता है। श्रुतज्ञान इस मोह के जाल को तोड़ डालता है ।

साधक जब गुरु आदि के विनयपूर्वक शास्त्राभ्यास करते हैं, शास्त्र में बताए मार्ग पर सम्यक् प्रकार से जीवादि तत्त्व की गवेषणा करते हैं और तत्त्व के रहस्य को प्राप्त करने के लिए अथक प्रयास करते हैं, तब उनके अंतर में परम विवेक प्रकट होता है । विवेकपूर्वक विशेष प्रकार का प्रयत्न करने से उनका भ्रम टूटता है। शरीर से मैं अलग हूँ, मुझे शरीर के साथ कुछ लेना-देना नहीं है, वह समझ में आता है। भव की सभी चेष्टाएँ कर्मकृत हैं, कर्मकृत विचित्रता मेरा स्वरूप नहीं है। कर्म के कारण प्राप्त ये सभी अवस्थाएँ तो मात्र रंगभूमि पर चलते नाटक का अभिनय रूप हैं। जैसे नाटक के मंच के ऊपर राजा या रंक, सेठ या साहुकार मात्र नाटक के काल तक हैं । उसी प्रकार कर्म है, तब तक यह मेरी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। परन्तु वास्तव में यह मेरा स्वरूप नहीं है । मैं तो इससे भिन्न अनंतज्ञानादि स्वरूप वाली आत्मा हूँ । कर्मजनित सभी पर्यायमुझ से भिन्न हैं। ऐसा मानने के कारण उसे कभी भी ममत्व नहीं होता। यह मेरा है, वैसा भ्रम नहीं होता । परिणामतः वह उसमें लिप्त नहीं होता। किसी भी बाह्य भाव में उसे आसक्ति नहीं होती, उसका मन सतत अंतरभाव को, आत्मभाव को चाहता है । उसको प्राप्त करने के लिए मेहनत करता है। बाह्य भाव में अनासक्ति और आत्मिकभाव को प्राप्त करने की चाहना, वही दर्शन मोहनीय कर्म द्वारा बिछाए हुए भ्रम या बुद्धि में विपर्यासरूप जाल का नाश है ।

मेरे और पराए का भ्रम टूटने से सत्त्वशाली पुरुष संयम के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं । संयम और तप की साधना करते हुए विशिष्ट प्रकार के शास्त्र का अध्ययन करते हैं । शास्त्रयोग द्वारा सामार्थ्ययोग[3] को प्राप्त कर उसके द्वारा चारित्र मोहनीय कर्म को जड से इस तरह खत्म कर देते हैं कि पुनः कभी भी उसकी प्राप्ति न हो । यहीं मोह का प्रस्फोटन है । पुनः बंध में या सत्ता में कभी न आ सके, उस तरह मोह का नाश मोहनीय जाल का प्रस्फोटन कहलाता है ।

**जिज्ञासा :** श्रुतज्ञान मोह स्फोटन करता है, वैसे न कहकर मोह का प्रस्फोटन करता है वैसा क्यों कहा ?

**तृप्ति :** मोह को कुछ समय तक उदय में न आने देना, एक अपेक्षा से मोह का स्फोटन है और समूल मोह का नाश करना, वह प्रस्फोटन है।

बहु कर्मी साधक कई बार संयम जीवन स्वीकार कर शब्द रूप शास्त्र का अध्ययन करते हैं । उसके कारण वे जब ऐसा जानते है कि, 'कषाय करने से दुर्गति मिलती है और दुर्गति में दुःख सहन करना पड़ेगा,' तब दुःख के डर से और सुख की इच्छा से वे भी जीवनकाल के दौरान कहीं कषाय न हो, उसका ध्यान रखते हैं, तब प्रथम नज़र से मोह कम हुआ वैसा लगता है। इस तरह मोह का हल्का होना अपेक्षा से मोह का स्फोटन कहलाता है। जब योग्य साधक किसी भी प्रकार की आशंसा के बिना गुरू आदि के विनयपूर्वक श्रुत का अध्ययन करता है, तब वह श्रुतज्ञान द्वारा पदार्थ की वास्तविकता को जान सकता है। इससे वह जड़ पदार्थों से विरक्त बनता है । वैराग्यपूर्वक त्याग के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए उसे अनुभव ज्ञान[4] की प्राप्ति होती है । अनुभव ज्ञान द्वारा वह मोहनीय कर्म को मूल से नाश करता है, तब श्रुतज्ञान से मोह का प्रस्फोटन हुआ ऐसा कहलाता है।

---

3 सामर्थ्ययोग की विशेष समझ के लिए "नमोत्थुणं सूत्र" की फुटनोट नं. १ देखें ।

4 अनुभव ज्ञान-कषाय जब शांत पड़ते हैं, उपशम भाव की प्राप्ति होती है, तब आत्मा की कुछ झलक दिखती है । आत्मा अपने स्वभाव का कुछ अनुभव कर सकती है । उसे अनुभव ज्ञान कहते हैं ।

शास्त्र के अध्ययन के बिना संसारी जीव तो बेचारे मोह की जाल को देख भी नहीं सकते, तो भेदने की तो बात ही कहाँ ? जब कि शास्त्रवेत्ता पुरुष इस जाल को अच्छी तरह देखते हैं, जानते हैं और सत्त्व पूर्वक उसका नाश भी कर सकते हैं । विषम कोटि की इस जाल को भेदने का सामर्थ्य जिससे प्रगट होता है, उस श्रुतज्ञान को हृदय के सद्भावपूर्वक इस पद द्वारा हमें प्रणाम करना है ।

**जिज्ञासा :** श्रुतज्ञान का कार्य तो बोध करवाने का है, तो श्रुतज्ञान से मोह का नाश कैसे होता है ?

**तृप्ति :** बात सच है। श्रुतज्ञान का साक्षात् कार्य तो पदार्थ का सम्यग् बोध करवाने का है । सम्यग् प्रकार से हुआ पदार्थ का बोध ही मोह उत्पन्न नहीं होने देता । जड़ पदार्थों में जो आसक्ति होती है और रागादि कषाय जो मीठे लगते हैं, उसका कारण सच्ची समझ का अभाव है । श्रुतज्ञान वस्तुस्थिति का सच्चा ज्ञान देता है । उससे ही श्रुतज्ञान का अभ्यासी जड़ पदार्थ में कभी लिप्त नहीं होता और आत्मा के गुणों में याने स्वभाव में प्रवृत्ति किए बिना नहीं रहता । श्रुत के सहारे स्वभाव में होनेवाली प्रवृत्ति और विभाव से होनेवाली निवृत्ति ही मोह का नाश करती है ।

हेय-उपादेय वस्तु का बोध करवाना, यह श्रुतज्ञान का प्रथम कार्य है, बोध के अनुसार जीवन को मर्यादित करना, यह श्रुतज्ञान का दूसरा कार्य है। मर्यादित जीवन द्वारा मोह का नाश करना, यह श्रुतज्ञान का तीसरा कार्य है और अमोही होकर जन्म, जरा और मरण के कारणभूत कर्म का नाश करना, यह श्रुतज्ञान का चौथा कार्य है ।

यह गाथा बोलते समय सोचना चाहिए

*'राजा, महाराजा और देव भी जिसकी पूजा करते हैं, वह श्रुतज्ञान ही मेरे अंतर में रहे अंधकार को दूर कर, मोह की जाल में फँसी हुई मेरी आत्मा को मुक्त करके मेरे भवोभव के भ्रम का नाश*

*करके मुझे सुखी बनाएँगा । धन्य है यह 'श्रुतज्ञान' । मैं उसे वंदन करता हूँ और उसकी उपासना करने के लिए कटिबद्ध बनता हूँ ।'*

अब श्रुतज्ञान का अंतिम कार्य इस पद द्वारा बताते हैं -

**जाइ-जरा-मरण-सोग-पणासणस्स** - जन्म, वृद्धावस्था मरण और शोक का नाश करनेवाले । (श्रुतज्ञान को में वंदन करता हूँ ।)

इस संसार में सभी प्राणियों का जन्म और मृत्यु निश्चित है और जन्म और मृत्यु के बीच रोग, शोक, वृद्धावस्था आदि भी सम्भवित है । किसी भी उपाय से जीव इस जन्म, मरण, रोग या शोक की चंगुल से नहीं बच सकता। इन पीड़ाओं से मुक्त होने का एकमात्र मार्ग है श्रुतज्ञान ।

जैसे-जैसे साधक श्रुत का अध्ययन करता है, वैसे-वैसे उसे सम्यग् ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है । इस ज्ञान के प्रकाश में वह मोह को पहचानने लगता है, तथा सतत प्राप्त होनेवाली जन्म की पीड़ा, मृत्यु के समय का डर और जन्म-मृत्यु के बीच आनेवाले रोग, शोक आदि की पीड़ा को समझ सकता है, देख सकता है और सभी पीड़ाओं का कारण आत्मा का कर्म के साथ संबंध है, वह स्पष्टता से जान सकता है। आगमों के भावों को बारबार सोचने से उसे यह भी समझ में आता है कि, आत्मा, मन, वचन, काया के योग के कारण ही कर्म के साथ संबंधित[5] होती है । ऐसा ज्ञान होने के बाद साधक मन, वचन, काया के व्यापार के गोपन रूप गुप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता है और बाह्य भाव में प्रवृत्त होनेवाले योगों को रोककर उन्हें आत्मभाव में लीन करता है । अंत में सूक्ष्म प्रकार से सक्रिय मन, वचन काया के योगों का निरोधकर सर्व संवरभाव के सामायिक द्वारा

---

5 कर्मबंध के मुख्य चार हेतु हैं । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय एवं योग, परन्तु इन चार हेतुओं का सूक्ष्मता से मन-वचन-काया रूप तीन योग में समावेश हो जाता है और चारों में से योग ही अंत तक रहता है । सबसे अंतिम योगनिरोध होने पर कर्मास्रव संपूर्ण बंद होते हैं। इसलिए योग को मुख्य रूप से कर्मबंध का कारण कहा गया है ।

शैलेशीकरण करके अर्थात् आत्म-प्रदेश का हलन-चलन (कंपन) बंदकर, सभी कर्मों का क्षय कर आत्मा के अनंत आनंद को प्राप्त करता है ।

श्रुत के अध्ययन के बिना जन्मादि की पीड़ा का और उसके कारणों का ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना कोई भी जीव उसके नाश के लिए यत्न नहीं कर सकता । इन सब शुभ प्रयत्नों का मूल श्रुतज्ञान ही है, इसलिए श्रुतज्ञान ही जन्म, मरण, शोक आदि पीड़ा का नाशक कहलाता है । ऐसे श्रुतज्ञान को इस पद द्वारा नमस्कार करना है ।

श्रुतज्ञान जन्म, जरा, मरण का नाश करता है, वह बताया। अब वह किस प्रकार का सुख देता है, यह बताते हैं -

**कल्लाण-पुक्खल-विसाल-सुहावहस्स** - कल्याणरूप (आरोग्य स्वरूप) ऐसे पुष्कल और विशाल सुख को देनेवाले।

कल्य अर्थात् आरोग्य। श्रुतज्ञान संपूर्ण और विशाल ऐसे आरोग्य रूप सुख को प्राप्त करवाता है।

चिकित्सक शरीर के रोग का निदान करके आरोग्यप्रद औषध के आसेवन की रीति बताते हैं । इस औषध का आसेवन करके जीव जैसे शरीर के रोग से मुक्त बनकर आरोग्य के सुख का अनुभव कर सकते हैं, उसी प्रकार श्रुतज्ञान सबसे पहले आत्मा को लागू पड़े हुए अज्ञान, मोह, राग, द्वेष, कर्म वगैरह अनंत रोगों का आभास करवाता हैं। उसके बाद उन-उन रोगो को उन्मूलित करनेवाले औषध तुल्य शुभानुष्ठान, शुभभावनाएँ, शुभध्यान, क्षपकश्रेणी, योगनिरोध आदि अनेक मार्ग बताता है ।

श्रुतज्ञान द्वारा बताए गए औषध तुल्य शुभानुष्ठान से साधक अशुभ क्रिया के अभ्यास को तोड़ते हैं और शुभभाव से अशुभभाव के संस्कारों का नाश करते हैं। धर्मध्यान द्वारा आर्त्त और रौद्रध्यान से मलिन हुई आत्मा को निर्मल करते हैं। शुक्लध्यान के मार्ग पर आगे बढ़कर क्षपकश्रेणी पर आरूढ होते हैं। उससे अज्ञान और मोहरूपी रोग का मूल से उन्मूलन होता

है, तब आत्मा में अनंतज्ञान का प्रकाश होता है, अनंत वीर्य प्रकट होता है, अनंत चारित्र प्राप्त होता है । उसके बाद योगनिरोध आदि की प्रक्रिया द्वारा बाकी रहे कर्मों का विनाश करके, आत्मा अपने पूर्ण आनंद और आरोग्य को प्राप्त करती है। तब वह अपने स्वाभाविक सुखमय-आनंदमय स्वरूप की अनुभूति करती है । इस प्रकार श्रुतज्ञान पूर्ण और विशाल अर्थात् अनंत सुख को प्राप्त करवानेवाला है ।

सुवैद्य की बताई हुई औषधि से रोग चला ही जाएगा, ऐसा जरूरी नहीं है । पुण्य हो तो जाए भी और पुण्य न हो तो न भी जाए । बल्कि कभी कभार तो यह औषधि दूसरी पीड़ाएँ भी उत्पन्न करती है, जब कि श्रुतज्ञान रूपी औषधि से भावरोग जरूर नष्ट होते हैं । यदि कर्म भारी हो तो कभी रोगमुक्ति में विलंब भी होता है, परन्तु फल तो मिलता ही है। इसके अलावा इस औषधि की कोई प्रतिकूल-असर भी नहीं होती, इसलिए भाव आरोग्य के अर्थी को तो श्रुतज्ञान के बताए मार्ग पर आगे बढ़ना ही चाहिए।

**को देव-दानव-नरिंद-गणच्चियस्स धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ?** - देव, दानव और नरेन्द्रों के समूह भी जिसकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, उस श्रुतधर्म के सार को प्राप्त करके कौन प्रमाद करें ? (अर्थात् कोई भी न करें) ।

श्रुतज्ञान देवेन्द्रों, दानवेन्द्रों और नरेन्द्रों से पूजित है। विशिष्ट प्रज्ञावान पुरुष जिसे महान सुख का साधन मानते हैं, दुःखनाश का कारण मानकर पूजते हैं, वह श्रुतज्ञान कितना महान होगा । यह तो मात्र कल्पना का विषय है, ऐसे महान श्रुत के सार अर्थात् सामर्थ्य को जानकर कौन उसमें प्रमाद करेगा ? अर्थात् कोई नहीं करेगा।

श्रुतज्ञान का अनंतर सामर्थ्य अज्ञान को हटाने का, मोह को पहचानने का और कर्मस्थिति का आभास करवाने का है और परंपर सामर्थ्य संयममार्ग में प्रवृत्ति करवाने के द्वारा मोक्ष तक पहुँचाने का है । इसलिए ही

कहा जाता है - **'ज्ञानस्य फलं विरतिः'** श्रुतज्ञान की इस शक्ति को जानकर साधक निरंतर श्रुतज्ञान के लिए प्रयत्न करता है। श्रुतज्ञान द्वारा जितना जानने को मिलता है, उसके अनुरूप जीवन जीने के लिए मेहनत करता है। अपना एक क्षण भी श्रुत के उपयोग रहित प्रवृत्तिवाला न हो, उसके लिए सतत जागृत रहता है क्योंकि वह जानता है कि यह श्रुतनिर्दिष्ट चारित्र जीवन ही मेरी आत्मा का कल्याण करनेवाला है। इसीलिए श्रुत धर्म के सार को जाननेवाले मुनि तेलपात्रधर[6] के दृष्टांत से संयमयोग में हमेशा अप्रमत्त भाववाले रहते हैं ।

मुनि भगवंत अप्रमत्त भाव से श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की आराधना करते हैं। अप्रमत्तभाव अर्थात् प्रमाद के वश हुए बिना । 'प्रमाद' का सामान्य अर्थ है आलस, शैथिल्य, जड़ता वगैरह । शास्त्रीय पद्धति से सोचें तो मोक्षमार्ग पर चलने का अभाव या मोक्ष के उपायों के सेवन में शिथिलता । विषयों की आसक्ति, कषायों की परवशता, व्यसन, निद्रा और विकथाः ये पाँच प्रकार के प्रमाद साधक को मोक्षमार्ग में आगे नहीं बढने देते ।

सम्यग् प्रकार से श्रुतज्ञान प्राप्त करनेवाले साधक कभी इस प्रमाद के वश नहीं होते, उन्हें श्रुत द्वारा ऐसे विशिष्ट आनंद की अनुभूति होती है कि, विषय-कषाय में प्रवृत्ति जहर जैसी लगती है । इसलिए श्रुत की प्राप्ति और श्रुतानुसार प्रवृत्ति करने में वे एकाग्रता से रत रहते हैं । वहाँ से उनका

---

6 **तेलपात्रधर :** चोरी करने की वजह से मौत की सज़ा पानेवाले श्रेष्ठी पुत्र से राजा ने कहा, इस तेल से भरे पात्र को लेकर, समग्र नगर में घूमकर अगर एक भी बूँद को गिराए बिना लौटोंगे तो मैं तुम्हारी सज़ा माफ कर दूँगा ।

नगर में देखने योग्य, सुनने योग्य, खाने-पीने योग्य बहुत कुछ था । इसके बावजूद मौत के भय से मुक्त होने के लिए इस युवान ने अपने चंचल मन को तेल पात्र में स्थिर किया । मन-वचन-काया को एकाग्र करके स्थिरतापूर्वक एक बूँद भी नीचे न गिरे, उस प्रकार से वह युवान समग्र नगर में घूमकर शाम को राजमंदिर वापस लौटा । उसकी मौत की सज़ा माफ हो गई । एक ही मरण के भय से युवान जिस प्रकार मन-वचन-काया को स्थिर किया, उसी प्रकार अनंत मरण का भय जिसकी आँख के समक्ष है, वैसा मुनि संपूर्ण जीवन संयम के सभी योगों में मन को स्थिर रख सकता है। इस प्रकार मुनि तेलपात्रधर के जैसे अप्रमत्तभाव वाले होते हैं ।

चित्त अन्य प्रवृत्ति में नहीं जाता और श्रुत में प्रवृत्ति करने में उन्हें खेद भी नहीं होता ।

यहाँ यह भी याद रखना जरूरी है कि, जो श्रुताध्ययन विरति के मार्ग पर आगे न बढ़ाए, संवेग और निर्वेद की वृद्धि द्वारा संयममार्ग में स्थिर न करे, वह कथित श्रुताध्ययन भी सप्रमाद है । अतः चारित्र में दृढ़ता लाने या संयम के परिणाम को बनाने के उद्देश्य से रहित जो निरंतर शास्त्र में श्रम करते हैं, शास्त्र को कंठस्थ करने के लिए कंठ सुखा देते हैं, शास्त्र को समझने के लिए बुद्धि का तीव्र उपयोग करते हैं, लेकिन वह ज्ञान पढ़कर चारित्र मार्ग में दृढ़ उपयोग वाले नहीं होते । समिति-गुप्ति के परिणाम में स्थैर्य प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते । मात्र बाह्य से ही क्रियाएँ करते हैं; उस क्रिया से भाव प्रकट करना उनका उद्देश्य नहीं होता **उनको शास्त्रकारों ने श्रुत पढ़ने के बावजूद और क्रिया करने के बावजूद भी प्रमादी ही कहा है।** अतः अप्रमत्त भाव लाने के लिए खूब सजग रहने की ज़रूरत है । शास्त्रों को पढ़कर चारित्र की क्रियाएँ संमूर्च्छिम की तरह नहीं करनी चाहिए; परन्तु शास्त्र के एक-एक शब्द किस भाव को बतानेवाले हैं ? वह भाव मुझमें आया या नहीं ? उन भावों को लाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ? यह सब सोचकर शास्त्रानुसार क्रिया करनी चाहिए। ऐसी अप्रमत्त भाव की क्रिया शास्त्राभ्यासपूर्वक हो, तो ही ज्ञान का फल विरति और विरति का फल मोक्ष मिल सकता है, अन्यथा नहीं ।

यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए

*"श्रुतज्ञान की शक्ति अचिंत्य है । चिंतामणि रत्न या कल्पवृक्ष भी जो कार्य नहीं कर सकते, वह कार्य श्रुतज्ञान करता है । श्रुतज्ञान मेरे अज्ञानादि दोषों को निकालने के लिए, जन्मो जन्म के दुःखों को दूर करने के लिए और मुझे मोक्ष तक पहुँचाने के लिए समर्थ है । मेरा सद्भाग्य है कि देव-देवेन्द्र भी जिसकी भक्ति करते हैं, उस श्रुतज्ञान को बुद्धि द्वारा स्पर्श करने का अवसर मुझे मिला*

*है । अब संयोग और शक्ति के अनुसार इस श्रुतज्ञान की आराधना कर लूँ, उसको समझने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करूँ। श्रुतज्ञान को वंदन करके ऐसी अभिलाषा व्यक्त करता हूँ कि मेरा एक-एक आत्मप्रदेश श्रुतज्ञान से रंजित हो जाए और मेरा जीवन उसके अनुसार प्रवर्ते ।"*

'बुद्धिमान आत्मा श्रुतज्ञान में प्रमाद न करे' - ऐसा बताकर, अब ऐसे श्रुतज्ञान के विषय में खुद भी क्या करते हैं, यह बताते हैं...

**सिद्धे भो ! पयओ णमो जिणमए -** हे परमर्षियों ! आप देखें, सिद्ध जिनमत में प्रयत्न करनेवाला मैं (जिनमत को) नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ 'भो' शब्द द्वारा श्रुतधर परम-महर्षियों को आमंत्रण देकर, उनकी साक्षी में साधक कहता है कि मैं श्रुत के सामर्थ्य को जानता हूँ, इसलिए सिद्ध जिनमत में दृढ़ प्रयत्न करता हूँ ।

**सिद्धे (जिणमए) -** जिनमत स्वरूप श्रुत ज्ञान सिद्ध है । 'सिद्ध' शब्द के तीन अर्थ होते हैं ।

(१) सिद्ध अर्थात् अवश्य फल देने वाले । जिनमत में बताये मार्ग पर चलने से मोक्ष रूपी फल अवश्य मिलता है, इसलिए उसे सिद्ध कहते हैं ।

(२) सिद्ध अर्थात् प्रतिष्ठित - सभी में रहा हुआ। आत्मादि सभी पदार्थ अनंत धर्मात्मक हैं । अनंत धर्मात्मक वस्तु को किसी एक धर्म से देखने से उसका यथार्थ ज्ञान हो नहीं सकता, इसलिए जो कोई एक धर्म को आगे करके आत्मादि पदार्थों को देखता है, उसका ज्ञान अधूरा है। जैनमत सर्वनय से पदार्थ को देखनेवाला होने से पूर्ण है और सर्वनय से व्याप्त होने से सब मतों का समावेश जैनमत में हो जाता है। इसीलिए प.पू.उपाध्यायजी म.सा.ने एक स्तवन में गाया है -

*'सर्व दर्शन तणु मूल तुझ शासनम् तेणे ते एक सुविवेक सुणिये ।'*

इस तरह जिनमत सर्व मत में रहा हुआ है, इससे उसे सिद्ध कहना योग्य है।

(३) सिद्ध अर्थात् प्रख्यात।[7] कष, छेद और ताप परीक्षा से शुद्ध सुवर्ण जैसे सुवर्ण रूप में प्रसिद्ध होता है, वैसे कषादि तीन परीक्षा से शुद्ध शास्त्र जगत् में प्रख्याति को प्राप्त करता है। अन्य मत के सिद्धांत तीन परीक्षाओं में उत्तीर्ण नहीं होते । इस लिए वे जैनमत की जैसी प्रख्याति को प्राप्त नहीं कर सकते।

जैनमत (जैन सिद्धांत) मोक्ष के सुख को अवश्य देता है। सभी स्थान में व्याप्त है और सभी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त है, इसीलिए वह सिद्ध है, ऐसे सिद्ध जिनमत में मैं प्रयत्न वाला हूँ।

**भो !** यह 'भो' शब्द विशिष्ट श्रुतधर के आमंत्रण के लिए है । उसका अर्थ यह है कि, हे परमर्षियों ! आप देखें, मैं सिद्ध जिनमत को दृढ़ पालनेवाला बना हूँ ।

**पयओ -** मैं श्रुत में प्रयत्नवाला बना हूँ क्योंकि मैं समझता हूँ कि संसार का निस्तार और मोक्ष की प्राप्ति मुझे इस श्रुत से ही होनेवाली है, इसलिए मैं शास्त्र का सतत अध्ययन करता हूँ । उसका भाव समझने के लिए बुद्धि का पूर्ण उपयोग करता हूँ । जो-जो भाव मैं समझता हूँ, उन भावों के अनुसार मेरे मन-वचन-काया को सक्रिय करता हूँ ।

अतिशय ज्ञानी पुरुषों को नज़र के समक्ष रखकर इस प्रकार बोलने से पुनः पुनः याद आता है कि श्रुतधर महापुरुषों के समक्ष मैंने यह संकल्प किया है । इसलिए मुझे श्रुतज्ञान में क्षण मात्र भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार बोलने से गुणवान व्यक्ति को मैं परतंत्र हूँ, उनकी आज्ञा और इच्छानुसार मुझे जीवन जीना है, वैसा भाव भी ज्वलंत रहता है ।

**णमो जिणमए** : मैं जिनमत[8] को नमस्कार करता हूँ ।

---

7 कष-छेद-ताप परीक्षा की जानकारी 'धम्म-वर-चाउरन्तचक्कवट्टीणं' पद में पाना नं. १३२ पर है।

8 **जिणमए :** यहाँ सप्तमी विभक्ति है, वह चतुर्थी अर्थवाली है । इसलिए जिनमत को नमस्कार करता हूँ, ऐसा अर्थ बताया गया है ।

सिद्ध ऐसे जिनमत में प्रयत्नवाला मैं जिनमत को नमस्कार करता हूँ अर्थात् जिनमत के प्रति अत्यंत आदर और बहुमान के परिणाम को व्यक्त करने के लिए दो हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर द्रव्य से नमस्कार की क्रिया करता हूँ और शास्त्र के एक-एक शब्द के जो भाव हैं, उन भावों के अनुरूप मेरी आत्मा को बनाने के प्रयत्न रूप भाव नमस्कार करता हूँ । श्रुत के प्रति प्रबल भक्ति ही पुनः पुनः साधुक को नमस्कार करवाती है और जिनमतानुसार जीवन जीने की तीव्र भावना की वृद्धि करती है ।

यह पद बोलते वक्त विशिष्ट कोटि के श्रुतज्ञान तथा श्रुतज्ञान के सार को प्राप्त श्रुतधर महापुरुष को स्मृति में रखकर, श्रुत के लिए यत्नशील ऐसा मैं अत्यंत आदर पूर्वक ऐसे विशिष्ट श्रुतज्ञान को नमस्कार करता हूँ, वैसा भाव साधक को प्रकट होना चाहिए। तो ही यह पद बोलते हुए श्रुत के अवरोधक कर्म की निर्जरा हो सकती है ।

अब जिस जिनमत को नमस्कार किया, वह जिनमत कैसा है, वह बताते हुए कहते हैं

**नंदी सया संजमे -** (जिनमत के कारण) संयमधर्म में सदा वृद्धि (होती) है।

चारित्र धर्म की वृद्धि करना, श्रुत ज्ञान का महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसीलिए योग्यात्माएँ शास्त्र का अध्ययन करके, वैराग्य को प्राप्त करके संयम जीवन को स्वीकार करती हैं । संयम स्वीकार करके समिति, गुप्तिवाले मुनि भगवंत आगम ग्रंथों का जैसे-जैसे अध्ययन करते हैं, वैसे-वैसे उनकी संयम विषयक प्रज्ञा विशद होती जाती है। उससे संयम के, समिति, गुप्ति के सूक्ष्म-सूक्ष्म भाव उनको दिखाई देते हैं और उन भावों के अनुरूप वे समिति-गुप्ति का उत्तरोत्तर विशिष्ट पालन करते हैं। जो संवर भाव को प्रकट करवाकर, कर्म की निर्जरा करवाकर अंत में मोक्ष तक पहुँचाने में कारण बन सकता है। इसीलिए श्रुतधर्म को चारित्र धर्म की वृद्धि का कारण कहा गया है ।

जिस श्रुत के कारण संयम का परिणाम वृद्धिमान होता है, वह संयम कैसा है वह बताते हुए कहते हैं -

**देवं-नाग-सुवन्न-किन्नर-गण-स्सब्भूअ-भावच्चिए** - वैमानिक देव, नागकुमार, सुवर्णकुमार, भवनपति देव (तथा) किन्नर देवों के समूह द्वारा श्रुतज्ञान शुद्धभाव से पूजा गया है ।

संयम ही सुख का कारण है, संयम ही उपादेय है, ऐसी श्रद्धा होने के कारण ही चारों निकाय के देव उपचार से नहीं, परन्तु हृदय के सच्चे भाव से संयम को पूजते हैं, संयमी आत्मा की विविध प्रकार से भक्ति करते हैं, अनेक प्रकार से उनके संयम में सहायक बनते हैं।

महान शक्तिवाले इन्द्र या अविकारी ऐसे अनुत्तरवासी देव भी सतत संयम को चाहते हैं । तो भी वे चौथे गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते । इसलिए वे संयमी आत्मा के प्रति अत्यंत आदरवाले होते हैं और अपने चारित्र-मोहनीय कर्म को क्षय करने के लिए सदा उनकी भक्ति में रत रहते हैं ।

**लोगो-जत्थ पइट्ठिओ** - जिसमें (जिस जिनमत में) ज्ञान प्रतिष्ठित है।

लोक शब्द का अर्थ ज्ञान[9] होता है अर्थात् जो आत्मकल्याण कर सके, वैसा सभी प्रकार का ज्ञान इस जैनमत में रहा हुआ है[10] । जैन सिद्धांतों की रचना ही इस प्रकार हुई है कि उसका अध्ययन करनेवाली आत्मा को सभी विषय का ज्ञान होता है । कोई विषय ऐसा नहीं है कि, जो जैन सिद्धांत पढ़नेवाली आत्मा को पता न हो, फिर भले ज्योतिष ग्रंथ हो या संगीत शास्त्र हो, शिल्पशास्त्र हो या वास्तुशास्त्र हो। सभी विषय संबंधी ज्ञान जैन सिद्धांत में प्राप्त होता है तथा जैनशासन की यह विशिष्टता है कि, वह इन सब ज्ञान को आत्म हितकर बना सकता है ।

---

9 **'लोकनं लोकः ज्ञानमेव'** लोक=ज्ञान

10 स्वनिरुपितजनकतासंबंध से वचन रूपी जिनमत में ज्ञान प्रतिष्ठित है = रहा हुआ है । जिनमत = जनक और ज्ञान = जन्य ।

ज्ञान जैनमत में निहित है, ऐसा कहने का कारण यह है कि, यह सिद्धांत ज्ञान का कारण बनता है। जैसे ज्योतिष, संगीत आदि का ज्ञान जिन पुस्तकों के माध्यम से मिलता है, उन पुस्तकों में उन विषयों का ज्ञान है वैसा कहा जाता है । वैसे ही सभी विषयों का ज्ञान जैनशास्त्र में होने से ज्ञान मात्र इस शास्त्र में रहा है, वैसा कहा जाता है अर्थात् जैनशास्त्रों (द्वादशांगी) में दुनियां के किसी भी विषय का ज्ञान बाकी नहीं है ।

**जगमिणं तेलुक्क-मच्चासुरं (जत्थ पइट्ठिओ)** - मर्त्यलोक = मनुष्यलोक, सुरलोक और असुरलोक ये तीनों लोकस्वरूप यह जगत्[11] श्रुतज्ञान में ज्ञेय की तौर से प्रतिष्ठित हैं ।

श्रुतज्ञान तीन लोक स्वरूप जगत् का बोध करवाता है। इसलिए ऐसा कह सकते हैं कि पूरा विश्व ज्ञेय के रूप में श्रुतज्ञान में ही रहा हुआ[12] है ।

कितने लोग सिर्फ़ मनुष्यलोक को ही जगत् के रूप में स्वीकार करते हैं। परन्तु यह गलत है । यह विश्व तीन लोक से बना है, मनुष्यलोक, सुरलोक और असुरलोक ।

श्रुतज्ञान से ऊर्ध्व-अधो और तिरछालोक स्वरूप सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त होता है । यह विश्व कैसा है ? उसकी व्यवस्था कैसी है ? उसमें कौन-कौन से पदार्थों का समावेश हैं ? वे पदार्थ कैसे हैं ? वे कब से हैं ? कब तक रहनेवाले हैं, वगैरह सभी बातों का ज्ञान होता है, इसीलिए समस्त विश्व श्रुतज्ञान में समाया हुआ है, ऐसा कहा जाता है ।

अब ऐसे उत्तम श्रुतधर्म की वृद्धि की आशंसा से कहते हैं -

---

11 यहाँ मर्त्यलोक से तिरछालोक - मनुष्यलोक लेना है और असुरलोक से भवनपति के आवास जहाँ हैं वह अधोलोक लेना है और सुरलोक स्वरूप ऊर्ध्वलोक अध्याहार से ग्रहण करना है।

12 ज्ञेय की तौर से पूरा जगत् जिनमत में प्रतिष्ठित है = रहता है । जिनमत = ज्ञान और जगत् = विषय, ज्ञेय ।

**धम्मो वड्ढउ सासओ[13] विजयओ -** (ईतरवादियों को) जीतने के द्वारा श्रुतधर्म हमेशा वृद्धि को प्राप्त करें ।

"महान प्रभावशाली श्रुतधर्म केवलज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक सदा के लिए वृद्धि को प्राप्त करें ! याने मेरा ज्ञान सदाकाल बढ़ता रहे, उसके लिए श्रुत विषयक वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षादि करते हुए श्रुत निर्दिष्ट भावों को सूक्ष्मता से देखने की मुझे शक्ति मिलें ! उन-उन भावों का गहनता से अध्ययन करने का सामर्थ्य मिलें ।" ऐसी प्रार्थना द्वारा जब जीव को श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है, तब उसे मोक्षमार्ग पर किस प्रकार चलना चाहिए, उसके लिए कैसा प्रयत्न करना चाहिए, वह सब अधिक स्पष्ट स्पष्टतर होता है और आगे बढ़ते हुए जीव क्षपकश्रेणी पाकर केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है ।

सूत्र के अंत में साधक अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहता है,

"कुमत का पराभव करके, उनके ऊपर विजय प्राप्त करने के द्वारा मेरे हृदय में सदा श्रुतधर्म की वृद्धि हो ।" अनादिकाल से इस जगत् में अनेक कुमत अस्तित्व में है। ये कुमत अन्य सभी स्थानों में तो अपना साम्राज्य स्थापित करते ही हैं, परन्तु अपने चित्त पर भी अनादिकालीन कुवासनाओं के कारण इनका साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

कुमत से प्रभावित होने के कारण ही आत्मा शरीर से भिन्न होने पर भी खुद को भिन्न नहीं मानती। अनादिकालीन कुवासनाओं के कारण नाशवंत शरीरादि भी शाश्वत लगते हैं। कभी बुद्धि से नश्वरता का स्वीकार करें, तो भी प्रवृत्ति तो ऐसी ही करते हैं कि मानों शरीर शाश्वत काल टिकनेवाला हो ।

जीवन में जो प्रतिकूलताएँ आती हैं, वे अपने ही कर्मों के कारण आती हैं और अंदर रहे दोषों के कारण प्रतिकूलताएँ दुःखकारक लगती हैं। यह

13 यहाँ सासओ शब्द क्रियाविशेषण है ।

वास्तविकता होने के बावजूद कुमत के संस्कारों के कारण उसमें हमें अन्य के ही दोष दिखाई देते हैं, ऐसी परिस्थिति होने से श्रुतस्तवना के अंत में साधक प्रार्थना करता है,

"हे प्रभु ! कुमत के संस्कारों का नाश करते हुए मुझमें श्रुतधर्म की वृद्धि हों । जैसे-जैसे मैं शास्त्रों का अध्ययन करूँ, श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए स्वाध्यायादि करूँ, एक-एक पद पर गहरी अनुप्रेक्षा करूँ, वैसे-वैसे कुमत के संस्कार मंद होते जाए, मेरे अंतर से कुमत का साम्राज्य हटता जाए, इस प्रकार यदि श्रुतज्ञान की वृद्धि हो, तो ही सच्ची समझ प्राप्त होगी। सच्ची समझ द्वारा श्रद्धा तीव्र बनेगी और तीव्र श्रद्धा द्वारा मैं सम्यग्दर्शन आदि गुणों को प्राप्त कर सर्वविरति तक पहुँच सकूँगा ।

प्रभु ! इसलिए आज आप से प्रार्थना करता हूँ कि केवलज्ञान की प्राप्ति न हो, तब तक सदैव इस महाप्रभावशाली श्रुतज्ञान की मुझमें वृद्धि हो। हे प्रभु ! वाचनादि द्वारा प्राप्त होनेवाले श्रुतज्ञान से मुझे श्रुत के सूक्ष्म भावों को देखने की क्षमता प्राप्त हो ।"

इस तरह भावपूर्ण हृदय से प्रार्थना करने से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षपोपशम होता है और साधक श्रुतज्ञान द्वारा केवलज्ञान तक पहुँच सकता है।

**धम्मुत्तरं वड्ढउ -** (चारित्र) धर्म के उत्तर में (भी श्रुत धर्म की) वृद्धि हो।

'ज्ञानस्य फलं विरति' ज्ञान का फल विरति है । सम्यक् श्रुतज्ञान का फल सर्वविरति की प्राप्ति है और सर्वविरति का फल केवलज्ञान की प्राप्ति है। केवलज्ञान की प्राप्ति में श्रुतज्ञान परम सहायक तत्त्व है । इसीलिए साधक 'मेरा श्रुतज्ञान बढें' ऐसी प्रार्थना करने के बाद भी आगे प्रार्थना करता है कि, 'हे प्रभु ! सर्वविरति की प्राप्ति के बाद मैं कहीं प्रमाद के अधीन न बनूँ, उसके लिए आपको विनती करता हूँ कि चारित्रधर्म प्राप्त

होने के बाद भी जब तक क्षपकश्रेणी योग्य प्रातिभज्ञान[14] प्राप्त न हो, तब तक मुझ में उत्तरोत्तर श्रुतज्ञान की वृद्धि होती रहे, वैसी मुझे शक्ति प्रदान करें।'

**जिज्ञासा :** श्रुतधर्म की वृद्धि हो ! चारित्रधर्म की वृद्धि के बाद भी श्रुत धर्म बढ़े ऐसी प्रार्थना को आशंसा नहीं कह सकते ?

**तृप्ति :** यह प्रार्थना आशंसा स्वरूप ज़रूर है; परन्तु यह आशंसा ही सभी आशंसाओं का नाश करवाकर अनाशंसा भावरूप मोक्ष का कारण बने, ऐसी आशंसा है । ज्ञानादि की वृद्धि रूप ऐसी आशंसा मोक्षाभिलाषी को सतत रखनी चाहिए क्योंकि ऐसी प्रार्थना से ही मोक्ष का बीजाधान होता है। नया-नया ज्ञान प्राप्त करने की भावना से तीर्थंकरनाम कर्म का बंध होता है, इसलिए श्रुतवृद्धि की यह प्रार्थना आशंसारूप होने के बावजूद उपादेय है।

यह गाथा बोलते हुए साधक श्रुतज्ञान तथा श्रुतधर महर्षियों को स्मृति पट पर बिराजमान करके उनकी साक्षी में श्रुतज्ञान को भावपूर्ण हृदय से दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर वंदन करते हुए प्रार्थना करता है कि,

*"हे प्रभु ! इस श्रुतज्ञान द्वारा मुझमें सदा चारित्र धर्म की वृद्धि हो । तीनों जगत का स्पष्ट बोध करवानेवाला यह श्रुतज्ञान मेरे में मात्र शब्द रुप में नहीं, परन्तु कुमत के संस्कारों का उच्छेद करने के रूप में वृद्धि को प्राप्त हो। चारित्र धर्म की प्राप्ति के बाद भी केवलज्ञान प्रकट न हो, तब तक मुझमें श्रुतज्ञान की वृद्धि होती रहे ।"*

मात्र प्रार्थना से संतोष न होने से आगे बढ़कर साधक श्रुतधर्म की आराधना के लिए कायोत्सर्ग करता है ।

---

14 प्रातिभज्ञान यह अरुणोदय की तरह श्रुतज्ञान और केवलज्ञान के बीच का ज्ञान है । यह आने के बाद जीव को तुरंत ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । यह प्रातिभ ज्ञान श्रेणी में आता है, इसकी सहाय से जीव प्रचंड पुरुषार्थ से अपने लक्ष्य को सिद्ध करता है । आत्मा की अनुभूति को पाने के लिए क्षयोपशम जन्य प्रकृष्ट बुद्धि वही प्रातिभज्ञान है । इस ज्ञान में मार्गानुसारी प्रकृष्ट उह (बुद्धि) होती है ।

**सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए** - पूजनीय ऐसे श्रुतधर्म के वंदन-पूजनादि के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।

'भग' शब्द का अर्थ ऐश्वर्य, बल, लक्ष्मी आदि होता है। श्रुतधर्म की सुंदर आराधना करनेवालों को ऐसे विशिष्ट पुण्य का बंध होता है कि जिसके कारण श्रुतज्ञान और विशिष्ट रूप ऐश्वर्यादि की प्राप्ति होती है तथा इस श्रुतज्ञान से केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी और गुणसंपत्तिरुप ऐश्वर्य भी प्राप्त होता है, इस प्रकार 'भग' की प्राप्ति का कारण श्रुतज्ञान होने से कारण में कार्य का उपचार करके यहाँ श्रुतधर्म को भी भगवान ऐसा सार्थक विशेषण दिया है । इसके अलावा 'भगवओ' शब्द का अर्थ 'पूज्य' भी होता है।

ऐश्वर्यादि गुणसंपन्न अथवा पूज्य ऐसे श्रुतज्ञान को वंदन के निमित्त से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

यहाँ वंदणवत्तियाए से लेकर पूर्ण अरिहंत चेइयाणं सूत्र तथा अन्नत्थ सूत्र बोलकर एक नवकार का कायोत्सर्ग किया जाता है । यह कायोत्सर्ग श्रुत की आराधना के लिए है । इसलिए कायोत्सर्ग पारकर श्रुतज्ञान के माहात्म्य को बतानेवाली थुई बोली जाती है ।

यह कायोत्सर्ग करने का कारण यह है कि पंचपरमेष्ठी में अरिहंत और सिद्ध भगवंत ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं और आचार्यादि भी विशेष प्रकार से ज्ञानादि के लिए प्रयत्न करनेवाले हैं, इसलिए नवकार में उनको नमस्कार करने से उनमें रहे ज्ञानादि गुणों का बहुमान अपने ज्ञानावरणीय कर्म का नाश करवाकर ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति का कारण बनता है।

सुअस्स भगवओ बोलकर जब कायोत्सर्ग किया जाए, तब इस सूत्र में बताया गया श्रुतज्ञान का माहात्म्य बुद्धि में उपस्थित होना चाहिए और ऐसे श्रुत की आराधना के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ; वैसा ध्यान में रखना चाहिए, तो ही इस कायोत्सर्ग का विशिष्ट फल मिल सकता है ।

# सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र

**सूत्र परिचय :**

धर्मक्रिया का अंतिम लक्ष्य और फल सिद्ध अवस्था है । इस सूत्र में सिद्ध अवस्था के स्वरूप को बताकर सिद्ध भगवतों को नमस्कार किया जाता है, इसीलिए इस सूत्र का दूसरा नाम **'सिद्धस्तव'** है ।

सिद्ध अवस्था का ज्ञान, सिद्ध आत्माओं का आनंद, सिद्ध भगवंतों के सुख की श्रद्धा इत्यादि ही भव्यात्मा को धर्मकार्य में प्रेरणा देती है । धर्म करके ऐसा सुख मुझे मिलनेवाला है, ऐसी अवस्था मुझे प्राप्त होनेवाली है, ऐसी समझ धर्ममार्ग में उत्साह की वृद्धि करती है ।

इस सूत्र की पहली गाथा में सिद्ध भगवंत कैसे है ? उनका ज्ञान किस प्रकार का है ? उन्होंने संसार के पार को किस प्रकार से प्राप्त किया, वगैरह बताया गया है । ऐसे स्वरूपवाले सिद्ध भगवंतों का एकाग्रतापूर्वक ध्यान किया जाए, तो साधक आत्मा क्रमिक विकास करते हुए अंत में सिद्ध अवस्था की प्राप्ति तक ज़रूर पहुँच सकता है ।

दूसरी गाथा में अपने आसन्न उपकारी वीरभगवंत की विशेषता बताकर उनकी वंदना की गई है । तीसरी गाथा में वीर भगवान को पूर्ण भाव से किया गया एक भी नमस्कार कैसे उत्तम कोटि के फल को देता है, वह

बताया गया है । चौथी गाथा में बाल ब्रह्मचारी नेमिनाथ भगवान के कल्याणक भूमि की जानकारी के साथ उन्हें वंदना की गई है । पाँचवी गाथा में ४-८-१०-२ ऐसी संख्या पूर्वक चौबीसों भगवंत तथा अन्य तीर्थ और तीर्थंकरों को भी वंदना की गई है । यहाँ इतना खास ध्यान में रखना चाहिए कि, यह सूत्र सिद्धस्तव है, यहाँ प्रत्येक भगवान की सिद्ध अवस्था की स्तुति की गई है ।

इस सूत्र की अंतिम दो गाथाएँ पीछे से प्रक्षिप्त हुई होंगी ऐसा लगता है क्योंकि ललितविस्तरादि ग्रंथों में इन दो गाथाओं का विवेचन देखने को नहीं मिलता । फिर भी पूर्वाचार्यकृत ये दोनों गाथाएँ गीतार्थ गुरु भगवंतों को मान्य होने से देववंदनादि में बोली जाती हैं ।

इस सूत्र का मुख्य उपयोग देववंदन तथा प्रतिक्रमण में होता है । पुक्खरवरदी सूत्र बोलकर श्रुत की स्तवना करने के बाद श्रुतज्ञान का अंतिम फल सिद्ध अवस्था है । इसलिए सिद्ध भगवंतों की स्तवना के लिए यह सूत्र बोला जाता है ।

**मूल सूत्र :**

**सिद्धाणं बुद्धाणं, पार-गयाणं परंपर-गयाणं ।**
**लोअग्गमुवगयाणं, नमो सया सव्व-सिद्धाणं ।।१।।**

**जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।**
**तं देवदेव-महिअं, सिरसा वंदे महावीरं ।।२।।**

**इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स ।**
**संसार-सागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ।।३।।**

**उज्जिंतसेल-सिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।**
**तं धम्म-चक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि ।।४।।**

**चत्तारि अट्ठ दस दो य, वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं ।**
**परमट्ठ-निट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।५।।**

**पद : २०** **संपदा : २०** **अक्षर : १७६**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और शब्दार्थ :**

**सिद्धाणं बुद्धाणं, पार-गयाणं परंपर-गयाणं ।**

*सिद्धेभ्यः बुद्धेभ्यः, पार-गतेभ्यः परम्पर-गतेभ्यः ।*

सिद्ध हुए, केवलज्ञान पाए हुए, संसार के पार को प्राप्त करनेवाले, परंपरा से मोक्ष को प्राप्त किए हुए ।

**लोअग्गमुवगयाणं, सव्व सिद्धाणं सया नमो ।।१।।**

*लोकाग्रं उपगतेभ्यः, सर्व-सिद्धेभ्यः सदा नमः ।।१।।*

लोक के अग्रभाग को प्राप्त किए हुए सभी सिद्ध भगवंतों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ।।१।।

**जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।**

*यः देवानाम् अपि देवः, यं देवाः प्राञ्जलयः नमस्यन्ति ।*

जो देवों के भी देव हैं, जिन्हें देव भी दो हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

**देवदेव-महिअं तं महावीरं सिरसा वंदे ।।२।।**

*देवदेव-महितं तं महावीरं शिरसा वन्दे ।।२।।*

(जो) देवों के देव इन्द्र से पूजे गए हैं, उन महावीर स्वामी भगवान को मैं मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ ।।२।।

**जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स इक्को वि नमुक्कारो ।**

*जिनवर-वृषभाय वर्द्धमानाय एकोऽपि नमस्कारः ।*

जिनों में वृषभ तुल्य वर्धमानस्वामी को किया गया एक भी नमस्कार।

**नरं व नारिं वा संसार-सागराओ तारेइ ।।३।।**

*नरं वा नारीं वा संसार-सागरात् तारयति ।।३।।*

पुरुष अथवा स्त्री को संसार-सागर से पार करवाता है ।।३।।

**उज्जिंतसेल-सिहरे जस्स दिक्खा नाणं निसीहिआ ।**

*उज्जयन्तशैल-शिखरे, यस्य दीक्षा ज्ञानं नैषेधिकी ।*

उज्जयंत पर्वत के (गिरनार के) शिखर पर जिनकी दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष कल्याणक हुए हैं ।

**धम्म-चक्कवट्टिं तं अरिट्ठनेमिं नमंसामि ।।४।।**

*तं धर्म-चक्रवर्तिनम् अरिष्टनेमिं नमस्यामि ।।४।।*

उन धर्म के चक्रवर्ती नेमिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।।४।।

**चत्तारि अट्ठ दस दो य, वंदिआ चउव्वीसं जिणवरा ।**

*चत्वारः अष्ट दश द्वौ च, वंदिताः चतुर्विंशतिः जिनवराः ।*

चार, आठ, दस और दो (इस स्वरूप में अष्टापद पर स्थापन किए हुए) वंदन किए हुए चौबीसों जिनेश्वर,

**परमट्ठ-निट्ठिअट्ठा, सिद्धा मम सिद्धिं दिसंतु ।।५।।**

*परमार्थ-निष्ठितार्थाः सिद्धाः मम सिद्धिं दिशन्तु ।।५।।*

परमार्थ को प्राप्त हुए, कृतकृत्य हुए सभी सिद्ध भगवंत ! मुझे मोक्ष दें ।।५।।

## विशेषार्थ :

**सिद्धाणं** - सिद्ध[1] हुए (परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।)

सब कर्मों का क्षय करके जिन्होंने सिद्धगति प्राप्त की है, वे सिद्ध कहलाते हैं । आत्मा जब तक कर्म के साथ संबंधित होती है, तब तक वह कर्म के अधीन बनकर चार गतिरूप संसार में भटकती रहती है । नए-नए शरीर धारण करके अनेक प्रकार की पीड़ाओं का भोग बनती हैं; परन्तु जब आत्मा सभी कर्मों से मुक्त होती है, तब शरीर के साथ बंधन, चार गति में भ्रमण और दुःख के सिलसिले का नाश हो जाता है और तब ही आत्मा

1 सिद्धाणं - अनेक भवों में बंधे (एकत्रित किए हुए) कर्म को द्ध - ध्मात - जिन्होंने जला दिया है, वे सिद्ध कहलाते है अथवा जिनके सभी कार्य सिद्ध हो गए हैं, उन्हें सिद्ध कहा जाता है। इस पद द्वारा सभी कर्म से रहित, कृतकृत्य सिद्ध भगवंत को वंदना की जाती है । सिद्ध शब्द का विशेष स्वरूप 'नमस्कार महामंत्र' का विवेचन सूत्र संवेदना-१ में देखें ।

संपूर्ण स्वाधीन बनकर अपने स्वाभाविक सुख का अनुभव कर सकती है । सिद्ध परमात्मा याने कर्म से मुक्त होकर सहज सुख में मग्न बनी हुई, सिद्धशिला पर बसी हुई आत्मा । ऐसे सिद्ध भगवंतों को इस पद द्वारा वंदन किया जाता है ।

सिद्ध शब्द से योगसिद्ध, मंत्रसिद्ध, तपः सिद्ध, कर्मसिद्ध आदि अनेक सिद्ध भगवंतो का समावेश हो सकता है, उन सबका ग्रहण न हो जाए, इसलिए सिद्ध भगवान के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ यह दूसरा पद कहते हैं -

**बुद्धाणं** - केवलज्ञान को प्राप्त हुए (सिद्ध भगवंतों को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

सिद्धावस्था प्राप्त करने से पहले कर्मों का नाश करने के लिए साधक जब क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करता है, तब गुणस्थानक में उत्तरोत्तर आगे बढ़ते हुए, चार घातीकर्मों का क्षय करके वह तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थानक को प्राप्त करता है, जहाँ केवलज्ञान आदि आत्मा के अनंत गुण प्रकट होते हैं । प्रकट हुए वे गुण अनंतकाल तक सिद्धावस्था में भी आत्मा के साथ रहते हैं, इसीलिए सिद्ध भगवंत 'बुद्ध' कहलाते हैं।

केवलज्ञान को प्राप्त हुए सिद्ध भगवंत चराचर जगत् को हाथ में रहे हुए पानी के बून्द की तरह स्पष्ट देख सकते हैं। किसी भी द्रव्य के किसी भी पर्याय को देखने के लिए उनको अब नेत्र, पुस्तक या किसी भी चीज़ की आवश्यकता नहीं पड़ती । सर्व द्रव्य, सर्व काल, सर्व जीव और सर्व जड़ पदार्थों की भूत-भविष्य-वर्तमान सर्व अवस्थाओं को वे हरक्षण किसी की सहायता के बिना देख सकते हैं ।

सिद्ध और बुद्ध भगवान के अन्य विशेषण कहते हैं-

**पारगयाणं**[2] - संसार के पार को प्राप्त किए हुए अथवा सभी प्रयोजन जिनके सिद्ध हो गए हैं । (वैसे सिद्ध परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

2 जो ऐसा मानते हैं कि जगत् की उन्नति के लिए भगवान अवनितल के ऊपर जन्म लेते हैं। जन्म लेकर अधर्म का नाश करते हैं और धर्म की उन्नति के लिए कुछ कार्य करते हैं । यह मान्यता योग्य नहीं है, वह इस पद से साबित होता है ।

सर्व कर्मरहित और केवलज्ञान पाए हुए परमात्मा ने संसार को पार कर लिया है । अब वे पुनः संसार में नहीं आते और उनको कुछ भी करना बाकी नहीं हैं।

जीव जब तक कर्मयुक्त और ज्ञानादि गुणों से रहित होता है, तब तक उसे संसार में एक स्थान से दूसरे स्थान में भटकना पड़ता है, चार गति के चक्कर में घूमना पड़ता है। एक योनि में से दूसरी योनि में जन्म लेकर मरना पड़ता है, परन्तु जब जीव केवलज्ञानादि गुणों को प्रकट करके सर्वकर्म से मुक्त होकर सिद्धिगति को प्राप्त करता है, फिर उसे पुनः इस संसार में भटकना नहीं पड़ता, इसलिए उन्हें संसार समुद्र से पार पाए हुए कहा जाता है ।

तथा **'पारगयाणं'** का अर्थ जिसके सर्व प्रयोजन सिद्ध हो चूके हैं, ऐसा भी होता है। जिनके लिए अब करने योग्य कुछ बाकी नहीं रहता, वह कृतकृत्य या सिद्ध कहलाते हैं । संसार रसिक जीवों को सांसारिक सुख प्राप्त करने के लिए धनादि की जरूरत पड़ती है और उसके लिए वे सैंकड़ों प्रयत्न भी करते हैं, जब कि सिद्ध भगवंतो को सुख प्राप्त करने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता । ये ऐसे जीव हैं कि जो परमसुख को प्राप्त कर चुके हैं, जिन्हें अब कुछ भी करना बाकी नहीं है ।

संसार के पार को प्राप्त किए हुए सिद्ध भगवंत इस अवस्था को जिस प्रकार प्राप्त करते हैं, वह बताते हुए कहते हैं -

**परंपरगयाणं**[3] - परंपरा से मोक्ष को प्राप्त किए हुए (सिद्ध परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ।)

सिद्ध भगवंत परंपरा से मोक्ष में गए हैं अर्थात् क्रमिक गुण का विकास

---

3 कितने स्वेच्छावादी ऐसा मानते हैं कि - दरिद्र आत्मा को जैसे अचानक राज्य की प्राप्ति हो जाती है, वैसे अचानक किसी को मोक्ष मिल जाता है । इस पद में मोक्ष की प्राप्ति, क्रमिक विकास से होती है, ऐसा बताया गया है । इसके द्वारा वह मत भी योग्य नहीं है, यह साबित होता है।

करते-करते वे मोक्ष तक पहुँचे हैं । सिद्ध भगवंत भी पूर्व में - भूतकाल में हमारे जैसे दोषयुक्त ही थे, परन्तु साधना द्वारा वे मिथ्यात्वादि दोषों को दूर करते हैं और सम्यक्त्वादि गुणों को प्रकट करते हैं। इस प्रकार क्रमिक गुणों का विकास करते-करते ही वे मोक्ष में जाते हैं ।

इस तरह सिद्ध भगवंत को स्मृति में लाने से साधक आत्मा को एक आश्वासन मिलता है कि, सत्ता से तो मैं और सिद्ध भगवंत दोनों समान ही हैं, मात्र उन्होंने अपना स्वरूप प्रकट कर लिया है, जब कि मेरा वह स्वरूप अब तक कर्म से आच्छादित है। उन्होंने जैसे साधना करके कर्मों के आवरण को दूर किया और क्रमिक गुण का विकास करते-करते (अर्थात् चौदह गुणस्थानक के क्रम से) वे जैसे मोक्ष तक पहुँच सके वैसे मैं भी अगर उनका आलंबन लेकर प्रयत्न करूँ तो मिथ्यात्वादि दोषों को टालकर, गुण का विकास करते-करते मोक्ष तक पहुँच सकूँगा । इस तरह इस पद द्वारा जिन्होंने परंपरा से मोक्ष को प्राप्त किया है वैसे सिद्ध भगवंतों को स्मृति में लाकर, वंदन करना है ।

अब सिद्ध भगवंत कहाँ रहते हैं, वह बताते हैं -

**लोअग्गमुवगयाणं**[4] - लोक के अग्रभाग को प्राप्त (सिद्ध परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।)

कर्मरहित आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन का है। सिद्ध भगवंत कर्मरहित है, इसलिए वे ऊर्ध्व दिशा में लोक के अंतिम भाग में जाकर स्थिर होते हैं।

चौदह राजलोकमय इस विश्व के ऊपर के अंतिम भाग में एक सिद्धशिला है। वह ४५ लाख योजन लम्बी-चौड़ी, मध्य में आठ योजन मोटी, अंत में मक्खी के पंख जैसी पतली, तवे की तरह गोलाकार, शुद्ध स्फटिक रत्न की बनी हुई और दूर से दूज के चंद्र जैसी दीखती है । उस

4 जो ऐसा मानते है कि कर्मरहित आत्मा किसी भी अनियत स्थान में रहती है, यह बात योग्य नहीं है, ऐसा इस पद द्वारा साबित होता है ।

सिद्धशिला से लेकर एक योजन के २४ भाग करें, तो उसमें से २३ भाग दूर जाने के बाद सिद्ध हुई आत्माओं के स्थान की शुरूआत होती है और जब अंतिम चौबीसवाँ भाग पूरा हो, तब सिद्ध आत्माओं का स्थान पूरा होता है। उससे आगे मात्र अलोकाकाश ही आता है। उसमें गति सहायक धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य भी नहीं है और स्थिति सहायक अधर्मास्तिकाय नामक द्रव्य भी नहीं है। इसलिए सिद्ध भगवंत लोक के अग्रभाग में ही स्थिर रहते हैं, परन्तु अलोकाकाश में नहीं जाते।

**नमो सया सव्व-सिद्धाणं -** (ऐसे स्वरूपवाले) सभी सिद्ध भगवंतों को मैं सदा नमस्कार करता हूँ ।

आज तक अनंत आत्माओं ने सिद्ध अवस्था को प्राप्त किया है । वे सभी सिद्ध भगवंत गुण से समान स्वरूप वाले होते हैं। फिर भी सिद्ध बनने से पूर्व की अवस्था की अपेक्षा से शास्त्रों में उनके पंद्रह भेद बताए गए हैं । उन पंद्रह भेदों से युक्त अनंत सिद्ध भगवंतों को मैं हमेशा भाव से नमस्कार करता हूँ।

यहाँ सदा नमस्कार की जो बात है, वह द्रव्य नमस्कार की अपेक्षा से नहीं है, क्योंकि द्रव्य से सतत नमस्कार नहीं हो सकता, परंतु सिद्ध भगवंतों के प्रति आदर, उनके प्रति भक्ति और सतत सिद्ध अवस्था के नज़दीक जाने के प्रयत्न स्वरूप भाव नमस्कार सतत संभव है । इसीलिए यह पद बोलकर साधक ऐसे भाव नमस्कार की आकांक्षा व्यक्त करता है और साथ ही साथ अपने जीवन में ऐसी कोई प्रवृत्ति न हो जाए, जो सिद्ध अवस्था से अपने आप को दूर ले जाए, उसकी सतत सावधानी भी रखता है, इसी से इस पद के बोलने की सार्थकता है ।

यह गाथा बोलते हुए साधक सहज स्वरूप में मग्न, ज्ञानानंद में निमग्न, संसार से पार पाए हुए अनंत सिद्ध भगवंतों को स्मृतिपट पर स्थापित करके भावपूर्ण हृदय से वंदना करते हुए सोचता है

*"हे भगवंत ! जो आपका स्वरूप है, वही मेरा स्वरूप है। मेरा स्वरूप कर्म से आच्छादित है, जब कि आपका स्वरूप प्रकट हो गया है । आपको किया हुआ यह वंदन मेरे कर्म बंधनों को तोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने में मुझे समर्थ बनायें । आप उसमें मेरी सहायता कीजिए ।"*

सभी सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करके अब इन सिद्ध भगवंतों को जिन्होंने बताया, सिद्ध स्वरूप का जिन्होंने ज्ञान दिया और सिद्धगति का मार्ग जिन्होंने बताया, वैसे आसन्न उपकारी वीरभगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं -

**जो देवाण वि देवो -** जो देवों के भी देव हैं अर्थात् देवों के लिए भी जो पूजनीय हैं।

सामान्य जन ऋद्धि, बुद्धि और शक्ति की विशेषता के कारण इन्द्रादि देवों को महान मानकर उनकी उपासना करते हैं । जब कि, ऋद्धि संपन्न देव भी अनंत शक्ति और बेजोड़ गुण समृद्धि के कारण वीर प्रभु को महान मानकर उनकी उपासना करते हैं । प्रभु के जन्म से लेकर निर्वाण तक विविध प्रकार से प्रभु-भक्ति में लीन रहते हैं। देवलोक के सुख छोड़कर प्रभु की सेवा में हर क्षण हाज़िर रहते हैं । प्रभु के वचनामृत का पान करके खुद की आत्मा को धन्य मानते हैं । उन वचनों पर आस्था धारण करते हैं। देवगति प्रायोग्य अविरति के कारण परमात्मा के जिन वचनों का वे पालन नहीं कर सकते, उनका उन्हें अत्यंत दुःख रहता है । प्रभु की आज्ञानुसार जीवन जीनेवाले महात्माओं पर वे अत्यंत आदर-बहुमान धारण करते हैं । इस तरह वीर प्रभु देवों से भी पूजनीय होने से देवों के भी देव कहलाते हैं।

**जं देवा पंजली नमंसंति -** जिन्हें देवता (विनय से) दो हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं।

महाबुद्धि के निधान, भौतिक सुख की पराकाष्ठा को पाए हुए, जगत जिनको महान मानता है, वैसे देव और देवेन्द्र भी वीरभगवान को दो हाथ

जोड़कर नमस्कार करते हैं क्योंकि वे मानते है कि, "इन परमात्मा के आगे हम कुछ भी नहीं हैं। परमात्मा की गुणसंपत्ति, उनकी वीर्यशक्ति, उनका आनंद, उनका सुख, उनकी निर्बाध स्थिति वगैरह के आगे हम तिल मात्र भी तुलना में नहीं आ सकते। इन गुणों को प्राप्त करने का, इस सुख को प्राप्त करने का उपाय भी एक ही है, आदरपूर्वक उनकी पूजा, भक्ति आदि करना।" इसीलिए सम्यग्दर्शनादि गुणों को प्राप्त किए हुए देव, देवेन्द्र अत्यंत बहुमानपूर्वक दो हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर, वीर परमात्मा को नमस्कार करते हैं ।

**तं देवदेव-महिअं सिरसा वंदे महावीरं** - देवों के भी देव, (इन्द्र) जिनकी पूजा करते हैं । उन महावीरस्वामी भगवान को मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।

जो तप और वीर्य से सुशोभित होते हैं, उन्हें वीर[5] कहते हैं। अन्य अपेक्षा से उपसर्गों और परिषहों को समभाव से सहन करके जिन्होंने विशेष प्रकार से कर्मों का नाश किया है, वे वीर हैं। ऐसे वीर भगवान, देवों के देव-इन्द्र से भी पूजित हैं, ऐसा बताने से जगत्-पूजनीय प्रभु वीर की महानता का ख्याल आता है। प्रभु वीर की महानता का जिन्हें एहसास हो, उन आत्माओं के मन में परमात्मा के प्रति अत्यंत आदर बढ़ता है और आदर के कारण ही साधक का मस्तक झुक जाता है ।

यह गाथा बोलते हुए जो देवों के भी देव हैं और देव जिनको दो हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर प्रणाम करते हैं, उन वीर प्रभु को ध्यान में लाकर भक्ति भाव से प्रणाम करते हुए साधक सोचता है ,

*"सामान्य जन देवों के पीछे पडे हैं, जब कि देवों के भी देव वीर प्रभु की सेवा में तत्पर हैं। मेरा परम सद्भाग्य है कि ऐसे देव*

---

5 'वीरं' इति चान्वर्थसंज्ञेयं, महावीर्यराजनात्तपःकर्मविदारणेन कषायादि शत्रुजयात्केवल-श्रीस्वयंग्रहणेन विक्रान्तो वीरः तम् । श्री योगदृष्टि समुच्चय

*मुझे मिले हैं और ऐसे देव के शासन में मेरा जन्म हुआ है । अब इस प्रभु की सेवा में मैं तत्पर बनूं और उनके वचनानुसार अपने जीवन को बनाकर जन्म सफल करूँ।"*

इन वीर परमात्मा को किए गए बहुत से नमस्कार तो दूर रहे, भावपूर्वक किया गया एक नमस्कार भी क्या फल देता है यह बताते हुए कहते हैं -

**इक्को वि नमुक्कारो जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स -** जिनों में श्रेष्ठ वृषभ तुल्य वर्धमान स्वामी को किया गया एक भी नमस्कार।

अवधिजिन आदि अनेक जिनों में मार्गदर्शकता आदि गुणों के कारण भगवान वीर श्रेष्ठ हैं, इसलिए उनको जिनवर कहा जाता है और सामान्य प्राणी की तुलना में ज़्यादा भार वहन करने में जैसे वृषभ श्रेष्ठ और सक्षम माने जाते हैं, वैसे सामान्य साधक की अपेक्षा परमात्मा विशेष प्रकार से १८००० शीलांगरथ को वहन करते हैं और अनेक भव्यात्माओं से उसका वहन करवाते हैं, इसलिए परमात्मा को वृषभ तुल्य कहा गया है ।

जिनवरों में श्रेष्ठ ऐसे वीर प्रभु को बार-बार नमस्कार की बात तो दूर रही, परन्तु उन्हें एक बार भी नमस्कार किया जाय तो क्या फायदा होता है, यह बताते हैं...

**संसार-सागराओ तारेइ नरं व नारिं वा -** स्त्री अथवा पुरुष को संसार-सागर से तैराते हैं।

ऐसे प्रभु को सम्पूर्ण सामर्थ्य से अर्थात् समर्थ्ययोग से अगर एकबार भी नमस्कार किया जाए तो नमस्कार करनेवाला स्त्री हो या पुरुष, वह नमस्कार तुरंत उसे संसार सागर से तैराता है। अनादिकाल से जीव मोहाधीन अवस्था में जीवन व्यतीत करता है। इस मोह को दूर करने का कार्य बहुत कठिन होने के बावजूद जो साधक वर्धमान स्वामी को एक बार भी भाव से नमस्कार करते हैं, वे मोह को मारकर संसार से पर हो सकते हैं । यह भाव नमस्कार अर्थात् सामर्थ्य योग का नमस्कार।

शास्त्र में नमस्कार के तीन प्रकार बताए हैं; इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग[6]। उसमें इच्छायोग का नमस्कार परमात्मा के गुणों में लीन बनने की इच्छा रूप है। शास्त्रयोग के नमस्कार में शास्त्र के अनुसार सब प्रकार का प्रयत्न होता है और सामर्थ्य योग में आत्मा के सम्पूर्ण सामर्थ्य से परमात्मा के गुणों में लीन होने की प्रक्रिया है । जब सर्वश्रेष्ठ कोटि का सामर्थ्ययोग का नमस्कार साधक को प्राप्त होता है, तब वह परमात्मा के गुणों में, परमात्मा के सूक्ष्म स्वरूप में अपनी चेतना को याने की आत्मा के ज्ञानोपयोग को लीन करता है। परमात्मा के गुणों में लयलीन होने से मोह का आवरण आत्मा पर से दूर होता है और संपूर्ण रागादि दोष रहित वीतराग भाव स्वरूप चेतना प्रकट होती है। वीतराग स्वरूप चेतना का प्रगटीकरण ही संसार का तरण है। सामर्थ्ययोग द्वारा एक ही बार किया गया नमस्कार स्त्री या पुरुष, किसी को भी इस संसार सागर से तैरा सकता है ।

यहाँ जिस नमस्कार की बात की गई है, वह अत्यंत दुर्लभ सामर्थ्ययोग का नमस्कार है। इस नमस्कार तक पहुँचने का मार्ग जानने की उत्सुकता जिज्ञासु को हो, वह सहज है। इस नमस्कार तक पहुँचने के लिए हमेशा परमात्मा के गुणों का विचार करना चाहिए, परमात्मा के गुणों के प्रति आदर प्रकट करने के लिए उत्तम द्रव्यों से प्रभु की पूजा करनी चाहिए, गंभीर स्वर में स्तुति-स्तवन गाने चाहिए, उनका जप करना चाहिए, उनका ध्यान करना चाहिए और यथाशक्ति उनके वचनानुसार जीवन जीने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार प्रयत्न करते-करते धीरे-धीरे चित्त परमात्मा के गुणों के प्रति आकर्षित होता है और उनके गुणों के प्रति आदरभाव बढ़ता है। आदरभाव बढ़ने से मोहादि दोष कमज़ोर पड़ते हैं। मोह कमज़ोर पड़ते ही पुनः परमात्मा की भक्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार क्रमिक विकास करते-करते एक दिन यह सामर्थ्ययोग का नमस्कार अवश्य प्राप्त हो सकता है।

---

6 इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग की विशेष जानकारी 'नमोत्थु णं' सूत्र में से प्राप्त करें।

यह गाथा बोलते हुए सोचना चाहिए -

*"विशिष्ट कोटि का एक ही नमस्कार यदि संसार सागर से आत्मा को तार सकता हो, तो सबसे पहले मैं उस प्रकार के नमस्कार के लिए प्रयत्न करूँ जिससे मैं भी इस भयावह संसार सागर से तैर सकूँ !"*

दिगंबर संप्रदाय की ऐसी मान्यता है कि स्त्रियाँ अल्पसत्त्वशाली, अत्यंत परिग्रहवाली और तुच्छ स्वभाववाली होती हैं, इसलिए उनकी मुक्ति नहीं होती। **'नारिं वा'** शब्दों के उल्लेख द्वारा उनकी यह मान्यता अयोग्य है, यह साबित होता है - सीता, अंजना, अनुपमा देवी जैसी महासतियाँ महासत्त्ववाली, उदारतादि अनेक गुणवाली और मूर्च्छारूप परिग्रह से रहित थीं। इसलिए स्त्री को भी मोक्ष सुख की प्राप्ति मानने में कोई भी शास्त्रीय बाधा नहीं बताई गई है। अनेक गुणवान स्त्रियों के मोक्ष में जाने के उल्लेख भी मिलते हैं।

वीर प्रभु की स्तवना करने के बाद अब गिरनार मंडन नेमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि -

**उज्जिंतसेल-सिहरे दिक्खा नाणं निसीहिया जस्स -** उज्जयंत पर्वत के शिखर पर जिनकी दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्षकल्याणक हुए हैं (उन नेमिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।)

तीर्थंकर परमात्मा के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष - ये पाँच प्रसंग अनेक जीवों के कल्याण का, सुख-आनंद का कारण होने से उन्हें कल्याणक कहा जाता है।

परमात्मा जब माता के गर्भ में पधारे, तब उसका ज्ञान देवेन्द्र को भी आनंदित करता है । प्रभु के जन्म की बधाई माता-पिता और नगरजनों को तो आनंदित करती ही है, परन्तु भौतिक सुख में मशगूल देव और देवेन्द्र भी प्रभुजन्म के समाचार से आनंदित होकर, दैविक सुखों को छोड़कर अपने जन्म को कृतार्थ करने के लिए मृत्युलोक में प्रभु के जन्म महोत्सव के लिए दौड़कर आते हैं। प्रभु की दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष के प्रसंगों

का वर्णन शास्त्र में पढ़े, तो पता चलता है कि भगवान के कल्याणक प्रसंग कितने जीवों के सुख का कारण बनते हैं ! अन्य जीवों की बात तो जाने दो, जहाँ सदा के लिए गहरा अंधकार है, जहाँ सदाकाल के लिए जीवों को दुःख है, वैसे[7] नरक में भी प्रभु के प्रत्येक कल्याणक में प्रकाश होता है। एक क्षण के लिए वहाँ के जीव भी सुख का अनुभव कर सकते हैं, इसीलिए भगवान की सभी अवस्थाओं को कल्याणक कहा जाता है ।

इस अवसर्पिणी काल में बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ भगवान के महाव्रत का स्वीकार स्वरूप दीक्षाकल्याणक, घातीकर्म का नाश करके केवलज्ञान की प्राप्ति स्वरूप केवलज्ञान कल्याणक और सभी कर्मों का नाश करके निर्वाणगमनस्वरूप मोक्ष कल्याणक ये तीनों कल्याणक उज्जयंतगिरि गिरनार के ऊपर हुए हैं ।

यह पद बोलते हुए नेमिनाथ भगवान का साधना क्षेत्र, केवलज्ञान की भूमि और मोक्षप्राप्ति का स्थान स्मृति में आता है। राजुल से विवाह करने गए नेमिकुमार जीवों की करुणा के कारण वहाँ से वापस आ गए । वर्षीदान देना शुरू किया और रैवतगिरि के ऊपर जाकर संयम जीवन का स्वीकार किया। वहीं कर्मक्षय की साधना का प्रारंभ किया । इसी पर्वत के ऊपर चौवनवें दिन नेमिनाथ भगवान को केवलज्ञान हुआ। देवताओं ने समवसरण की रचना की । उसके बाद अन्य जीवों के हित के लिए उन्होंने पृथ्वीतल के ऊपर विचरण किया। हजार वर्षों के बाद परमात्मा पुनः उज्जयंतगिरि पधारे और शुक्लध्यान के अंतिम दो पैरियों के ऊपर आरुढ़ होकर शैलेशीकरणपूर्वक आयुष्य पूर्ण करके सभी कर्मों का विनाश करके परमात्मा यहाँ से ही मोक्ष में गए।

इस तरह इस स्थान के साथ परमात्मा के तीन कल्याणकों को याद करके, उन-उन स्थितियों की प्राप्ति की भावना के साथ यह पद बोलते हुए परमात्मा की वंदना की जाए, तो अपने संयम, केवलज्ञान और मोक्ष में विघ्न करनेवाले कर्म का विनाश होता है ।

---

7 नारका अपि मोदन्ते यस्य कल्याण पर्वेषु । वीतराग स्तोत्र-१०-७

**तं धम्म-चक्कवट्टिं अरिट्ठनेमिं नमंसामि** - उन धर्म चक्रवर्ती नेमिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ ।

चक्ररत्न द्वारा छः खंड के विजेता बनकर, छहों खंडों में जिन्होंने अपना साम्राज्य फैलाया है, वे भौतिक क्षेत्र में चक्रवर्ती कहलाते हैं । उसी प्रकार पाँच इन्द्रिय और छट्ठे मन के विजेता बनकर, घनघाति कर्म का नाश करके, केवलज्ञानादि गुणसंपत्ति को प्राप्त करके, जिन्होंने स्व और पर के लिए चार गति को छेदनेवाले ऐसे धर्म रुप चक्र का उपयोग किया है, उनको धर्मचक्रवर्ती कहा जाता है। धर्म के चक्रवर्ती नेमिनाथ भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

**चत्तारि अट्ठ दस दोय वंदिया जिणवरा चउव्वीसं** - चार, आठ, दस और दो (इस प्रकार अष्टापद पर्वत के ऊपर स्थापन किए गए) वंदन किए हुए चौबीसों जिनेश्वर ।

अष्टापद पर्वत के ऊपर श्री भरत चक्रवर्ती ने सिंह निषद्या नाम का प्रासाद (देरासर) बनाकर उसमें दक्षिणादि दिशा के क्रम से चार, आठ, दस और दो ऐसे चौबीस जिनेश्वरों की प्रतिमाओं को प्रतिष्ठित किया था। उन प्रतिमाओं को मन में उपस्थित करके इस पद द्वारा वंदन करना है ।

**परमट्ठ-निट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु** - परमार्थ को प्राप्त किए हुए कृतकृत्य सभी सिद्ध भगवंत मुझे मोक्ष दें!

सभी आस्तिक धर्मों का अंतिम प्रयोजन मोक्ष है । सिद्ध भगवंतों ने अंतिम ध्येय स्वरूप मोक्ष प्राप्त किया है, इसलिए अब वे कृतकृत्य हो गए हैं । उनके लिए अब करने योग्य कुछ भी बाकी नहीं रहा, उनको कुछ पाने की या भुगतने की इच्छा भी नहीं है और उसके लिए वे प्रयत्न भी नहीं करते, अतः सिद्ध भगवंत परमार्थ से निष्ठित अर्थवाले कहलाते हैं। निष्ठित अर्थात् पूरा हुआ और अर्थ अर्थात् प्रयोजन । सिद्ध भगवंतों ने मोक्ष प्राप्त करने रूप अपना ध्येय प्राप्त कर लिया है, इसलिए वे निष्ठित अर्थवाले

कहलाते हैं। 'परमार्थ से' प्रयोजन सिद्ध ऐसा कहने से संसार में रहे हुए केवली भगवंतों की गिनती नहीं होती, क्योंकि केवली भगवंतों ने अपना कार्य पूरा कर लिया है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है; परन्तु निश्चय से या परमार्थ से तो मात्र सिद्ध भगवंत ही निष्ठित अर्थवाले हैं क्योंकि केवलज्ञानी भगवंत को चार घातिकर्म खत्म करने बाकी हैं, इसीलिए वे निश्चय से निष्ठित अर्थवाले नहीं कहलाते, परन्तु व्यवहार से ऐसा कह सकते हैं । परमार्थ से तो मात्र सिद्ध भगवंत ही निष्ठित अर्थवाले हैं ।

यह गाथा बोलते हुए साधक सिद्ध भगवंतों को संबोधित करके, उनको हृदयकमल में बिराजमान करके, समक्ष रहे सिद्ध भगवंतों से प्रार्थना करते हुए कहता है,

*'हे सिद्ध भगवंत ! सभी कर्मों का क्षय कर आपने जो सिद्धिगति प्राप्त की है, आप जो आत्मानंद का अनुभव कर रहे हैं, स्वाधीन सुख में मग्न हैं, वह सुख, आनंद और गति मुझे भी प्रदान करें। वर्तमान में न दे सकें, तो उसकी प्राप्ति का प्रयत्न भी आप प्राप्त करवाएँ और परंपरा से वहाँ तक पहुँचाइए ।'*

यह प्रार्थना एक अभिलाषारूप है और ऐसी अभिलाषा ही सिद्धपद की प्राप्ति के उपाय रूप जो श्रुत धर्म और चारित्र धर्म है - ज्ञान और क्रिया का मार्ग है, उस मार्ग में सुदृढ़ प्रयत्न करवाने में कारण बनती है। जिसकी अभिलाषा न हो, उसकी प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ भी नहीं होता ।

# वेयावच्चगराणं सूत्र

## सूत्र परिचय :

इस सूत्र का तात्पर्यार्थ समझने के लिए यह जानना बहुत ज़रुरी है कि, यह सूत्र क्यों बोला जाता है ? यह क्या सूचित करता है ? और कौन बोलता है ? यह जाना जाए, तो ही इस सूत्र का भावार्थ समझा जा सकता है । यह सूत्र उत्कृष्ट चैत्यवंदन की क्रिया में बोला जाता है । चैत्यवंदन की क्रिया लोकोत्तर कुशल परिणाम का याने शुभभाव का कारण है । शुभभाव को प्रकट करने के लिए ही हमारे समक्ष रहे अरिहंत भगवंत, चौबीस जिन और उसके बाद वर्तमान में कदम-कदम पर परम उपकारी बननेवाले श्रुतज्ञान की स्तवना की जाती है। इस स्तवना से प्रकट हुआ आत्मिक आनंद प्रकृष्ट कोटि के पुण्य का बंध-अनुबंध करवाता है। ऐसा पुण्य जिसने बाँधा हो, वैसा जीव औचित्य का पालन करने के लिए यह सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करता है ।

साधक समझता है कि ऐसे विषम संसार में शुभभावों को प्रकट करना और प्रकट हुए शुभभावों को सुरक्षित रखना, आसान नहीं है। शुभभाव की यह प्रवृत्ति सैकड़ों विघ्नों से भरी हुई है, तो भी इस शुभभाव में जैसे अरिहंत

भगवंत आदि कारण हैं, वैसे शुभानुष्ठान में आनेवाले विघ्नों को दूर करके शुभभावों में टिकाने का काम सम्यग्दृष्टि देव भी करते हैं, इसलिए इस प्रसंग पर जैनशासन की वैयावच्च करनेवाले और शांति और समृद्धि देनेवाले देवों को याद करना भी अपना कर्तव्य है । इस प्रकार अपना औचित्य समझकर, उसके पालन के लिए इस सूत्र से सम्यग्दृष्टि देवों का स्मरण करने के लिए कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा की जाती है ।

यह सूत्र देववंदन तथा प्रतिक्रमण की क्रिया में बोला जाता है ।

**मूल सूत्र :**

**वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं ।**
**करेमि काउस्सग्गं ।**

**अन्वय सहित संस्कृत छाया और सूत्रार्थ :**

**वेयावच्चगराणं संतिगराणं सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं काउस्सग्गं करेमि ।**

*वैयावृत्त्यकराणां शांतिकराणां सम्यग्दृष्टि-समाधिकराणां (निमित्तं) कायोत्सर्गं करोमि ।*

वेयावच्च करनेवाले, शांति करनेवाले और सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि दिलानेवाले देवों के स्मरण के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

**विशेषार्थ :**

**वेयावच्चगराणं** - वेयावच्च करनेवाले (देवों के स्मरण के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ।)

वेयावच्च अर्थात् व्यापृतभाव[1] अथवा व्यावृत्तभाव । व्यापृत अर्थात् क्रियाशील रहना । किसी की सेवा करने के व्यापारवाला रहना, वेयावच्च है । जैनशासन में जहाँ जिस प्रकार ज़रूरत हो, वहाँ उस तरह व्यापार वाला रहना, उसका ही नाम 'वेयावच्च' है और दूसरे तरीके से सोचे तो

1 व्यावृत्तस्य भावः कर्म वा वैयावृत्त्यम् ।। पंचाशक टीका

व्यावृत्तभाव अर्थात् वापस लौटना-स्वामित्व छोड़ देना। तन-मन और धनादि पदार्थों के प्रति अपना स्वामित्व छोड़कर, अन्य को अर्पण करना, वह भी एक प्रकार की वेयावच्च है ।

शासन के प्रति भक्तिवाले देव महाचारित्र संपन्न आत्माओं की सेवा में हाजिर रहते हैं । केवलज्ञानियों के महोत्सव करने में आनंद मानते हैं। तीर्थ स्थानों की रक्षा के लिए सदा जागृत रहते हैं। अरिहंत परमात्मा के समवसरण की रचना करते हैं। अपने विमान में रहे चैत्यों की भी पूजादि करते हैं। ऐसे अनेक प्रकार से वे शासन की सेवा करते हैं। शासन के अधिष्ठायक चकेश्वरी देवी, अंबिका देवी, पद्मावती देवी, गोमुख यक्षादि के शासनरक्षा और भक्ति के कार्य प्रसिद्ध हैं ।

**संतिगराणं** - शांतिदाता (देवों के स्मरण के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

संघ में मारी, मरकी या दुष्ट देवों द्वारा किसी भी प्रकार का उपद्रव हुआ हो तो उपयोगवाले शासनरक्षक देव स्वयं आकर उन उपद्रवों को शांत करते हैं और अगर उनका उपयोग न हो तो साधक द्वारा उनका स्मरण करने पर तुरंत वे आकर संघ में शांति बनाये रखने का कार्य करते हैं ।

**सम्मद्दिट्ठि-समाहिगराणं** - सम्यग्दृष्टि जीवों को समाधि देनेवाले (देवों के स्मरण के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।)

यहाँ सम्यग्दृष्टि अर्थात् सामान्य से धर्म के प्रति प्रीतिवाले सभी जीव। धर्म के प्रति स्नेहवाली आत्माओं को जब-जब स्व-पर की समाधि खतरे में लगती हो और असमाधि को टालने का खुद का सामर्थ्य न दीखता हो, तब वे अपने से अधिक सामर्थ्यवाले समकिती देव-देवी को याद करते हैं और उनके निमित्त से कायोत्सर्ग आदि करते हैं । जिससे समकिती देव भी तुरंत प्रत्यक्ष होकर तत्काल असमाधि के कारणों को दूर करते हैं, जिससे वह आत्मा समाधि को प्राप्त करती है ।

सुलसा सती ने पुत्र के विरह में पति की असमाधि देखकर, शासन रक्षक देवों को याद किया । देवों ने आकर उन्हें ३२ गुटिकाएँ दीं, जिससे सुलसा को ३२ पुत्ररत्नों की प्राप्ति हुई, इससे पति की असमाधि टल गई। सीता सती ने अग्नि में प्रवेश करते ही देवों को याद किया, देव प्रत्यक्ष हुए । वहीं अग्निकुंड पानी के सरोवर में बदल गया ! मनोरमा सेठानी ने शासन देव को ध्यान में रखकर कायोत्सर्ग शुरू किया, तब सुदर्शन सेठ के लिए बनाई गई शूली सिंहासन में पलट गई ! मंत्रीश्वर शकडाल की पुत्री यक्षा साध्वीजी ने पर्युषण पर्व के दिन अपने छोटे भाई श्रीयक से उपवास करवाया। असह्य क्षुधावेदनीय के कारण मुनि श्रीयक का कालधर्म (मृत्यु) हुआ । इससे यक्षा साध्वी को खूब दुःख हुआ, ज्ञानी गुरु भगवंत के पास प्रायश्चित्त किया। फिर भी मन को शांति नहीं मिली। तब श्रीसंघ ने कायोत्सर्ग करके शासनदेवी को प्रकट किया, प्रकट हुई देवी महाविदेह क्षेत्र में सीमंधरस्वामी के पास यक्षा साध्वीजी को ले गई। वहाँ प्रभु ने स्वमुख से कहा, 'यक्षा! आप निर्दोष हैं, उससे यक्षा साध्वीजी स्वस्थ हुई और सीमंधर स्वामीजीने भरत क्षेत्र के संघ को चार अध्ययन की भेंट दी । इस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गुणवान आत्माओं की असमाधि को टालने का काम शासनरक्षक देव करते हैं।

**करेमि काउस्सग्गं** - मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

सम्यग्दर्शनादि गुणवाले जिन-जिन देवों ने जैनशासन की सेवा की है, अनेक उपद्रवों का निवारण करके संघ में पुनः शांति का प्रस्थापन किया है, धर्मी आत्मा की समाधि में सहायक बने हैं, उन-उन सम्यग्दृष्टि देवों को याद करके उनके इस उत्तम कार्य की अनुमोदना के लिए अथवा प्रमाद में पड़े उन देवों को प्रोत्साहित करने के लिए मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।

सम्यग्दृष्टि देवों के स्मरण के लिए, उनके गुणों की प्रशंसा के लिए या उनको प्रसन्न करने के लिए उनको उत्तम वस्तु का अर्पण आदि बहुत

कुछ कर सकते है, तो भी यहाँ वैसा न करते हुए कायोत्सर्ग करने का विधान किया, उसका कारण ऐसा लगता है कि, चैत्यवंदन की यह क्रिया भावस्तवरूप है । भावस्तवरूप इस क्रिया में भाव का प्राधान्य है। उससे कायोत्सर्ग द्वारा भाव से उनका स्मरण किया जाता है और वस्तु के अर्पण आदि में तो पापक्रिया (सावद्य=हिंसामय) भी होती है। जब कि यह तो निरवद्य (अहिंसामय) उपाय है । अरिहंतादि के ध्यान में लीन होने का भाव उत्तम होने से इस प्रसंग में ऐसे उत्तम भाव का प्रदान विशेष लाभ का कारण बन सकता है। उसके लिए चैत्यवंदन की क्रिया में उन देवों के स्मरण के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है ।

अन्य स्थानों में इन देवों के आह्वान आदि के लिए बलि-(बाकला) बलिदान या उत्तम द्रव्य को प्रदान करने की विधि भी देखने को मिलती है, इसलिए शास्त्रीय विधान हो, वहाँ यह न हो वैसा भी नहीं है ।

**जिज्ञासा :** चैत्यवंदनादि क्रिया में औचित्य के लिए ऐसे देवों को याद करना, ठीक बात है, परन्तु स्मरण करने के बावजूद वे आते तो नहीं हैं, तो किसलिए उनको याद करके कायोत्सर्ग करना चाहिए ?

**तृप्ति :** देवों का स्मरण करके जब-जब कायोत्सर्ग किया जाता है तब-तब वे देव आएँ या न आएँ, तो भी कायोत्सर्ग करनेवाले को पुण्य-बंध, विघ्न-उपशमादि शुभ फल मिलता है । जैसे परमात्मा को प्रार्थना करने से परमात्मा के न आने के बावजूद, उस प्रार्थना वगैरह से कार्यसिद्धि होती है, वैसे ही इस कायोत्सर्ग से भी कार्यसिद्धि होती है ऐसा शास्त्रकारों ने (ज्ञानियों ने) ही बताया है । कायोत्सर्ग करना चाहिए, ऐसा आप्त पुरुष (ज्ञानी पुरुष) का वचन है ।

चैत्यवंदन द्वारा प्राप्त हुए शुभ भावों में जो-जो निमित्तरूप बनते हैं, उनको यथायोग्य तरीके से नमन-वंदन या स्मरण करना मेरे लिए उचित आचरण है अर्थात् योग्य ही है, वैसा मानकर ही साधक चैत्यवंदन में

'जावंत के वि साहू' सूत्र बोलकर भावस्तव को करनेवाले साधु भगवंतों को वंदन करते हैं, 'पुक्खरवरदी' बोलने द्वारा चैत्यवंदनादि शुभ अनुष्ठान को बतानेवाले श्रुतज्ञान को वंदन करते हैं । 'सिद्धाणं बुद्धाणं' बोलकर चैत्यवंदन का अंतिम फल प्राप्त करनेवाले सिद्ध भगवंतों को नमस्कार करते हैं और अंत में यह सूत्र बोलकर शासन की सेवा, रक्षा और योग्यात्माओं को समाधि वगैरह में सहायक बननेवाले देवों का स्मरण करते हैं । **इस प्रकार कृतज्ञता के भाव से साधक इस सूत्र के द्वारा अपने औचित्य का पालन करते हैं ।**

# चैत्यवंदन की विधि

प्रभु के साथ तादात्म्य साधने का श्रेष्ठ साधन चैत्यवंदन है। यदि शास्त्र में बताई गई विधि के अनुसार चैत्यवंदन किया जाए, तो साधक सहजता से परमात्मा के साथ अनुसंधान कर आत्मा का परम आनंद प्राप्त कर सकता है।

चैत्यवंदन करने के पूर्व इतनी बातें ध्यान में रखनी चाहिए -

- चैत्यवंदन करने के लिए पुरुषों को प्रभु की दाईं ओर और स्त्रियों को प्रभु की बाईं ओर बैठना चाहिए ।
- चैत्यवंदन करते हुए प्रभु और चैत्यवंदन करनेवाले साधक के बीच कम से कम (संभव हो तो) नौ हाथ का और ज़्यादा से ज्यादा साठ हाथ का अंतर रखना चाहिए ।
- श्रावकों को अंग और अग्रपूजा पूर्ण करने के बाद और श्रमण भगवंतों को तीन प्रदक्षिणा वगैरह की क्रिया पूर्ण करने के बाद, चैत्यवंदन करने के पूर्व द्रव्य पूजादि के त्याग रूप तीसरी बार 'निसीहि' बोलना चाहिए।
- साधु भगवंतों को रजोहरण से और श्रावक-श्राविकाओं को खेस या साड़ी के पल्लू से किसी भी जीव की विराधना न हो, इसलिए चैत्यवंदन करने की भूमि की प्रमार्जना करनी चाहिए ।
- चैत्यवंदन करने के अधिकारी कौन हैं ? और मैं अधिकार संपन्न हूँ

या नहीं ? उसका विचार करके, चैत्यवंदन करने से पहले अधिकार प्राप्त करने के लिए यत्न करना चाहिए ।

- चैत्यवंदन में कौन-सी मुद्राएँ किस प्रकार और कब करनी चाहिए तथा तब कौन से भाव करने चाहिए, वह योग्य गुरु भगवंत के पास जान लेना चाहिए ।
- चैत्यवंदन की विधि, उसमें आनेवाले सूत्र और उसके भावार्थों को योग्य गुरु भगवंत से सीखकर, उनका अच्छा अभ्यास करना चाहिए।
- उसके बाद 'भूमिका' में बताए अनुसार चैत्यवंदन के योग्य चित्त तैयार करके संयोग के अनुसार जघन्य-मध्यम या उत्कृष्ट चैत्यवंदन करना चाहिए ।

**जघन्य चैत्यवंदन :**[1]

**१. प्रथम तीन खमासमण दें ।**

प्रभु में रहे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंत चारित्र रूप गुण स्व में प्रकट हों, वैसी भावना के साथ तीन खमासमण देने चाहिए । प्रभु के ज्ञानादि गुणों के प्रति बहुमानपूर्वक किए गए इस वंदन का प्रयत्न, ज्ञानादि गुणों में विघ्न-आपादक कर्मों के नाश का कारण बनता है ।

**२. उसके बाद खड़े होकर अरिहंत चेइयाइं०, अन्नत्थ० कहकर एक नवकार का काउस्सग्ग करें, काउसग्ग पारकर ('नमो अरिहंताणं' कहकर) 'नमोऽर्हत्'[2] बोलकर अधिकृत जिन की स्तुति-थोय कहें ।**

परमात्मा को तीन खमासमण देने के बाद पैर को जिनमुद्रा में[3] और

1 ऊपर जो जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट चैत्यवंदन की विधि बताई गई है, वह व्यवहार में प्रचलित विधि है और यहाँ जो विधि बताई गई है, वह चैत्यवंदन भाष्यादि ग्रंथ के आधार लिखी गई है। जघन्य चैत्यवंदन : 'नमो जिणाणं' इत्यादि एक पदरूप नमस्कार द्वारा अर्थात् मात्र अंजलिबद्ध प्रणाम द्वारा - १ श्लोक द्वारा अथवा १ से लेकर १०८ तक श्लोकों के द्वारा और १ नमोत्थु णं रूप नमस्कार द्वारा, ऐसे पाँच प्रकार से जघन्य चैत्यवंदना होती है ।

2 नमोऽर्हत सूत्र मात्र पुरुषों को बोलना है ।

3 जिनमुद्रा में दो पैर के अंगूठे के बीच में चार अंगुल के बराबर अंतर और पीछे उससे कुछ कम अंतर रखकर सीधे खड़ा रहना होता है ।

हाथ को योगमुद्रा में[4] स्थापित करके, जिन की वंदना के लिए चैत्यस्तव अर्थात् **अरिहंत चेइयाणं०** सूत्र बोलना है। इस सूत्र से अर्हत्-चैत्यों का आलंबन लेकर उनके वंदन से प्राप्त होने वाले उत्तम फल को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा और अनुप्रेक्षापूर्वक **एक नवकार का कायोत्सर्ग करना चाहिए ।**

नमस्कार महामंत्र का स्मरण करते-करते मन-वचन-काया की एकाग्रता-पूर्वक शुभध्यान में लीन होने के प्रयत्न रूप यह कायोत्सर्ग की क्रिया मुख्य चैत्यवंदन स्वरूप है। इसलिए यह कायोत्सर्ग की क्रिया ऐसे करनी चाहिए, जिससे वीतराग भाव के अत्यंत नज़दीक जा सकें। फिर कायोत्सर्ग की पूर्णाहुति स्वरूप 'नमो अरिहंताणं' पद का उच्चारण करना और उसके बाद जिस परमात्मा के सामने हों, उनकी स्तवना स्वरूप थुई या स्तुति बोलना चाहिए।

**३. अंत में एक खमासमण दें ।**

अंत में पुनः परमात्मा को वंदन करने रूप एक खमासमण की क्रिया करनी चाहिए।

**मध्यम चैत्यवंदन :**[5]

**१. प्रथम एक खमासमण देकर खड़े होकर इरियावहिया०[6], तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ० कहकर चंदेसु निम्मलयरा तक एक लोगस्स का (न आए, तो चार नवकार का) काउस्सग्ग करें, काउस्सग्ग पारकर ('नमो अरिहंताणं' कहकर) प्रगट लोगस्स सूत्र बोलें ।**

सबसे पहले खमासमण सूत्र द्वारा गुणसंपन्न आत्मा को वंदन करना चाहिए। उसके बाद खड़े होकर घर से मंदिर तक आते हुए या द्रव्यपूजा

4 योगमुद्रा में दो हाथ की दस अँगुलियों को आमने-सामने एक-दूसरे के अंतर में भराकर हथेली का आकार कमल के डोडा जैसा करके दो हाथ की कोहनियों को पेट के ऊपर रखना होता है।

5 **मध्यम चैत्यवंदन :** जिस चैत्यवंदन में अरिहंत चेइयाणं, अन्नत्थ, एक नवकार का काउस्सग्ग और पारकर एक स्तुति बोली जाए, वह एक दंडक और एक स्तुतिवाली मध्यम चैत्यवंदना कहलाती है। अन्य आचार्य दो अथवा तीन, नमोऽत्थु णं वाली मध्यम चैत्यवंदना कहते हैं ।

6 जघन्य या मध्यम चैत्यवंदना ईरियावही प्रतिक्रमण के बिना भी की जाती है, जब कि उत्कृष्ट चैत्यवंदन तो 'निसीहि' बोलकर ईरियावही प्रतिक्रमणपूर्वक ही शुरू की जाती है ।

करते हुए अजयणा से या अविधि से जीवों की जो हिंसा हुई हो, उसका प्रतिक्रमण करने के लिए पूछना चाहिए -

**'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! इरियावहियं पडिक्कमामि'**

हे भगवन् ! स्वेच्छा से आज्ञा दें । मैं ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करूँ ?

गुरु भगवंत की उपस्थिति हो तो गुरु भगवंत कहते हैं - **'पडिक्कमेह'** तुम प्रतिक्रमण करो ! गुरु की गैरहाज़री हो तो आज्ञा मिली है, वैसा मानकर शिष्य आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए कहता है - 'इच्छं' मैं आपकी आज्ञानुसार करना चाहता हूँ।

उसके बाद इरियावहिया सूत्र अर्थ के उपयोगपूर्वक बोलना चाहिए । अर्थ की विचारणापूर्वक यह सूत्र बोलने से अपने प्रमाद के कारण या अनजाने में जो-जो हिंसादि पाप हुए हों उनका स्मरण होता है। पाप का स्मरण होने पर पाप के प्रति पश्चात्ताप का भाव उत्पन्न होता है और उसके द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है। इस प्रकार शुद्ध हुई आत्मा चैत्यवंदन की क्रिया द्वारा सहजता से प्रभु के साथ तादात्म्य साध सकती है ।

इरियावहिया सूत्र बोलने के बाद भी अवशिष्ट पापों की विशेष शुद्धि के लिए 'तस्स उत्तरी' सूत्र बोलना चाहिए । उसके बाद पापकर्मों के नाश के लिए 'कायोत्सर्ग' में कितनी छूट रखनी चाहिए और कायोत्सर्ग किस प्रकार करना चाहिए वगैरह बतानेवाला 'अन्नत्थ' सूत्र बोलना चाहिए ।

उसके बाद (**चंदेसु निम्मलयरा** तक) एक लोगस्स का कायोत्सर्ग करना है। उसमें शुद्ध स्वरूप को प्राप्त चौबीस तीर्थंकर परमात्मा को स्मृति में लाकर अपनी आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। कायोत्सर्ग से आत्मशुद्धि होने पर उसके आनंद को व्यक्त करने के लिए प्रकट **लोगस्स** कहना चाहिए ।

**१. उसके बाद तीन खमासमण देकर, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् ! चैत्यवंदन करूँ ?' ऐसा आदेश माँगकर, 'इच्छं' कहकर आदेश को स्वीकार करें।**

जैनशासन की यह मर्यादा है कि, कोई भी कार्य करने से पहले गुणसंपन्न आत्मा की उस विषय में क्या इच्छा है, वह जान लें और जानकर उनकी

इच्छानुसार कार्य करें । इसलिए चैत्यवंदन जैसा महान अनुष्ठान करने के पूर्व भी इस प्रकार आदेश माँगकर, उसको स्वीकार करके चैत्यवंदन का प्रारंभ करना चाहिए।

**२. उसके बाद सकलकुशलवल्ली० कहकर अपनी इच्छानुसार किसी भी बोलकर एक भगवान का चैत्यवंदन करके, जं किंचि सूत्र कहें।**

विनयपूर्वक चैत्यवंदन करने का आदेश प्राप्त कर बाँयां घुटना नीचे स्थापित कर, दाहिना घुटना ज़मीन से कुछ ऊँचा रखकर, हाथ को योगमुद्रा में स्थापित करके भावोल्लासपूर्वक परमात्मा के उन-उन गुणों के स्मरण के लिए सकलकुशलवल्ली स्तोत्र तथा अपनी भाववृद्धि का कारण बनें, ऐसा कोई भी एक चैत्यवंदन बोलना है। चैत्यवंदन पूरा होने पर सभी तीर्थों और सभी बिंबों को वंदन करके अपनी आत्मा को मैं कृतार्थ करूँ, ऐसे भावपूर्वक तीर्थवंदन अर्थात् कि जं किंचि सूत्र बोलना चाहिए ।

**३. उसके बाद 'नमोऽत्थु णं' सूत्र बोलें।**

'जं किंचि सूत्र' द्वारा सभी तीर्थों की वंदना करने के बाद भाव अरिहंत के गुणों की स्तवना रूप **'नमोऽत्थु णं'** सूत्र बोलना चाहिए। अर्थ के उपयोगपूर्वक यह सूत्र बोलने से अरिहंत परमात्मा जगत् के जीवों पर किस तरह उपकार करते हैं, उनका लोकोत्तर स्वरूप कैसा है, उनका बाह्यवैभव, अंतरंग गुणसमृद्धि कैसी है, वगैरह की स्मृति होती है। उससे साधक आत्मा का चित्त अरिहंत परमात्मा के प्रति बहुमानवाला होता है, मन आनंदित होता है और उन-उन गुणों के प्रति आदर और बहुमान बढ़ता है।

यह सूत्र योगमुद्रा में रहकर बोलना है, पर उसके आदि और अंत में पाँच अंगपूर्वक नमस्कार की क्रिया करनी चाहिए। इस सूत्र की अंतिम गाथा में भूतकाल में हो चुके, वर्तमान में भी द्रव्यजिन के रूप में जो अरिहंत परमात्मा विचरते हैं, तथा भविष्य में होनेवाले अरिहंत भगवंतों को वंदना की जाती है।

**४. फिर जावंति चेईआइं सूत्र बोलें ।**

भाव अरिहंत को वंदना करने के बाद उनके प्रति अत्यंत भक्तिभाव बढ़ने से अरिहंत भगवंत की प्रतिमाओं को वंदन करने का मन होता है।

इसलिए मुक्ताशुक्ति मुद्रा[7] (प्रणिधान मुद्रा) में हाथ को स्थापित करके, मन को एकाग्र करके, यह सूत्र इस प्रकार बोलना चाहिए कि सभी स्थान में रहनेवाली प्रतिमाओं की स्मृति हो और यहाँ बैठे-बैठे उन प्रतिमाओं को भाव से वंदना करके कृतार्थता का अनुभव हों ।

**५. फिर एक खमासमण देकर, 'जावंत के वि साहू' सूत्र बोलें ।**

उसके बाद एक खमासमण देकर मुक्ताशुक्ति मुद्रा में हाथ को स्थापित करके 'जावंत-केवि साहू' सूत्र बोलना चाहिए । यह सूत्र भी इस प्रकार बोलना चाहिए कि श्रेष्ठ साधु भगवंतों और उनके द्वारा की जानेवाली प्रभु वचन के पालन स्वरूप श्रेष्ठ भक्ति स्मृति में आए और वैसी भक्ति करने को मन उल्लसित हो ।

**६. उसके बाद 'नमोऽर्हत्' सूत्र बोलकर उवसग्गहरं स्तोत्र या कोई भाववाही स्तवन मधुर स्वर से गाए ।**

सभी साधुओं को वंदन करके परमात्मा के गुणों को और उनके उपकार को स्मृति में लाकर तथा अपने दोषों का उद्भावन करने के लिए स्वरचित अथवा पूर्व पुरुषों की रचनारूप प्रचलित भाषा में बनाया गया स्तवन गाएँ।

स्तवन अर्थात् गेय कृति - यह कृति अपनी-अपनी भावना के अनुसार बनाकर गाई जा सकती है। अपनी वह शक्ति न हो तो, पूर्व पुरुष की अपनी भावना को व्यक्त करती हुई कृतियों में से जो कृति अपने भावोल्लास में वृद्धि करनेवाली हो, उसे एकाग्र मन से, गंभीर स्वर से, मधुर कंठ से गाना चाहिए । इस तरह स्तवन गाने से यह क्रिया अत्यंत भावोल्लास का कारण बनती है। क्योंकि स्तवन गुजराती आदि प्रचलित भाषा में होते हैं, उनके भाव समझना आसान होता है और स्तवन की पंक्तियों को बार बार दोहराया भी जा सकता है, इसलिए सामान्य जन के लिए ये स्तवन बहुत उपकारक बनते हैं।

**७. फिर जयवीयराय सूत्र बोले।**

स्तवन गाने तक की क्रिया करते हुए साधक का मन परमात्मा के साथ

7 मुक्ताशक्ति मुद्रा में दो हाथ की अंगुलियों को परस्पर सामने जोड़कर दो हथेलियों के बीच ज़गह रखकर ललाट पर लगाना चाहिए या अन्य मत से ललाट से कुछ दूर रखना होता है।

एक हो जाता है । अब उसे परमात्मा अपने बहुत नज़दीक हो, अपने बहुत प्रिय स्वजन हो, अपने कार्य के साधक हो वैसा लगता है। इसलिए साधक इसके बाद प्रभु को पाने के लिए प्रभु से तेरह माँग स्वरूप जयवीयराय सूत्र बोलता है। प्रभु को प्रार्थना करने का यह सूत्र, अत्यंत संवेगभाव युक्त हृदय से, मन के प्रणिधानपूर्वक, हाथ को मुक्ताशुक्ति मुद्रा में स्थापित कर, हम प्रभु से कुछ मांग रहे हों और उनके अनुग्रह से हम कुछ प्राप्त कर रहे हों वैसे भावपूर्वक बोलना चाहिए ।

**८. उसके बाद खड़े होकर अरिहंत चेईयाणं - अन्नत्थ कहकर एक नवकार का काउस्सग्ग करें। काउस्सग्ग करके (नमो अरिहंताणं कहकर), नमोऽर्हत् बोलकर, अधिकृत जिन की स्तुति/थोय कहें।**

इस बात की समझ जघन्य चैत्यवंदन की विधि में से प्राप्त कर लें।

**९. अंत में एक खमासमण दें।**

कार्य की पूर्णाहुति होने पर पुनः वंदना करने के लिए पंचांग प्रणिपात मुद्रापूर्वक यह सूत्र बोलकर एक खमासमण देना चाहिए ।

**उत्कृष्ट चैत्यवंदन[8] :**

१. प्रथम एक खमासमण देकर खड़े होकर 'ईरियावहिया०', तस्स उत्तरी०, अन्नत्थ० कहकर (चंदेसु निम्मलयरा) तक का एक लोगस्स का (न आए तो चार नवकार का काउस्सग्ग करें। काउस्सग्ग पारकर ('नमो अरिहंताण' कहकर) प्रकट लोगस्स कहें।

२. उसके बाद तीन खमासमण देकर, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् । चैत्यवंदन करूँ' इस प्रकार आदेश माँगकर, 'इच्छं कहकर आदेश का स्वीकार करें।'

३. उसके बाद सकलकुशलवल्ली० कहकर कोई भी एक चैत्यवंदन बोलकर, 'जं किंचि' सूत्र कहें।

---

8 **उत्कृष्ट चैत्यवंदन :** नमोऽत्थु णं० अरिहंत चेईयाणं०, लोगस्स०, पुक्खरवरदी० और सिद्धाणं० ये पाँच दंडकसूत्र अथवा पाँच नमोऽत्थु णं और स्तुति के दो युगल अर्थात् की ८ थोयों द्वारा स्तवन, जावंति चे०, जावंत के वि० और जयवीयराय इन तीन प्रणिधान सूत्र द्वारा उत्कृष्ट चैत्यवंदना होती है।

४. उसके बाद नमोऽत्थु णं सूत्र कहें ।

उपरोक्त सभी सूत्र कैसे भावपूर्वक बोलने चाहिए, वह मध्यम चैत्यवंदन से समझ लें।

५. इसके बाद जयवीयराय सूत्र (आभवमखंडा तक) बोलें।

६. इस प्रकार एक बार चैत्यवंदन पूर्ण हुआ। फिर पुनः खमासमण देकर, चैत्यवंदन का आदेश माँगकर, आदेश स्वीकारकर चैत्यवंदन, जं किंचि; नमोऽत्थु णं० सूत्र बोलें।

इतनी क्रिया किस भाव से किस प्रकार करनी चाहिए, उसकी समझ भी मध्यम चैत्यवंदना में से समझ लें।

उत्कृष्ट चैत्यवंदन की यह क्रिया १२ अधिकार में (विभाग में) बाँटी गई है। उसमें नमोऽत्थु णं सूत्र भाव-अरिहंत की स्तवनारूप है। उससे भावजिन की स्तवना का **प्रथम** अधिकार यहाँ प्राप्त होता है।

**'नमोऽत्थु णं'** सूत्र की अंतिम गाथा 'जे अ अईआ...' में तीनों काल के द्रव्य अरिहंतों को स्मृति में लाकर वंदना की जाती है, उससे द्रव्यजिन की वंदना का **दूसरा** अधिकार यहाँ प्राप्त होता है।

**७. फिर खड़े होकर अरिहंत चेईयाणं०, कहकर एक नवकार का काउस्सग्ग करके, काउस्सग्ग पारकर (नमो अरिहंताण कहकर) नमोऽर्हत् कहकर प्रथम थुई कहें ।**

'अरिहंत चेइयाणं' सूत्र अरिहंत भगवंत के चैत्यों के वंदन-पूजन आदि के फल को पाने के लिए किए जानेवाले कायोत्सर्ग की प्रतिज्ञा करने के लिए बोला जाता है। इससे स्थापना जिन की वंदना का **तीसरा** अधिकार प्राप्त होता है ।

**८. उसके बाद लोगस्स०, सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं, कहकर एक नवकार का काउस्सग्ग करके, काउस्सग्ग पारकर (नमो अरिहंताणं कहकर) दूसरी थुई कहें ।**

मध्यम चैत्यवंदन की तरह इतनी क्रिया करके भावजिन, द्रव्यजिन और स्थापनाजिन को वंदन करने के बाद विशिष्ट चैत्यवंदन करने की भावना से

'लोगस्स सूत्र' द्वारा नामजिन की स्तवना का **चौथा** अधिकार प्राप्त होता है। यह सूत्र अर्थ के उपयोगपूर्वक इस प्रकार बोलना चाहिए कि, इस अवसर्पिणी में भरतक्षेत्र में हुए २४ तीर्थंकर परमात्मा अपनी नज़र के समक्ष आएँ और उनके सामने नतमस्तक खड़े हम उनको प्रार्थना करें कि - "प्रभु ! आप मुझ पर प्रसन्न हों और मुझे भाव-आरोग्य, बोधि, श्रेष्ठ समाधि और सिद्धि प्राप्त करवाएँ ।"

उसके बाद तीन लोक में रहनेवाले सभी स्थापना जिन की वंदनादि के लिए 'सव्वलोए अरिहंत चेइयाणं' सूत्र बोला जाता है और उसके बाद अन्नत्थ बोलकर कायोत्सर्ग करके सभी जिन की स्तवना रूप स्तुति बोली जाती है । उससे तीनों भुवन में स्थापनाजिन की वंदना का पाँचवां अधिकार यहाँ प्राप्त होता है ।

**९. उसके बाद पुक्खरवरदी० सूत्र बोलकर, सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं० कहकर, वंदणवत्तिआए०, अन्नत्थ कहकर, एक नवकार का काउस्सग्ग करे, काउस्सग्ग पारकर (नमो अरिहंताणं कहकर) तीसरी थुई कहें।**

परमात्मा के प्रति तीव्र भक्तिभाव प्रकट होने के कारण साधक को परमात्मा के वचन के प्रति भी अत्यंत आदर प्रकट होता है। उससे चारों निक्षेपों में रहे हुए तीर्थंकर भगवंत की वंदना करने के बाद उनके वचन रूप श्रुतज्ञान के प्रति भक्ति उल्लसित होती है। इसलिए वह श्रुतज्ञान की स्तवना रूप **पुक्खरवरदी सूत्र** बोलता है। इस सूत्र की पहली गाथा बोलते हुए इस काल में धर्म का प्रारंभ करनेवाले वर्तमान में विचरनेवाले विहरमान भगवंतों को ध्यान में लाकर उनकी वंदना करनी चाहिए। यहाँ विहरमान जिन की वंदना का **छट्ठा** अधिकार प्राप्त होता है।

उसके बाद **'तम तिमिर...'** वगैरह एक-एक पद के अर्थ को उपयोगपूर्वक बोलने से श्रुतज्ञान की उपादेयता, उपकारिता, महानता और शक्ति संपन्नता नज़र के समक्ष तैरने लगती है। अतः श्रुतभगवान की विशेष भक्ति के लिए एक नवकार का कायोत्सर्ग करके श्रुतज्ञान के स्तवनार्थ श्रुतज्ञान की महानता को सूचित करनेवाली थुई बोली जाती है। इस तरह यहाँ श्रुतज्ञान की आराधना का **सातवाँ** अधिकार प्राप्त होता है ।

**१०. उसके बाद सिद्धाणं बुद्धाणं वेयावच्चगराणं - अन्नत्थ कहकर, एक नवकार का काउस्सग्ग करें। काउस्सग्ग पारकर (नमो अरिहंताणं कहकर) नमोऽर्हत् बोलकर चौथी थुई कहें ।**

श्रुतज्ञान का या सर्वधर्म का अंतिम फल सिद्धावस्था है। सिद्धावस्था ही साधक का अंतिम लक्ष्य है, वही उसका स्वरूप है। वही परम आनंद का धाम है। इसलिए श्रुतज्ञान की स्तवना करने के बाद सिद्धों की स्तवना करने के लिए **सिद्धाणं बुद्धाणं** सूत्र बोला जाता है। इस सूत्र की प्रथम गाथा को उपयोगपूर्वक बोलने से सिद्ध भगवंतों के प्रति आदर बढ़ता है। यहाँ सभी सिद्ध भगवंतों की वंदना का **आठवाँ** अधिकार संपन्न होता है।

उसके बाद दूसरी-तीसरी गाथा बोलते हुए जिनको भावपूर्वक किया हुआ एक भी नमस्कार संसार सागर से तारने में समर्थ है, उन नज़दीक के उपकारी परमात्मा महावीर प्रभु को वंदन किया जाता है। यहाँ वीर प्रभु को वंदना का **नौवाँ** अधिकार प्राप्त होता है।

उसके बाद चौथी और पाँचवीं गाथा से नेमिनाथ भगवान एवं तीर्थो को वंदन करके, अंत में मस्तक झुकाकर सभी सिद्ध भगवंतों को स्मृति में लाकर उनसे सिद्धि की माँग की जाती है। इन गाथाओं द्वारा गिरनार तीर्थ की और अष्टापद तीर्थ की वंदना रूप **दसवाँ** और **ग्यारहवाँ** अधिकार प्राप्त होता है।

उसके बाद धर्म का भूषण औचित्य है, इसके लिए अरिहंतादि की स्तवना के बाद औचित्य रूप में उनके शासन की और संघ की सेवा तथा प्रभावना करनेवाले देवों के स्मरण के लिए 'वेयावच्चगराणं' सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग किया जाता है क्योंकि उनका स्मरण करने से, विशिष्ट शक्ति संपन्न वे देव शासन के ऊपर आए हुए विघ्नों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील बनते हैं। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि देवों के स्मरणादि रूप **बारहवाँ**[9] अधिकार यहाँ पूर्ण होता है।

---

9 देववंदन के १२ अधिकार इस प्रकार है :

| **अधिकार** | **किसे वंदन - स्मरण** | **प्रथमादि पद** |
|---|---|---|
| पहला | भावजिन | नमोऽत्थु णं... जिअभयाणं तक |

**११. फिर नमोऽत्थु णं कहें ।**

**१२. उसके बाद पुनः अरिहंत चेईयाणं आदि (नं. ७ से १० के अनुसार) कहकर चार थुई कहें ।**

**१३. फिर नमोऽत्थु णं कहकर, जावंति० बोलकर एक खमासमण देकर जावंत के वि साहू० बोलकर स्तवन कहें और फिर जयवीयराय सूत्र (आभवमखंडा तक) बोलें ।**

इस प्रकार बारह अधिकार द्वारा चैत्यवंदना करने से अति प्रसन्न हुआ साधक पुनः योगमुद्रा में काया को स्थापन करके 'नमोऽत्थु णं' सूत्र बोलता है और हाथ को मुक्ताशक्ति मुद्रा में रखकर 'जावंति चेईयाइं' बोलकर एक खमासमण देकर 'जावंत के वि साहू' बोलकर स्तवन बोलता है, फिर प्रभु को प्रार्थना करके 'जयवीयराय सूत्र' बोलता है ।

इतनी क्रिया कैसे भाव से करनी चाहिए, वह मध्यम चैत्यवंदन में से जान लें।

**१४. उसके बाद खमासमण देकर, चैत्यवंदन का आदेश माँगकर, उसका स्वीकार करके चैत्यवंदन करके, जं किंचि, नमोऽत्थु णं कहकर संपूर्ण जयवीयराय सूत्र कहें।**

**१५. उसके बाद प्रभु को वंदना स्वरूप एक खमासमण देकर अंत में विधि करते जो अविधि हुई हो, उसका मिच्छा मि दुक्कडं' दे।**

| | | |
|---|---|---|
| दूसरा | द्रव्यजिन | जे अ अईया...तिविहेण वंदामि तक |
| तीसरा | एक चैत्य/स्थापनाजिन | अरिहंत चईयाणं+काउस्सग्ग+थुई |
| चौथा | नामजिन | लोगस्स |
| पाँचवा | तीनों भुवन के स्थापना जिन | सव्वलोए अरिहंत-काउस्सग्ग-थोय |
| छट्ठा | विहरमान जिन | पुक्खरवरदीवड्ढे...नमंसामि तक |
| सातवाँ | श्रुतज्ञान | तमतिमिर-काउस्सग्ग-थोय |
| आठवाँ | सर्व सिद्ध भगवंत | सिद्धाणं बुद्धाणं...सव्वसिद्धाणं तक |
| नौवाँ | तीर्थाधिपति श्रीवीर | जो देवाण विदेवो...नरं व नारिं वा तक |
| दसवा | उज्जयंत (गिरनार) | उज्जिंतसेल...नमंसामि तक |
| ग्यारहवाँ | अष्टापद तीर्थ | चत्तारि...दिसंतु तक |
| बारहवाँ | सम्यग्दृष्टि देव | वेयवचचराणँ-काउस्सग्ग-थोय |

# सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३९२७८९
E-mail : sanmargprakashan@gmail.com


- सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा प्रकाशित होते संस्कृत-प्राकृत-अन्य भाषा के सभी ग्रंथ भारत वर्षीय जैन ज्ञान भंडारों को एवं इच्छुक पू. साधु-साध्वीजी भगवंतो को भेंट/अर्पण किए जाते हैं। (उपलब्धता-अनुसार)
- सन्मार्ग प्रकाशन के गुजराती भाषा के प्रकाशन घर बैठा जीवनपर्यंत प्राप्त करने के लिए **आजीवन शुल्क रू. ५०००** (पांच हजार सिर्फ) रखा है।
- सन्मार्ग प्रकाशन के हिंदी भाषा के प्रकाशन घर बैठा जीवनपर्यंत प्राप्त करने के लिए **आजीवन शुल्क रू. २०००** (दो हजार सिर्फ) रखा है । (निकट भविष्य में यह शुल्क बढने की संभावना है।)
- सन्मार्ग प्रकाशन की पुस्तकें जैन धर्म की अधिकृत जानकारी परोसते हैं। हर किताब एक संदर्भग्रंथ का कार्य करती है। उदीयमान प्रवचनकार पू, साधु-साध्वीजी भगवंत भी सन्मार्ग को किताबों को ध्यान से पढकर अपना व्याख्यान सजाते हैं।

आपके स्वयं एवं परिवारजनों के जीवन को आध्यात्मिक आलोक से भरपूर करने आज ही आजीवन-सदस्यता अंकित करें।

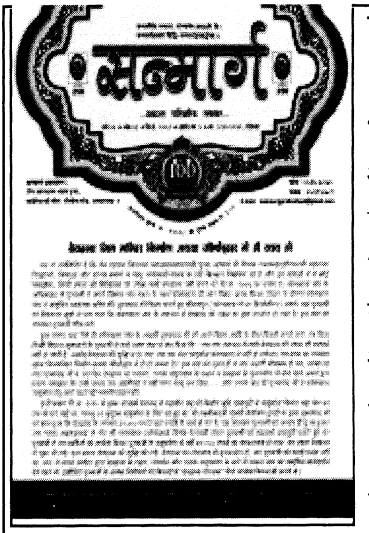


**पुण्यात्माओ !**

सिर्फ एक हजार रुपया एक ही बार भर कर आप जीवनभर के लिए आपके और आपके परिवार के आत्मा का बीमा करवा सकते हैं । यह बीमा कंपनी है - 'सन्मार्ग' पाक्षिक । हाँ ! हर पन्द्रह दिन में एक बार वह आपके घर आ कर आपको मिलता है और आपके आत्महित की चिन्ता करता है ।

पिछले ग्यारह साल जितने कम समय में जैन जगत में उत्कृष्ट ख्याति-प्रतिष्ठा प्राप्त किए **'सन्मार्ग'** पाक्षिक के बारे में कुछ भी कहना उचित नहीं लगता ।

यह सन्मार्ग में जगप्रतिष्ठित व्याख्यानवाचस्पति पू. आ. श्री विजय **रामचन्द्रसूरीश्वरजी** महाराजा के, हर एक आत्मा को जागृत करनेवाले प्रवचन तो आते ही है और अधिकांश में हम अभी जिनके प्रवचनों को सुनने में एकाग्र बन जाते हैं, प्रभुवाणी में ओतप्रोत हो जाते हैं, जिन्हें सुनने का बारबार मन होता है, वो प्रवचनप्रभावक पू. आ. श्री विजय **कीर्तियशसूरीश्वरजी** महाराज के जिनाज्ञानिष्ठ प्रवचनों का हूबहू अवतरण उसमें नियमित रूप से प्रकाशित होता है ।

इसके अलावा - शंका-समाधान, प्र नोत्तरी, शासन-समाचार, आगम के अर्क देते लोक और सांप्रतकालीन प्रवाहों के बारे में शास्त्रीय मार्गदर्शन परोसा जाता है । सन्मार्ग के विशिष्ट रंगीन विशेषांकों ने अपनी खुद की उत्कृष्ट पहचान स्थापित की है ।

**हर पन्द्रह दिन A/4 साइझ के १६ पन्ने, हर साल करीब ३०० पेज का वाचन, विशिष्ट विशेषांक, सुपर व्हाईट पेपर पर आकर्षक प्रिन्टींग में घर बैठे यह मिलता है । फिर भी आजीवन सदस्यता सिर्फ रु. १०००/-**

**सन्मार्ग जीवनभर घर आकर आपका आत्मकल्याण करेगा ।**

**आज ही अपना सभ्यपद प्राप्त करें ।**

औषधि के ज्ञानमात्र से रोग का नाश नहीं होता । किन्तु औषधि का सेवन भी आवश्यक होता है । वैसे ही ज्ञानमात्र से परिणति नहीं बदलती किन्तु गणधर भगवंतोने बनाए हुए सूत्र के माध्यम से ज्ञानानुसार होनेवाली क्रिया ही मोक्ष के अनुकुल परिणति बनाएँ रखने का सचोट उपाय बन जाता है । वे सूत्र शब्दो में होते है और शब्द अक्षरो के बने होते है । अक्षरो में अनंत शक्ति समाई हुई है पर हमें उसे जगाना पड़ता है । और उसे जगाने के लिए हमें सूत्र में प्राणों का सिंचन करना पड़ता है । यह प्राण फूंकने की क्रिया याने सूत्र का संवेदन करना पड़ता है तब सूत्र सजीवन बन जाता है । फिर उसमें से अनर्गल शक्ति निकलती है जो हमारे में मौजुद अनंत कर्मो का क्षय करने के लिए एक यहा के समान बनी रहती है ।

अनंत गम पर्याय से युक्त इन सूत्रों के अर्थ का संकलन करना याने एक फुलदानी में फुलों को सजा के बगीचे का परिचय देने जैसी बात है । इसलिए ही सूत्र के सारे अर्थों को समझाने का भगीरथ कार्य तो पूर्व के महाबुद्धिमान अनुभवी महाशय ही कर सकते है । तो भी स्वपरिणिति का निर्मल बनाने के आशय से शुरु किऐ इस लिखान में आज के सामान्य बौद्ध जीव क्रिया करते करते याद कर सके उतना अर्थ संकलित है ।

सूत्रार्थ विषयक लिखे हुए इस पुस्तक को काहनी के किताब की तरह नहीं पढ़ना है, या उसे पढ़ाई का माध्यम भी नहीं बनाना है परंतु परिणति का पलटने के प्रयास के कठिन मार्ग का एक दीया है ।

Sanmarg · 079-25352072